श्रीधर्मसंघ-शिक्षामण्डल-ग्रन्थमाला का सप्तम पुष्प

ह का स्वरूप और प्रामाण्य

(द्वितीय भाग)

श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

Scanned by CamScanner

श्रीधर्मसंघ-शिक्षामण्डल-ग्रन्थमाला का सप्तम पुष्प

ह का स्वरूप और प्रामाण्य

(द्वितीय भाग)

श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

श्री धर्मसंघ शिक्षा-मण्डल,
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

Scanned by CamScanner

प्रकाशक—
श्रीधर्मसंघ-शिक्षामंडल
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

प्रथम संस्करण ३ हजार
गंगा-दशहरा, २०१६ वि०
मूल्य 50.00 ये

Scanned by CamScanner

कृतज्ञता-प्रदर्शन

इस पुस्तक का समस्त प्रकाशन-व्यय यशपुर-नरेश श्रीमान् राजा विजयभूषण-सिंह देव (जशपुरनगर, मध्यप्रदेश) ने देने की कृपा की है। वे बड़े उत्साही एवं धार्मिक हैं। उनकी इस उदारता के लिए हम कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

—प्रकाशक।

Scanned by CamScanner

Scanned by CamScanner

सम्पादकीय निवेदन

मंगलमय श्रीहरि की असीम अनुकम्पा से 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' ग्रन्थ के प्रथम भाग के प्रकाशन के बाद दो मास के भीतर ही उसका यह द्वितीय भाग आज पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है। पूज्य श्रीस्वामिचरणों ने इस ग्रन्थ में वेद-सम्बन्धी आजतक की तथा भविष्य की भी सभी शंकाओं का समस्त भारतीय संस्कृत वाङ्मय, युक्तियों एवं अपनी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र प्रतिभा से सुन्दर समाधान कर दिया है। प्रथम भाग में वेदों की अपौरुषेयता, उनका स्वतःप्रामाण्य, समस्त वेद का प्रामाण्य, विध्यर्थ भावना-विचार और अर्थवादों का प्रामाण्य इन पाँच प्रकरणों में इस संबंध के अब-तक के सभी पूर्वपक्षों का समाधान करते हुए मीमांसा-पद्धति के अनुसार निष्कृष्ट सिद्धान्त बड़े विस्तार के साथ प्रस्तुत किये हैं। द्वितीय भाग में मन्त्र-प्रामाण्य-विचार, वेदशाखाओं का शास्त्रीय विवेक, ब्राह्मणभाग का वेदत्व-विचार और ब्राह्मणभाग के वेदत्व पर विशिष्ट विचार, इन चार प्रकरणों में शेष विषयों पर प्रकाश डाला है। 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस सिद्धान्त पक्ष के समर्थन में सभी शास्त्रीय दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करते हुए आर्यसमाज के संस्थापक श्रीस्वामी दयानन्दजी के मन्त्रमात्र के वेदत्वसंबंधी दृष्टिकोण की बड़ी ही शिष्ट, संयत और सर्वतन्त्र-समन्वयात्मक परीक्षा की है। इस तरह तीन ही प्रकरणों में यह विषय पूरा हो जाता है।

Scanned by CamScanner

'ब्राह्मणों के वेदत्व पर विशिष्ट विचार' नामक चतुर्थ प्रकरण केवल इसी दृष्टि से इसमें जोड़ा गया है कि श्रीस्वामी दयानन्दजी के बाद से अबतक उनके अनुयायियों द्वारा ब्राह्मणों के वेदत्व पर जितने आक्षेप उठाये गये हैं, उनका भी प्रतिपदोक्त समाधान हो जाय। अतएव इस प्रकरण में अबतक के प्रकरणों में प्रसंगानुसार किये गये कितने ही समाधानों को दुहराना भी पड़ गया है, जो आक्षेप के पूर्ण समाधानार्थ अनिवार्य था। इन आक्षेताओं में अधिकतर लोगों के आक्षेप कितने सारहीन, वैदिक-पद्धति के ज्ञान की कौन कहे, साधारण पदपदार्थ की प्रक्रिया के ज्ञान से भी शून्य, परस्पर विरुद्ध एवं अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारनेवाले हैं, इसे पूज्यचरणों ने स्पष्ट खोलकर रख दिया है। उनके ये शब्द बड़े ही मार्मिक हैं: 'जो कुछ भी हो, यह सब तो समाजी विद्वत्तापूर्वक कैसा विचार कर सकते हैं, इसका एक नमूना है। पर हमें तो जिस किसी प्रकार उन लोगों की भ्रान्ति दूर करनामात्र अभीष्ट है। इसलिए जिस किसी तरह उनके शब्दों से उनका अभिप्राय समझकर उत्तर दे रहे हैं।' श्रीचरणों ने कई स्थलों पर सप्रमाण यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आर्यसमाज के संस्थापक और अनुयायियों के ऐसे सदोष विचार पाश्चात्यों की वेदसंबंधी भ्रान्त धारणाओं से कितने अधिक प्रभावित हैं और किस तरह श्रुति-स्मृत्युक्त धर्म-कर्म से कन्नी काटने-वालों को मनाने के लिए वे उनके द्वारा आदृत किये गये हैं। इतना सब होते हुए विचार-विमर्श की प्रौढता, प्रांजलता, शिष्टता और सुरुचि-पूर्णता का इस निबंध में बना रहना महाराजश्री के असाधारण व्यक्तित्व का ही प्रभाव है।

वेदार्थ-विचार के जिज्ञासु आस्तिक विद्वज्जनों के लिए तो यह ग्रन्थ

Scanned by CamScanner

कल्पतरु ही सिद्ध होगा। इसमें उन्हें वेद, वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, षड्दर्शन, व्याकरणादि शास्त्र सभीके निष्कृष्ट निर्णयों का एक साथ संकलन मिल जायगा। पूर्वोत्तर-मीमांसा और स्वर-वैदिकी प्रक्रिया का तो मानो यह अभिनव-भाष्य ही है।

वेद के इन्हीं सब विषयों पर विचारार्थ गतवर्ष कानपुर में और इस वर्ष वाराणसी में अखिल भारतीय सर्ववेद-शाखा-सम्मेलन के दो अधिवेशन हुए हैं। प्रथम अधिवेशन का कार्य-विवरण प्रकाशित हो चुका है और दूसरे का प्रकाशित होने जा रहा है। इन विवरणों में भी इन विषयों पर प्रकाश डाला गया है, जो विशेष द्रष्टव्य है।

ऐसे सर्वशास्त्रसमन्वयात्मक विशिष्ट ग्रन्थ के संपादन का भार हम जैसे सीमित-मतियों पर पड़ा, इसे व्यक्तिशः अपना सौभाग्य मानते हुए भी हमें इस कार्य के लिए अपनी अक्षमता स्पष्ट स्वीकार करनी होगी। अतएव अपनी शक्तिभर पूर्ण अवधान रखने पर भी कुछ अशुद्धियाँ या त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक ही है। मुद्राराक्षसों की कृपा से भी कुछ अशुद्धियाँ संभव हैं। फिर भी हम लोग इस कार्य में एकमात्र भगवत्कृपा और सनातनधर्म की सेवा-भावना से ही प्रवृत्त हैं, यह समझते हुए विज्ञ पाठक उन्हें सुधार लेने की कृपा करेंगे।

वाराणसी,
गंगादशहरा, २०१६ वि०

—हरिहरनाथ त्रिपाठी।
—गोविन्द नरहरि वैजापुरकर।

Scanned by CamScanner

अनुक्रम

१. मन्त्र-प्रामाण्य-विचार १

२. वेदशाखाओं का शास्त्रीय विवेक ५५

३. ब्राह्मण-भाग का वेदत्व-विचार ६९

४. ब्राह्मणों के वेदत्व पर विशिष्ट विचार ३३०

५. परिशिष्ट

थीबो साहब का शास्त्रार्थ-निर्णय ४३१

Scanned by CamScanner

वेद का स्वरूप और प्रामाण्य

[द्वितीय भाग]

मन्त्र-प्रामाण्य-विचार : १ :

इसी तरह मंत्रों के सम्बन्ध में भी विचार चलता है कि 'मन्त्रों की उच्चारणमात्र से ही क्रियार्थता है अथवा समवेत अर्थों के स्मारक होने से मंत्रों का प्रामाण्य है ? जैसे अर्थवादों का अपने मुख्यार्थ में तात्पर्य नहीं है, वैसे ही क्या मन्त्रों का भी अपने मुख्यार्थ में तात्पर्य नहीं है या है ?' इसपर पूर्वपक्ष यह है कि "ऊरू प्रथस्व" आदि क्रियार्थ मन्त्र अपने वाच्यार्थ में तात्पर्य नहीं रखते, क्योंकि वे क्रियार्थ होकर अविधायक हैं ; जैसे अर्थवाद । मन्त्रोपनिषद् का क्रियार्थक न होने पर भी स्वार्थ में तात्पर्य है ही ।"

कहा जा सकता है कि 'मन्त्रों का अविधायकत्व (द्रव्य-देवता-स्मारकत्व) असिद्ध है । मन्त्रों के विधायक होने में कोई बाधक नहीं है । जैसे ब्राह्मणों में "समिधो यजति" इत्यादि वाक्यों से विधिप्रत्यय उपलब्ध होते हैं, वैसे ही "देवांश्च याभिर्यजते", "ददाति च" इत्यादि मन्त्रों में भी विधिप्रत्यय उपलब्ध होते ही हैं । जैसे "समिधो यजति" इत्यादि स्थलों में 'यजति' क्रियापद का 'याग करे' ऐसा अर्थ होता है, वैसे ही 'यजते' का भी

Scanned by CamScanner

'याग करे' ऐसा अर्थ हो ही सकता है। छान्दस व्यत्यय से लिङादि भिन्न लकारों में भी विधायकता हो सकती है।' किन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि पहले तो मन्त्र होना ही विधायक होने में बाधक है। जैसे जपार्थ मन्त्र और विषघ्न मन्त्र विधायक नहीं होते, वैसे ही सभी मन्त्र विधायक नहीं होते। कहा जा सकता है कि 'कोई भी मन्त्र विधायक नहीं होते, ऐसा कोई वेदवाक्य नहीं है। कोई लोकप्रसिद्धि भी ऐसी नहीं है। यदि ऐसा होता, तो विचार ही न उठता।' किन्तु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि "स्वर्गकामो यजेत" आदि विधायक वाक्य ब्राह्मण-भाग के ही हैं। इससे सिद्ध है कि मन्त्रभाग विधायक नहीं होते।

फिर भी कहा जाता है 'ब्राह्मण-भाग में भी बहुत से ऐसे वाक्य हैं, जो विधायक नहीं हैं। जैसे "यस्योभयं हविरार्ति-माच्छेत्" (जिस पुरुष के दोनों हवि भ्रष्ट हो जायँ)। इस तरह जब विधायक, अविधायक दोनों ही प्रकार के वाक्य ब्राह्मण-भाग के मिलते हैं, तो ब्राह्मण-भाग में पाठ न होनेमात्र से मंत्र अविधायक नहीं कहे जा सकते। साथ ही "वसन्ताय कपिञ्जला-नालभते" आदि मंत्रवाक्यों में भी विधायकता है ही। तब इसी दृष्टान्त से अन्य मंत्र भी विधायक क्यों नहीं हो सकते? तथाच मंत्र होना या ब्राह्मण होना विधायक होने में कारण नहीं कहा जा सकता।' किन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि मंत्र तो विधि-वाक्यों से प्राप्त अर्थ का ही अनुवाद करते हैं। जैसे ब्राह्मण-भाग के "ऊरू प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" ('ऊरू प्रथस्व' इस मंत्र से पुरोडाश फैलाये) इस वाक्य से प्राप्त पुरोडाश-प्रथन का ही

Scanned by CamScanner

"ऊरू प्रथस्व" यह मन्त्र अनुवाद करता है। "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" जैसे बहुत ही कम मन्त्र हैं, जिनका अर्थ ब्राह्मण-भाग से प्राप्त नहीं है। इसीलिए मीमांसादर्शन ने इन कतिपय मन्त्रों को विधायक माना है। अतः अनुवादक होने से ही मन्त्र विधायक नहीं होते।

कहा जा सकता है कि 'जब पुरोडाश-प्रथन का बोधन मंत्र और ब्राह्मण दोनों ही करते हैं, तो ऐसा क्यों माना जाय कि ब्राह्मण विधायक हैं और मन्त्र अनुवादक? इसके विपरीत यही क्यों न माना जाय कि मन्त्र विधायक एवं ब्राह्मण अनुवादक हैं? तीसरा कोई विधायक न होने से यह भी नहीं कहा जा सकता कि दोनों ही अनुवादक हैं। यदि दोनों स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् विधायक हों, तो भी मन्त्र अनुवादक नहीं सिद्ध होते। इसके अतिरिक्त मन्त्र में 'प्रथस्व' पाठ है, तो ब्राह्मण में 'प्रथयति'। एक शब्द के बार-बार उच्चरित होने पर उस शब्द के अर्थरूप क्रिया में भेद होता है, यह बात "एकस्यैव पुनः श्रुतिरर्थविशेषादनर्थकं हि स्यात्" (जै. सू. १२।२।२) इस सूत्र से स्पष्ट है। महर्षि जैमिनि ने कहा है कि "समिधो यजति" (समिध नामक याग करे) "तनूनपातं यजति" इत्यादि स्थलों में यज्-धातु के एक होने से यह नहीं समझना चाहिए कि दोनों एक ही याग हैं। क्योंकि जैसे 'जुहोति' (होम करे), 'ददाति' (दान करे) आदि शब्दों के भेद से कर्मों का भेद होता है, वैसे ही एक ही धातु के अनेक बार उच्चरित होने पर कर्मभेद होता है। अन्यथा एक याग के लिए एक ही बार 'यजि' का उच्चारण पर्याप्त था, फिर दुबारा उसका उच्चारण व्यर्थ ही है।'

Scanned by CamScanner

कई लोग इसका यह समाधान करते हैं कि मन्त्रों का विधायक न होना निम्नलिखित अनुमान से ही सिद्ध होता है— 'मन्त्र विधायक नहीं है, क्योंकि यज्ञादि कर्मों में करणरूप से ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा वे नियुक्त किये जाते हैं। जो भी ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा करणरूप से कर्मों में नियुक्त होते हैं, वे विधायक नहीं होते। जैसे "व्रीहिभिर्यजेत" इत्यादि वाक्यों से विहित व्रीहि आदि विधायक नहीं होते, वैसे ही "ऊरू प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों द्वारा मंत्र भी यज्ञादि में विनियुक्त होते हैं। अतः वे भी विधायक नहीं होते। यद्यपि ब्रह्मयज्ञ (नित्य वेदाध्ययन) के फल में मंत्र के समान ब्राह्मणभाग भी विधायक ब्राह्मण-भाग में नियुक्त होते हैं; तथापि वे फल में ही नियुक्त होते हैं, क्रियाओं में नहीं। इसीलिए करणरूप से नियुक्त होने पर भी ब्राह्मण-वाक्य विधायक होते ही हैं। इसीलिए 'पाठाधिकरण' (५।१।६ जै० सूत्र) के अनुसार कहा गया है कि शब्दशक्तिरूप श्रुति के अनुसार यद्यपि ब्राह्मणभाग भी स्मारक होने के कारण करणरूप से यज्ञादि-कर्मों में नियुक्त होता है, तथापि वह अपनी शब्द-शक्तिरूप श्रुति से ही नियुक्त होता है, किसी अन्य ब्राह्मण-वाक्य के द्वारा नहीं। अतएव वह विधायक होता है। एवञ्च यद्यपि "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" यह भी मंत्र है, तथापि वह विधायक ब्राह्मण-वाक्य द्वारा विनियुक्त न होने से विधायक है। ऐसे मंत्र अत्यल्प हैं, अन्य सभी मंत्र ब्राह्मण-वाक्यों से विनियुक्त ही हैं। अतः वे विधायक नहीं होते।

इसपर कहा जाता है कि 'पूर्वोक्त अनुमान मन्त्रों के विधायकत्व का वारण नहीं कर सकता; क्योंकि विनियुक्तत्वरूप हेतु

विधायकत्व का विरोधी नहीं है। लोक में राजा द्वारा नियुक्त भी अमात्य आदि अन्यों के नियोजक होते ही हैं। उक्त अधिकरण में शबरस्वामी ने भी 'विनियोग' एवं 'विधायकत्व' का अविरोध कहा है। जो किसीसे नियुक्त होता है, वह अन्य का नियोजक नहीं होता—इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। व्रीहि आदि तो सामर्थ्यहीन होने से विधायक नहीं होते। जिस समय ब्राह्मण-वाक्य द्वारा मन्त्रों के विनियोग का निश्चय होता है, उससे पूर्व मन्त्रों में विधान करने की शक्ति रहती है या नहीं? यदि रहती है, तब तो स्मारकत्वेन विनियुक्त होने पर भी उनमें विधान करने की शक्ति रहेगी ही। क्योंकि विधायकत्व और विनियुक्तत्व का कोई विरोध ही नहीं है। यदि पहले से मन्त्र में विधान करने की शक्ति न हो, तो पूछा जा सकता है कि यदि मन्त्र विनियुक्त न होता, तो भी उसमें विधान करने की शक्ति कहाँसे आती? अतः नियुक्त होने और विधान करने का कोई भी विरोध नहीं है। नियुक्त होने पर भी मन्त्र विधायक हो ही सकते हैं।'

इसपर सिद्धान्त यही है कि ब्राह्मण-वाक्यों से जिन कर्मों में जिन मन्त्रों का विनियोग है, वे मन्त्रवाक्य उन कर्मों के विधायक नहीं हो सकते। लोक में भी राजादि की आज्ञा से जिस कर्म में जो साक्षात् कर्तारूप में नियुक्त होता है, वह दूसरे के प्रति उस कर्म के करने का विधान नहीं कर सकता। उसे स्वयं ही वह कर्म करना पड़ता है। अतः विनियुक्त होने से मन्त्र विधायक नहीं होते, यह अनुमान ठीक ही है। यद्यपि ब्राह्मण-वाक्यों की शक्ति की पर्यालोचना करने पर वे भी स्मारक हो सकते हैं, तथापि कुछ कर्म का अनुवादकर ब्राह्मण का विनियोग नहीं है।

Scanned by CamScanner

अतः ब्राह्मण-वाक्य कर्म-विधायक होते हैं। किन्तु मंत्रों का तो ब्राह्मण-वाक्य द्वारा तत्तत् कर्मों का अनुवाद करके उन-उन कर्मों के स्मारकरूप से विधान होता है। अतएव वे विधायक नहीं हो सकते।

इसके अतिरिक्त 'यत्' शब्द, संबोधन विभक्ति, उत्तम पुरुष 'यदि' शब्द आदि विधिशक्ति के विघातक होते हैं। मन्त्रों में इनका बाहुल्य होता है, अतः मन्त्र विधायक नहीं होते। जैसे "न ता न शन्ति न दमाति तस्करो नासाम् आमित्रो व्यथिर आदधर्षति, देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योक इत ताभिः स च ते गोपतिः सह" (जिन गौओं से याग करता है, जिन गौओं को दान देता है, वे गौएँ नष्ट नहीं होतीं—न तो उन्हें चोर चुराता है, न उनके अङ्गों में शत्रुकृत एवं व्याधिकृत पीड़ा ही होती है। उन गौओं का स्वामी उनके साथ परलोक में चिरकाल तक संयुक्त रहता है) यह मन्त्र विधायक नहीं है, क्योंकि 'यत्' शब्द के रहने से गो-याग तथा गोदान की सिद्धावस्था ज्ञात होती है और विधान असिद्ध का ही होता है। इसी तरह "अहे बुध्निय मंत्रं मे गोपाय" (हे बुध्निय नामक सर्प, मेरे मंत्र की रक्षा करो) यहाँ 'अहे' यह सम्बोधन है। सम्बोधन विभक्ति वक्ता के अभिमुख श्रोता की प्रवर्तिका होती है। सामान्यतया संबोधन वक्ता द्वारा अभिहित अर्थ के अनुष्ठान में प्रवृत्त पुरुष के प्रति होता है। अतः सम्बोधन से अप्रवृत्त-प्रवर्तकत्वरूप विधायकत्व का बाध होता है।

इसी तरह, "बर्हिर्देवसदनं दामि, शुक्रं त्वा शुक्राय धाम्ने धाम्ने देवेभ्यो यजुषे यजुषे गृभ्णामि" (मैं कुशों को काटता हूँ) इस मंत्र

Scanned by CamScanner

में भी विधान करने की शक्ति नहीं है, क्योंकि उसमें उत्तम पुरुष का प्रयोग है। स्वयं अपने को कोई प्रवृत्त नहीं करता।

इसी तरह, यदि "सोममपहरेयुः' (यदि सोम हटा लें) इस मंत्र में 'यदि' शब्द से सोम का हटाना प्राप्त है। इसमें अप्राप्त-प्रापकत्वरूप विधायकत्व नहीं बनता। इस प्रकार के विधायकत्व-प्रतिघाती शब्दों की मन्त्रों में उपलब्धि होती है। अतः मंत्र विधायक नहीं होते। जहाँ ऐसे विघातक शब्द नहीं हैं, जैसेः— "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते", वे मन्त्र विधायक होते हैं।

फिर भी साधारण प्रसिद्धि यही है कि मन्त्र विधायक नहीं होते। जिस तरह किसी ग्राम में ब्राह्मणों का बाहुल्य होने पर कुछ क्षत्रियादि के रहने पर भी 'ब्राह्मण-ग्राम' कहा जाता है, उसी तरह कतिचित् मन्त्रों के विधायक होने पर भी बाहुल्याभिप्राय से मन्त्रों का अविधायकत्व कहा जाता है। इसी प्रकार यदि किसी ब्राह्मण-वाक्य में भी पूर्वोक्त 'यत्' आदि शब्द आ जायँ, तो वह भी विधायक नहीं होता। जैसे 'यस्योभयं हविरार्त्तिमार्च्छत्" यह ब्राह्मण-वाक्य इसीलिए विधायक नहीं है कि इसमें 'यत्' शब्द का प्रयोग है। उक्त 'यत्' आदि शब्द प्रायः ब्राह्मण-वाक्यों में नहीं होते, इसी कारण अधिकांश ब्राह्मण-वाक्य विधायक होते हैं। इसी बाहुल्याभिप्राय से यह भी प्रसिद्धि है कि ब्राह्मण-भाग विधायक होते हैं।

इस तरह जब मंत्र विधायक नहीं हैं, तो अर्थवादों के समान ही उनका भी अपने वाच्यार्थ में मुख्य तात्पर्य नहीं है। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि अर्थवादों के समान मन्त्रों का भी तात्पर्य लक्षणा द्वारा प्रशंसा में है, क्योंकि अर्थवादों से ही

Scanned by CamScanner

प्रशंसा का कार्य सम्पन्न हो जाता है; फिर मन्त्रों का प्रशंसा-अर्थ मानना व्यर्थ ही है।

अतएव जैमिनि का यह सिद्धान्त सूत्र (२।१।३१) है—"अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्।" अर्थात् मन्त्र न विधान करते हैं और न प्रशंसा ही, किन्तु याग के समय उन क्रियाओं का स्मरणमात्र कराते हैं, जिनका विधान ब्राह्मण-वाक्यों से हो चुका है। इस तरह जब मन्त्रों का किसी अर्थ में तात्पर्य नहीं, तब तो यही सिद्ध होता है कि पाठमात्र द्वारा मंत्रों का यज्ञों में उपयोग है।

अन्य भी अनेक हेतु इसी अर्थ में जैमिनि ने दिखाये हैं। जैसे—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस अध्ययनविधि से विहित होने के कारण अर्थवादों में पुरुषार्थ-साधकता अनिवार्य है, वैसे ही मन्त्रों का भी अध्ययन उक्त विधि से प्राप्त है। फलतः उनकी पुरुषार्थ-साधकता होनी चाहिए। उसमें भी जहाँतक दृष्टफल संभव हो, अदृष्टफल की कल्पना नहीं करनी चाहिए। दर्शपूर्णमासादि-यज्ञों के विधायक वाक्यों के साथ क्रम और प्रकरण के अनुसार जिस-जिस पदार्थ का सम्बन्ध होता है, वे-वे पदार्थ उन-उन यज्ञों के अङ्ग होते हैं। अतः जैसे प्रयाजादि दर्शपूर्णमास के अङ्ग होते हैं, वैसे ही मन्त्र भी यज्ञ के अङ्ग होते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि 'जैसे प्रयाजादि वाक्यों के अक्षरों और पदों को दर्शपूर्णमासादि अपना अङ्ग नहीं बनाते—अतएव यज्ञों में प्रयाजादि वाक्यों का पाठ नहीं किया जाता, किन्तु उनके अर्थ प्रयाजादि क्रियाओं का ही अनुष्ठान होता है—वैसे ही मंत्रों के भी अर्थों का ही अनुष्ठान होना चाहिए, यज्ञों में मन्त्रपाठ

Scanned by CamScanner

न होना चाहिए। यदि कहा जाय कि प्रयाजादि वाक्यों का भी यज्ञकाल में पाठ होना ही चाहिए, तो फिर प्रयाजादि क्रियाओं का अनुष्ठान क्यों किया जाय? क्योंकि प्रयाजादि वाक्यों एवं मन्त्रों के क्रम और प्रकरण समान ही हैं।'

इसका समाधान यह है कि दर्शपूर्णमासादि-विधायक प्रधान वाक्यों को अपनी अङ्ग-क्रियाओं की अपेक्षा होती है। प्रयाजादि वाक्यों से ही उस आकांक्षा की पूर्ति होती है। अतः वहाँ क्रिया की आकांक्षा होने से प्रयाजादि क्रियाओं से ही उसकी पूर्ति होती है। इसीलिए प्रयाजादि प्रधान कर्म के अङ्ग होते हैं। उसके अनन्तर निराकांक्ष होने से प्रयाजादि वाक्यों के पाठ का कुछ प्रयोजन नहीं रहता। किन्तु मंत्र अपने अर्थ द्वारा उक्त आकांक्षा को पूर्ण नहीं कर सकते। क्योंकि प्रयाजादि वाक्यों के समान वे दर्शादि यज्ञों की अङ्ग-क्रियाओं को अपूर्व रीति से नहीं कहते। दर्शादि प्रधान वाक्यों के समान किसी कर्म का विधान भी नहीं करते। वे अर्थवादों के तुल्य प्रशंसा भी नहीं करते और नियत रीतिसे किसी अर्थ के स्मारक भी नहीं होते; क्योंकि ध्यानादि द्वारा भी अर्थों का स्मरण हो सकता है। इसीलिए अनन्यगति होकर क्रम और प्रकरण के अनुसार मन्त्रों के पदों और वाक्यों को भी दर्शादि-विधिवाक्य अपना अङ्ग बना लेते हैं। मन्त्रों का स्वरूप शब्द ही है। वह बिना किसी व्यापार के दर्शादि यज्ञों का अङ्ग हो नहीं सकता। इसीलिए उसके उच्चारणरूप व्यापार की कल्पना होती है। इसी कारण यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। उनके अर्थज्ञान का कुछ भी फल नहीं है। इससे

Scanned by CamScanner

यह भी सिद्ध होता है कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं होता।

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त अध्ययनविधि भी क्रम और प्रकरण के अनुसार यही सूचित करती है कि जो मन्त्र जिन यज्ञों के प्रकरण में हैं, वे उनके अंग हैं। पुनः विचार होगा कि वे किस व्यापार द्वारा अङ्ग होंगे, तो लाघवात् यही निश्चय करना होगा कि यज्ञकाल में उच्चारण द्वारा ही मन्त्र यज्ञ के अङ्ग होते हैं।

इस तरह अध्ययन-विधि भी मन्त्रों का उच्चारणपर्यन्त ही अध्ययन-विधान करती है, अर्थज्ञानपर्यन्त अध्ययन का विधान नहीं करती। प्रयाजादि वाक्य तो अपनी स्वाभाविक शब्दशक्ति के अनुसार प्रधान यज्ञ की अङ्गभूत क्रियाओं का ही प्रथम से विधान करते हैं। इसलिए वे क्रियानुष्ठान द्वारा ही यज्ञों के अङ्ग होते हैं। उनका उच्चारण भी अर्थज्ञान से ही सफल होता है। अतः यज्ञ-समय में उनका उच्चारण आवश्यक नहीं है। यद्यपि यज्ञकाल में मन्त्रों का उच्चारण करने पर अर्थबोध भी होता ही है, तथापि 'उनका उच्चारण यज्ञ का उपकारक है या अर्थबोध?' यह विचार करने पर यही निर्णय न्यायप्राप्त होता है कि अर्थबोध यज्ञ का उपकारक नहीं है; क्योंकि उनके क्रियारूप अर्थ का बोध तो ब्राह्मण-वाक्यों से हो चुका है। तभी तो यज्ञ करने में यजमान की प्रवृत्ति हुई है। उसी यज्ञक्रिया का मन्त्र द्वारा पुनः बोध होना स्मरण या अनुवाद ही समझा जायगा।

इसके अतिरिक्त यह स्मरण अवधान आदि से भी संभव है ही। साथ ही उच्चारण-बोध की अपेक्षा प्रथम भी है और वह

Scanned by CamScanner

अन्यथासिद्ध भी नहीं है। अतः उच्चारण ही यज्ञ का उपकारक है, अर्थज्ञान नहीं। ऐसी स्थिति में मन्त्रों का अर्थों में तात्पर्य भी नहीं है। अतः जैसे कई जपोपयोगी मन्त्र तथा विषघ्न मंत्र उच्चारणमात्र से फलदायक होते हैं, वैसे ही क्रियार्थ मंत्र भी उच्चारणमात्र से फलदायक होते हैं।

इसीलिए जैमिनि ने (१।२।३१) "तदर्थशास्त्रात्" सूत्र से कहा है कि "जैसे नीली-रोगवाले पुरुष की आँखों को देखकर लोग समझते हैं कि यह देखता है; किन्तु जब दूसरे पुरुष की अंगुली पकड़कर उसे चलते देखते हैं, तब समझते हैं कि यह दर्शनशक्ति-विहीन है। इसी तरह 'ऊरू प्रथस्व' आदि क्रियार्थ मन्त्रों को देखकर मालूम होता है कि अमुक-अमुक क्रिया में ये पुरुषों को नियुक्त कर सकते हैं। किन्तु जब "ऊरू प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" आदि ब्राह्मण-वाक्यों से इस मंत्र का पुरोडाश के प्रथन में विनियोग देखा जाता है, तब यह मालूम पड़ जाता है, कि मन्त्रों में अन्य को नियुक्त करने की शक्ति नहीं होती। जब वे स्वयं ही क्रियाओं में ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, तो दूसरों को नियुक्त कैसे कर सकेंगे? यदि मन्त्र स्वयं ही अपने को नियुक्त करें, तो नियोजक ब्राह्मण-वाक्य व्यर्थ होंगे।

इसीलिए मंत्रों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता। किन्तु वे यज्ञों में नियुक्त होकर पाठमात्र से यज्ञ में उपकारी होते हैं। यदि मन्त्रों का अपने अर्थबोध में तात्पर्य होता, तब तो जैसे 'अग्निर्मूर्धा' इस पाठ में मन्त्रत्व है, वैसे ही 'मूर्धा अग्निः' इस पाठ में भी मन्त्रत्व रहता; क्योंकि अर्थ में कुछ भेद नहीं पड़ता।

Scanned by CamScanner

फिर भी 'मूर्धा अग्निः' इस पाठ में मन्त्रत्व नहीं माना जाता, 'अग्निर्मूर्धा' इस पाठ में ही मन्त्रत्व रहता है। इससे मालूम पड़ता है कि उनका यथास्थित पाठ ही यज्ञ का उपकारक होता हैं, अर्थ नहीं। यद्यपि 'राजपुरुषः' आदि लौकिक वाक्य अपने अर्थ का बोध कराते हैं, तथापि उनका क्रम नियत हैं; क्योंकि 'पुरुषः राज' ऐसी उलट-पुलट से राजभृत्य का बोध नहीं होता। अतः उक्त स्थल में अर्थबाध एवं शब्द के असाधुत्व आदि भय से क्रमनियम रहता है। किन्तु 'अग्निर्मूर्धा' में क्रम बदलने पर भी अर्थबोध नहीं बिगड़ता और न शब्द के असाधुत्व का ही कोई प्रसङ्ग होता है। यही बात "वाक्यनियमात्" (१।२।३२) जैमिनि-सूत्र से कही गयी है।

इसके अतिरिक्त किसी यज्ञक्रिया को समझे बिना कोई उसका अनुष्ठान नहीं कर सकता। अतः यज्ञारंभ के पूर्व ही आग्नीध्र आदि ऋत्विक् अपने-अपने कर्तव्यों को अध्ययनकाल में ही 'अग्नीदग्नीन् विहरेत्' (आग्नीध्र ऋत्विक् अग्नि का हरण करे) इत्यादि ब्राह्मण-वाक्यों से जान लेते हैं। फिर यज्ञप्रयोग काल में 'अग्नीदग्नीन् विहर' (हे आग्नीध्र, तू अग्नि का विहरण कर) इत्यादि मन्त्रों से उन्हें अपने कर्तव्य कर्म में प्रेरणा करना व्यर्थ ही है। क्योंकि वे तो पहले से ही जानते हैं कि अमुक-अमुक अवसर पर हमें अमुक-अमुक कर्म करना चाहिए। अतः मन्त्र उस अवसर पर पाठमात्र से उपकार करते हैं, अर्थबोधन कराकर नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मन्त्र स्मरण कराते हैं, क्योंकि अध्ययनाभ्यासजन्य दृढ़तर संस्कार से ही यथासमय कर्मों का स्मरण हो जाता है। अतः तदर्थ मन्त्रों

Scanned by CamScanner

की आवश्यकता नहीं है। संस्कार जगाने के लिए मन्त्र आवश्यक हैं, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अवसर ही संस्कारों को जगा सकते हैं। यही बात "बुद्धशास्त्रात्" (१।२।३३) इस सूत्र से कही गयी है।

इसी तरह "चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश" इत्यादि मन्त्र किसी कर्म का बोध नहीं कराते। एक वृषभ को चार शृंग आदि का होना असम्भव है। 'सिंहो माणवकः' के समान यदि कुछ गौण अर्थ कर भी लिया जाय, तो भी इस अंश में कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इस मन्त्र का यज्ञ के किस अवसर पर उच्चारण किया जाय? अतः यह मन्त्र अविद्यमान अर्थ का ही प्रतिपादन करता है, जैसा कि "अविद्यमान-वचनात्" (१।२।३४) इस सूत्र में स्पष्ट है। "ओषधे! त्रायस्व", "शृणोति ग्रावाणः" (हे औषधि, रक्षा करो, पत्थरो! सुनो) आदि मन्त्रों में जड़ पदार्थों को सम्बुद्ध किया गया है। अचेतनों में ऐसे सम्बोधन व्यर्थ ही होते हैं। अतः सिद्ध है कि मन्त्र पाठमात्र के ही लिए हैं, उनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता।

"अचेतनार्थबन्धनात्" (१।२।३५)—इसी तरह "अदितिर्द्यौर-दितिरन्तरिक्षम्" (अदिति स्वर्गलोक है, अदिति अन्तरिक्ष लोक है); "एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे" (रुद्र एक है, दूसरा नहीं), "असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्" जो अगणित रुद्र भूमि पर हैं) आदि मंत्रों का परस्पर विरुद्ध अर्थ है। एक ही अदिति वह देवता को स्वर्ग और अन्तरिक्ष दोनों लोक कहा गया है। प्रथम तो देवतालोक हो कैसे सकता है और फिर वही स्वर्ग, वही अन्त-

Scanned by CamScanner

रिक्त लोक कैसे हो सकेगा ? रुद्र एक है, तो अनेक कैसे हो गये ? अर्थवादों के समान मन्त्र स्तावक नहीं होते, अतः बाधित गुणों द्वारा ये मंत्र प्रशंसा करते हैं' यह भी नहीं कहा जा सकता। अर्थवाद तो विधिवाक्यों के अवयवभूत होते हैं। अतः उनके द्वारा की हुई स्तुति विधेय से अन्वित होकर सफल होती है। किन्तु क्रियार्थक मंत्र विधिवाक्यों के अवयव नहीं होते। अतः उनके द्वारा की हुई स्तुति का यज्ञों में उपयोग नहीं होगा। फलतः वह स्तुति व्यर्थ ही होगी। अतः मंत्रों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है।

यही बात "अर्थविप्रतिषेधात्" (१।२।३६) से कही गयी है। वैदिक वृद्धपरम्परा भी यही है कि वे अपने शिष्यों से केवल मंत्रों का ही अभ्यास कराते हैं, उनके अर्थों का नहीं। अभ्यास उसीका होता है, जिनका यज्ञों में उपयोग होता है। अतः मंत्रों का पाठ ही यज्ञोपयोगी है। इसी तरह "स्वाध्यायवदवचनात्" (१।२।३७) अध्ययनविधि से जैसे अक्षरग्रहण-विधि है, वैसे ही मंत्र से अर्थस्मरण करना, ऐसी कोई विधि नहीं है।

"सृण्वेव जर्भही तुर्फरीत्...अभ्यकसात् इन्द्र ऋष्टिरश्मे", "एकया प्रतिधाऽपिबत्" इत्यादि मंत्रों का कुछ भी अर्थ द्योतित नहीं होता। पहला मंत्र यद्यपि इन्द्रस्तुतिरूप प्रतीत होता है, तथापि अन्य सभी मन्त्रों के अर्थ दुर्ज्ञेय ही हैं। कहा जायगा कि 'अर्थज्ञान न होना श्रोता का अपराध है, मंत्रों का नहीं। अन्धा प्रज्वलित दीप को नहीं देखता, तो यह अन्धे का ही दोष है।' किन्तु यह ठीक नहीं ; क्योंकि जब अर्थबोध सार्वजनिक नहीं है, तो वह यज्ञकर्म का अङ्ग नहीं हो सकता। मंत्रों का पाठ तो सभी कर सकते हैं, अतः वे यज्ञाङ्ग हैं। यही बात "अविज्ञेयात्" (१।२।३८)

Scanned by CamScanner

सूत्र से कही गयी है। अर्थात् 'सृण्येव' इत्यादि मंत्र अविज्ञेय अर्थ से घटित हैं, अतः मंत्र का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं। अपि च यदि मंत्रों का स्वार्थ में तात्पर्य होता, तो "किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिते दुहे" (तुम्हारी गौएँ मगध देश में क्या करती हैं) आदि मन्त्र अनित्य मगधादि देशों का प्रतिपादन करते हैं। इससे यह सिद्ध होगा कि वेद उन अनित्य देशों की उत्पत्ति के बाद बने हैं। तथाच वेदों की अनादिता बाधित होगी। अतः मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य न मानना ही ठीक है। यही बात "अनित्य-संयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्" (१।२।३९) इस सूत्र से कही गयी है।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करके सिद्धान्त किया गया है कि मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य है। यह ठीक है कि मन्त्र विधायक नहीं हैं। इसी तरह पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि कर्मों में विनियुक्त होने से मन्त्र विधायक नहीं हो सकते और यत् आदि शब्दों के संयोग से भी वे विधायक नहीं हो सकते, यह सब भी ठीक है। अतएव "विधिमंत्रयोः" (२।१।३०) इस जैमिनिसूत्र के वार्तिक में वार्तिककार ने प्राचीनों के श्लोकों को उद्धृत किया है—

"यस्माद्व्रीह्यादिवन्मन्त्राः करणत्वेन कर्मणाम्।
ब्राह्मणे न नियुज्यन्ते तस्मात्ते न विधायकाः॥"

अर्थात् मंत्रों में विधान करने की शक्ति ही नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणभाग की आज्ञा से वे स्वयं व्रीहि आदि के समान यज्ञ-कर्म में नियुक्त होते हैं। जैसे कपिञ्जलादि मंत्रों में विधि-विघातक हेतु नहीं हैं, ऐसे कुछ ही मंत्र हैं, जो कि विधायक होते हैं। फिर भी पूर्वपक्ष की भूमिका में जो कहा गया था कि मंत्रों

Scanned by CamScanner

का उच्चारण ही यज्ञोपयोगी है, मन्त्रार्थ नहीं, इसपर विचारणीय यह है कि क्या मंत्रों का उच्चारण प्रयाज आदि के समान साक्षात् यज्ञोपकारी है अथवा प्रोक्षण से अवघात आदि की तरह परम्परा से उपकारी है? प्रथम पक्ष में कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहा जाय कि 'यज्ञों के प्रकरण के अनुसार मंत्र-संहिता में मंत्रों के स्वरूप उक्त हैं, अतः प्रकरण ही प्रमाण हैं', तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि 'इस कर्म में इस मंत्र को पढ़ें' ऐसा कोई विशेष विधायक वाक्य होता, तभी प्रकरण प्रमाण हो सकता था। वस्तुतस्तु मंत्र-संहिता में यज्ञ का कोई प्रकरण ही नहीं है, वह तो ब्राह्मणभाग में ही है।

यदि कहा जाय कि 'अध्ययन-विधि ही प्रथम पक्ष में प्रमाण है। उसके अनुसार जो वाक्य वेद में जहाँ पठित हैं, वहीं उसके अध्ययन का विधान होता है। यह विधान भी तभी सफल हो सकता है, जब मंत्र अपने प्रकरण के यज्ञ का उपकारी हो। मंत्र भी तभी उपकारी हो सकते हैं, जब उनका कोई व्यापार हो, क्योंकि व्यापार के बिना कोई किसीका उपकारी नहीं होता। मंत्रों का व्यापार भी उच्चारणरूप ही हो सकता है, अन्य नहीं। इस तरह अध्ययन-विधि से 'यज्ञादि के अनुष्ठान-काल में मन्त्रों का उच्चारण करें' इस प्रकार विधि की कल्पना हो सकती है। अत एव उच्चारण यज्ञों का साक्षात् अंग है--यह प्रथम पक्ष संगत है।' किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उपर्युक्त कल्पित विधि से भी प्रथम पक्ष संगत नहीं होता। मन्त्रों का उच्चारण श्रवण के लिए भी कहा जा सकता है। फिर उच्चारण से साक्षात् यज्ञ का उपकार कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

Scanned by CamScanner

'जैसे प्रोक्षण अवघातादि द्वारा परम्परया यज्ञोपकारक है; वैसे ही उच्चारण अपने कर्मकारक मन्त्रों के द्वारा उपकारी है' यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। प्रकरण प्रमाण है—यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्राकरणिक यज्ञरूपा क्रिया गुणों एवं द्रव्यों को तभी अपना अंग बनाकर ग्रहण करती है, जब कि वाक्यकल्पित कोई क्रिया मध्य-वर्तिनी हो। जैसे दर्शपूर्णमास, सोम आदि क्रियाएँ पेषण, क्रयण आदि क्रियाओं के द्वारा ही तण्डुलादि द्रव्यों एवं अरुण-त्वादि गुणों को अपने इतिकर्तव्यतांश में लेकर अंग बनाती हैं। वार्तिककार ने भी कहा है—

"नावान्तरक्रियायोगादृते वाक्योपकल्पितात्।
गुणद्रव्ये कथंभावैर्गृह्णन्ति प्रकृताः क्रियाः॥"

अर्थात् वाक्योपकल्पित अवान्तर क्रियायोग के बिना प्रकृत क्रियाएँ कथंभाव से (इतिकर्तव्यता रूपसे) गुण एवं द्रव्य का ग्रहण नहीं करतीं। ऐसी स्थिति में यज्ञादिरूप क्रिया मंत्रों को अपना अङ्ग नहीं बना सकती, क्योंकि उस क्रिया और मंत्रोंके बीच कोई दूसरी क्रिया उक्त नहीं है। उच्चारण-क्रिया तो मंत्रों से व्यवहित है। क्योंकि दूसरे पक्ष में कहा गया है कि उच्चारण अपने कर्मकारकरूप मंत्रों के द्वारा यज्ञाङ्ग होता है। इस तरह जब द्वाररूपी मंत्र ही मध्यस्थ क्रिया न होने से यज्ञाङ्ग नहीं, तब द्वारी उच्चारण का कर्माङ्ग होना दूर की ही बात है।

निष्कर्ष यह है कि द्रव्य और गुण तो क्रिया के द्वारा यज्ञाङ्ग होते हैं। फिर उच्चारणरूप क्रिया मंत्ररूप द्रव्य के

Scanned by CamScanner

द्वारा यज्ञाङ्ग हो, यह तो सर्वथा उलटी बात है। यदि अध्ययन-विधि के बल पर कथंचित् मंत्रों को यज्ञाङ्ग मान भी लिया जाय, तो भी मंत्रों का कोई व्यापार न होने से वे यज्ञाङ्ग नहीं हो सकते। मंत्रों का उच्चारण तो पुरुष-व्यापार है, मंत्रों का नहीं। जहाँ वेद में "इषे त्वेति शाखां छिनत्ति" ('इषे त्वा' इस मंत्र से पलाशशाखा का छेदन करे) इस प्रकार विधान है, वहाँ भी मंत्र क्रिया के अङ्ग नहीं हो सकते, क्योंकि उनका कोई व्यापार नहीं है। यदि पदार्थ-बोध को व्यापार कहा जाय और उसीके द्वारा मंत्र यज्ञोपयोगी माने जायँ, तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि पदार्थ-बोध का कार्य तो वाक्यार्थबोध ही होता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि मंत्र पदार्थबोधरूप व्यापार द्वारा वाक्यार्थबोध के ही उपयोगी होते हैं, यज्ञों के उपयोगी नहीं।

ऐसी स्थिति में जब प्रकरणानुसार मंत्रों का यज्ञाङ्ग होना सिद्ध है, व्यापार के बिना मंत्र यज्ञाङ्ग हो नहीं सकते और अन्य व्यापार बन नहीं सकता, तब तो वाक्यार्थबोध को ही मंत्रों का व्यापार मानना उचित होगा। वही यज्ञानुष्ठान में उपयोगी भी है। इस तरह मंत्रोचारण का पर्यवसान अर्थ-बोध में है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

इसी वाक्यार्थबोधरूप व्यापार को अपनी इतिकर्तव्यता बनाकर सभी विधिवाक्य ग्रहण करते हैं। इस व्यापाररूप वाक्यार्थबोध का फल है, विधिविहित क्रियाओं का स्मरण कराना। क्योंकि मंत्र ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा विहित क्रियाओं का अनुवाद ही करते हैं, विधायक नहीं होते। यज्ञ-प्रकरण में मंत्रों के पाठ से यही निश्चय होता है कि मंत्र वाक्यार्थबोध

Scanned by CamScanner

रूप दृष्ट-व्यापार द्वारा ही यज्ञोपयोगी हैं। अदृष्ट-कल्पना में गौरव दोष होता है।

'अर्थस्मरण का क्या प्रयोजन है' यह प्रश्न भी व्यर्थ है, क्योंकि जिन कर्मों का अनुष्ठान करना है, समय पर उनका स्मरण होना स्वयं ही फल है। अनुमंत्रण मंत्रों (क्रिया के अनन्तर जो पढ़े जाते हैं) के वाक्यार्थबोध से कृत-अकृत क्रियाओं का विवेकरूप फल होता है "अगन्म स्वः" इत्यादि प्रोत्साहन देनेवाले मंत्रों द्वारा क्रियाओं के स्मरण से श्रद्धा की उत्पत्ति होती है। श्रद्धा से युक्त कर्म प्रभावशाली होता है। स्तोत्र, शस्त्र आदि मंत्रों द्वारा प्रशंसनीय देवतादि के गुणों का स्मरण होता है। उस स्मरण से यज्ञों का उपकार होता है।

कहा जाता है कि 'पूर्वक्रिया भी अनन्तर क्रिया का स्मरण करा सकती है। अतः 'मन्त्रों से ही उत्तर क्रिया का स्मरण करना चाहिए' इस नियम का कोई लौकिक फल नहीं। अतएव नियम का अदृष्ट फल सिद्धांत में भी मान्य है ही। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अदृष्टकल्पना गौरव है?' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जब मंत्रों से वाक्यार्थबोध हो जाता है, तभी उक्त नियम से अदृष्टकल्पना का अवसर आता है। वाक्यार्थबोध से पूर्व तो उसका अवसर ही नहीं आता। अतः वाक्यार्थबोध रूप दृष्टव्यापार द्वारा ही मंत्र यज्ञ के अङ्ग होते हैं। मंत्रों के कर्माङ्ग होने के लिए अदृष्ट व्यापार की कल्पना नहीं होती। 'मंत्रों से ही द्रव्य-देवतादि का स्मरण किया जाय' इस नियम से अदृष्ट की कल्पना तो नियम की सफलता के लिए होती है। किन्तु पूर्वपक्षी के यहाँ मन्त्रोच्चारण के अनन्तर

Scanned by CamScanner

वाक्यार्थबोध के पूर्व ही अदृष्टरूप व्यापार की कल्पना करनी पड़ती है। उसीके द्वारा उसे मन्त्रों को यज्ञाङ्ग मानना पड़ता है। अतः इस पक्ष में कल्पना-गौरव स्पष्ट ही है।

कहा जा सकता है कि 'यज्ञों के प्रकरण-बल से ही मन्त्रों का अदृष्टार्थ होना सिद्ध है।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वाक्यार्थबोधरूप दृष्टद्वार का ज्ञापक मंत्रलिङ्ग (अपना अर्थ-बोध करानेवाली शब्दशक्ति) मंत्रों के अदृष्टार्थ होने का वारण करता है। कारण प्रकारण की अपेक्षा लिङ्ग प्रबल होता है। पदार्थबोध पहले होता है, प्रकरण का ज्ञान पीछे। मन्त्रलिङ्ग का ज्ञान तो पदार्थबोध से भी पहले होता है। इस तरह मन्त्र-लिङ्ग प्रकरण की अपेक्षा सर्वथा अन्तरङ्ग है।

फिर भी कहा जाता है कि 'यदि मन्त्रलिङ्ग से प्रकरण का बोध होगा, तब तो मन्त्रों का यज्ञाङ्ग होना भी सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि जैसे मन्त्रों का अदृष्टार्थ होना प्रकरणलभ्य है, वैसे ही यज्ञाङ्ग होना भी प्रकरण से ही लभ्य है। जब मन्त्र यज्ञाङ्ग नहीं होंगे, तब उनको किस कार्य में मन्त्रलिङ्ग नियुक्त करेगा? यदि मन्त्र लिङ्ग नियुक्त न करेगा, तो मन्त्र व्यर्थ ही होंगे। अतः मन्त्रलिङ्ग प्रकरण का बाध कैसे कर सकता है?' परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि बाध्यबाधकभाव में विरोध ही हेतु होता है।

प्रकरण के बल से दो कल्पनाएँ होती हैं—एक तो मन्त्रों के अदृष्टार्थ होने की, दूसरी मन्त्रों के यज्ञाङ्ग होने की। मन्त्रलिङ्ग मन्त्रों के यज्ञांग होने में वाक्यार्थबोधरूप दृष्ट अर्थ को द्वार बतलाता है। इस कारण मन्त्रों के अदृष्टार्थ होने में उसका

Scanned by CamScanner

विरोध होता है। प्रकरण भी मन्त्रलिङ्ग की अपेक्षा करता है। अतः दुर्बल होता है। इसीलिए प्रकरण के द्वारा मन्त्रों के अदृष्टार्थ होने की कल्पना का मन्त्रलिङ्ग से बाध होता है। परन्तु प्रकरण द्वारा मन्त्रों के यज्ञाङ्ग होने की कल्पना का मन्त्रलिङ्ग से कोई विरोध नहीं, अतः उसका बाध नहीं होता। वाक्यार्थबोधरूप दृष्टार्थ के द्वारा भी मन्त्र अदृष्टार्थक हो सकते हैं। अतएव नियम का अदृष्ट फल होता ही है।

अतः इस सम्बन्ध में लिङ्ग के साथ प्रकरण का मेल भी है। प्रकरण भी उसी कार्य में मन्त्र को नियुक्त कर सकता है, जो कि मन्त्रों से हो सकता है। क्योंकि मन्त्रों के सम्बन्ध में "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस अध्ययन-विधि का यही निष्कर्ष निकलता है कि "यच्छक्नुयात्मन्त्रेण कुर्यात्" जो शक्य हो, वह मंत्रों से करें। मन्त्रों में साक्षात् अदृष्ट उत्पन्न करने की शक्ति है—इसमें न तो कोई लौकिक प्रमाण है, न वैदिक ही। मंत्र भी वाक्य ही हैं। अतः मंत्रों से लोकानुभव के अनुसार वाक्यार्थबोध ही हो सकता है, अदृष्ट नहीं। अतएव मंत्रों में साक्षात् अदृष्टजनन की शक्ति सिद्ध नहीं होती। इस कारण मंत्रों के विषय में लिङ्ग और प्रकरण की लोकप्रसिद्ध क्रिया-नुष्ठान द्वारा परस्पर एकवाक्यता ही है, विरोध नहीं। इसीलिए याज्ञिकों के प्रसिद्ध क्रियानुष्ठान के बल से 'यज्ञ क्रिया के समय मंत्रों को पढ़ें' इस विधिवाक्य की कल्पना का क्लेश भी नहीं उठाना पड़ता। क्योंकि इसका प्रयोजन मंत्र

Scanned by CamScanner

लिङ्ग और यज्ञ-प्रकरण से ही सिद्ध हो जाता है। अतः मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य अवश्य है।

ब्राह्मण-वाक्यों में जो क्रियाशब्द विधायक नहीं हैं, उनकी अपेक्षा भी मन्त्रों के क्रियाशब्दों में यह विशेषता अवश्य है कि यद्यपि पूर्वोक्त 'यत्-यदि' आदि शब्दों के संयोग से ब्राह्मण-वाक्यों के क्रियाशब्दों की विधिशक्ति नष्ट ही जाती है, तथापि वे अपने अर्थमात्रका बोध कराते हैं, यज्ञ के समय में उनका पाठ नहीं होता है। परन्तु मन्त्र के क्रियाशब्दों—"दामि, गृह्णामि, निर्वपामि, आदि—का स्वरूप सुनने से ही यह निश्चय हो जाता है कि ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा विहित क्रियाओं के स्मरण में ये स्वरूपतः नियुक्त हैं। इसीलिए यज्ञानुष्ठानकाल में मन्त्र-स्वरूपों का नियम से पाठ होता है।

इस भेद का कारण यही है कि क्रियानुष्ठान के समय विहित क्रियाओं का स्मरण आवश्यक है। स्मरण के अनेक कारण हैं। ब्राह्मण-वाक्यों के अर्थों का अनुसंधान, पूर्वकृत क्रियाओं का ज्ञान, कात्यायनादि श्रौतसूत्रों का अर्थस्मरण तथा नियोजक वाक्य, उपद्रष्टा के वाक्य आदि क्रियास्वरूपों के स्मारक होते हैं। तब विचार होता है कि किस कारण द्वारा स्मरण किया जाय ? इधर वैदिक यज्ञों के प्रकरण में जो मन्त्र पठित हैं, जिन्हें ब्राह्मण-वाक्यों ने क्रिया में नियुक्त भी कर रखा है, उन मन्त्रों से यज्ञ का कुछ उपकार अवश्य होना चाहिए। मन्त्रों का यज्ञों में दूसरा कोई उपयोग प्रत्यक्ष है नहीं। अतः मंत्रलिङ्ग और यज्ञ-प्रकरण के अनुसार 'कर्तव्य क्रियाओं का मंत्रों से स्मरण करें'

Scanned by CamScanner

इस विधायक श्रुतिवाक्य का अनुमान किया जाता है। इसी अनुमित श्रुति के बल से मंत्रों का विहित कर्तव्यक्रियाओं के स्मरण में विनियोग समझ लिया जाता है। इस तरह जब उक्त स्मरण का प्रामाणिक कारण निश्चित हो जाता है, तो अन्य कारण अपने आप निवृत्त हो जाते हैं।

इसी तरह अन्य कारणों से स्मरण संभव होने पर भी जब अनुमित श्रुति व्यर्थ होने लगती है, तब उसका नियम में पर्यवसान होकर यह अर्थ निकलता है कि 'मन्त्रों से ही स्मरणकर अनुष्ठित वैदिक क्रिया अदृष्ट (धर्म उत्पन्न करती है, अन्य प्रकार से नहीं।' फलतः जैसे कोई वैदिक क्रिया-शब्द अङ्गकर्म का विधायक होता है, कोई प्रधान कर्म का विधायक होता है, वैसे ही कोई क्रियाशब्द केवल अभिधायक (अर्थ मात्र बोधक) या स्मारक होता है। अतएव वार्तिककार ने कहा है :—

"येषामा ख्यातशब्दानां तच्छुद्धाद्युपबन्धनात् ।
विधिशक्तिः प्रणश्येत्तु ते सर्वत्राभिधायकाः ॥"

इन्ही सब अभिप्रायों से "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" (१।१।४०) यह जैमिनि-सूत्र ग्रथित है। अर्थात लोक-वेद में शब्द और शब्दार्थ समान ही होते हैं। जैसे लौकिक शब्दों का अपने अर्थ में तात्पर्य होता है, वैसे ही वैदिक शब्दों का भी। वाच्यार्थ बाधित या निरर्थक होने पर लक्ष्यार्थ भी सर्वत्र अविशिष्ट ही है। इसी तरह इस सम्बन्ध में अन्य सूत्र भी हैं।

"आग्नेय्याऽऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते" (अग्निदेवतावाले ऋक् मन्त्र से अग्निस्थापन के स्थल का उपस्थान करें) इस विधिवाक्य से

भी यही प्रतीत होता है कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य होता है। क्योंकि अग्नि देवतावाला ऋक्-मन्त्र वही कहा जा सकता है, जो अपने मन्त्रलिङ्ग द्वारा प्रधान रूप से अग्नि देवता का बोध कराता है। जो किसी रीति से अग्नि का बोध न कराता हो, वह अग्नि देवतावाला मन्त्र नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा न हो, तब तो "त्वांहि मामन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महिनः श्रोष्यग्ने इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः" यह अग्निदेवता-वाला मन्त्र इन्द्रादि अनेक देवताओंवाला ही कहा जायगा। किन्तु जिस किसी तरह इसमें इन्द्रादि अनेक देवताओं का वर्णन होने पर भी प्रधान रूप से अग्नि देवता का ही वर्णन है। इसलिए यह अग्नि देवता का मन्त्र कहलाता है। मन्त्र का अर्थ यह है कि हे अग्ने! (यतः आप) मन्द्रतम (अतिपूज्य हैं) (अतः आपको हम) अर्कशोकैः (पूजनीय दीप्तिकारी स्तोत्रों से) ववृमहे (भजते हैं), अतः हमारे बृहत् (स्तोत्र) को आप सुनें। नृतम (स्तुतियों के श्रेष्ठतम नेता ऋत्विज् लोग) शवसा (बल से, जोर से) वायुं न (वायु के तुल्य) इन्द्रं न (इन्द्र के सदृश) आपको राराधा (हविरूप धन से) पृणन्ति (तृप्त करते हैं)। यद्यपि इस मंत्र में प्राधान्येन अग्नि का ही स्तवन है, इन्द्रादि का नाम उपनाम के लिए आया है, तथापि इन्द्रादि का वर्णन तो है ही। अतः कहना पड़ेगा कि जब मन्त्र का अपने प्रधान अर्थ में तात्पर्य हो, तभी यह मन्त्र अग्निदैवत्य कहा जा सकता है। इसी अभिप्राय से "लिंगोपदेशश्च तदर्थत्वात्" (५१) यह सूत्र कहा गया है। अर्थात् "आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते" इस विधिवाक्य में 'आग्नेय्या' इस शब्द से मन्त्र में जो अग्निलिंग का उपदेश

है, वह मन्त्रों के अर्थज्ञान के बिना नहीं हो सकता। क्योंकि जिस ऋक् में प्रधान रूप से अग्नि के बोध कराने की शक्ति होती है, वही आग्नेयी कही जा सकती है, अन्य नहीं।

यद्यपि वेद में "ऊहः कार्यः" (ऊह करना) चाहिए, ऐसा नहीं सुना गया है, तथापि ऊह का प्रतिषेध श्रुत है—"न माता वर्धते न पिता" (माता और पिता में बहुवचन का 'ऊह' नहीं किया जा सकता) अर्थात् "माता मन्यतामनु पिता" इस मन्त्र में 'मातरोमन्यन्तामनुपितरः" ऐसा 'ऊह' नहीं हो सकता। यह निषेध तभी सार्थक हो सकता, जब ऊह के द्वारा बहुवचन की प्राप्ति हो। इसी आधार पर अनेक पशुवाले याग में 'एनम्' के स्थान में 'एनान्' बहुवचन का ऊह होता है। 'न वर्धते' इससे वृद्धि का ही निषेध है। माता आदि के अवयवों का उपचयरूप वृद्धि का निषेध तो अशक्य ही है। अन्य प्रकार की भी वृद्धि का निषेध नहीं हो सकता।

मन्त्र के किसी शब्द को बदलकर प्रकरण के अनुसार उसकेस्थान में दूसरे शब्द का उच्चारण 'ऊह' कहा जाता है। जैसे—प्रकृतिभूत (जिसकी सब क्रियाओं के करने की रीति वेद में कही गयी है) आग्नेय याग में "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" इस मन्त्र से अग्निदेवता के लिए चरु (भोज्य-द्रव्य) दिया जाता है। परन्तु विकृति (जिसके विषय में प्रकृति पक्ष की अपेक्षा केवल विशेष क्रियाओं के ही करने की रीति वेद में कही गयी हो) सौर्ययाग में चरु देने के लिए दूसरे मन्त्र का विधान नहीं है। अतः सूर्य को चरु देने के लिए भी पूर्वोक्त ही मन्त्र पढ़ा जाता है। परन्तु उसमें सूर्यपद नहीं पढ़ा है, किन्तु

Scanned by CamScanner

अग्निपद पढ़ा गया है। इसीलिए ऊह द्वारा 'अग्नये' पद को निकालकर उसके स्थान पर "सूर्य्याय जुष्टं निर्वपामि" ऐसा पढ़ा जाता है। इसी हेरफेर को 'ऊह' कहा जाता है।

सभी ऊह मन्त्रों अर्थानुसार ही होते हैं और मन्त्रों में ही ऊह होते हैं। अतः मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य होता है, इसमें सभी 'ऊह' भी प्रमाण हैं। मीमांसा के ९ वें अध्याय में ऊहों पर विशेष विचार किया गया है। यही सब बातें 'ऊहः' सूत्र से कही गयी हैं। तात्पर्य यही कि यदि मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य न होता, तो अग्निपद के त्याग से एक अदृष्ट, सूर्यपद के उपादान से दूसरा अदृष्ट—इस रीति से दो अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि जो मन्त्रों का अर्थ नहीं मानते, उनके यहां अदृष्ट ही मन्त्रों का प्रयोजन है। अतः अदृष्टद्वयकी कल्पना होगी ही।

अग्निहोत्र-प्रकरण में 'अग्ने गृहपते' इत्यादि मङ्गोपस्थान के यजुर्मन्त्र में 'शतं हि मा' यह शब्द आया है। उसका अर्थ ब्राह्मण कहता है—"शतं हि मा इत्याह—'शतं त्वा हेमन्तानिन्धिपीयेति वा वै तदाह।" अर्थात् यजुमन्त्र जो 'शतं हि मा' कहता है, वह यही कहता है कि 'अग्ने, मैं चाहता हूँ कि तुम्हें सौ हेमन्त ऋतुओं तक प्रज्वलित किया करूँ।' मन्त्रों के पदों की व्याख्या करनेवाली ये ब्राह्मणश्रुतियाँ भी इस बात के लिए प्रमाण हैं कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य होता है।

यह बात "विधिशब्दाश्च" (५३) सूत्र से स्पष्ट है। अर्थात् विधिशब्द (ब्राह्मणभाग) के बहुत से वाक्य इस अंश में प्रमाण है कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य होता है।

Scanned by CamScanner

यहाँ 'विधि'शब्द का ब्राह्मण अर्थ है—"विधिरेव ब्राह्मणाभिधः" (वार्तिक)।

मंत्रों का प्रामाण्य किस प्रकार और कैसे होता है, इस सम्बन्ध में पार्थसारथि मिश्र का मत है कि मन्त्र पदार्थ है, अतः प्रमाण हैं। भट्टपाद के अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदों के अर्थ ही वाक्यार्थबोध कराते हैं, अतः वे ही प्रमाण हैं। इस तरह दर्शपूर्णमासादि यज्ञों की प्रयोगविधि में श्रुतिलिङ्गादि के अनुसार विनियुक्त मंत्र वाक्यैकवाक्यता की मर्यादा द्वारा पदार्थरूप से प्रविष्ट होते हैं। अतः मंत्रविशिष्ट दर्शपूर्णमासादि की भावना का विधान करते हुए महावाक्यरूप प्रयोगविधि के महावाक्यार्थ में पदार्थ होकर मंत्र प्रामाण्य को प्राप्त होते हैं।

अन्य मीमांसक इस पक्ष को ठीक नहीं समझते; क्योंकि इस रीति में व्रीहि, यवादि के समान मंत्रों का भी पदार्थरूप में ही प्रामाण्य होने से लौकिक वाक्यों के तुल्य मन्त्रों का लोकप्रसिद्ध प्रामाण्य बाधित हो जायगा। अतः स्मरणरूप ज्ञान के तुल्य ही मन्त्रों का प्रामाण्य मानना उचित है। जैसे स्मरण पूर्वानुभूत अर्थ का प्रकाशक होता है, वैसे ही मन्त्र भी ब्राह्मण-वाक्यों से विहित क्रियाओं का अनुवाद करते हैं। जैसे यथार्थानुभव का अनुसारी स्मरण यथार्थ ही होता है, वैसे ही ब्राह्मणवाक्यानुसारी मन्त्रों का अर्थ भी यथार्थ ही होता है। यही मन्त्रों का प्रामाण्य है।

सोमेश्वर भट्ट का मत इससे भी भिन्न है। उनके अनुसार जैसे ब्राह्मणवाक्य स्वतन्त्र प्रमाण हैं, वैसे ही मन्त्रवाक्य भी। 'तदर्थशास्त्रात्' के वार्तिक-व्याख्यान में साढ़े बारह श्लोकों

Scanned by CamScanner

द्वारा उन्होंने इसकी उपपत्ति की है। श्लोकों का तात्पर्य है कि "मन्त्रों का स्वतंत्र प्रामाण्य न मानने से मीमांसा के नौ सिद्धान्तों का उच्छेद हो जायगा।' वे नौ सिद्धान्त निम्न-लिखित हैं :—

१—"धन्वान्निव प्रपा असि" (जैसे मरुभूमि में प्रपा होती है, वैसे ही तू आदरणीय है। यह मंत्र प्रपा (पौशाला) का प्रवर्तन करना चाहिए (प्रपा प्रवर्तनीया) इस स्मृति का मूल है। २—"वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" इत्यादि मन्त्रों से देवता और याग की कल्पना होती है। ये मन्त्र ब्राह्मणोक्त अर्थ के अनुवादक नहीं, किन्तु विधायक हैं। ३—मन्त्रलिङ्ग के अनुसार होता को प्रथम सोमपान करना चाहिए—"होतुः प्रथमभक्षः" ४—"आयुर्दा अग्ने आयुर्मे देहि" (हे आयु देनेवाले अग्नि, मुझे आयु दो) इस मन्त्र में आत्मवाची 'मे' (मुझे) शब्द है। इससे यह मन्त्र स्वयं यजमान को पढ़ना चाहिए। ५—यद्यपि यज्ञाङ्ग मंत्रों को ऋत्विक् पढ़ता है, तथापि याग का फल यजमान को ही होता है। ६—पूर्णमासयाग में उपांशु-याग और अग्निषोमीय नामक अवान्तर यज्ञों के मंत्रों का जो पाठक्रम संहिता में है, उसी क्रमसे उनका पाठ होना चाहिए। उन यागों के विधायक ब्राह्मण-वाक्यों का पाठक्रम मन्त्रों के पाठक्रम से विपरीत है, उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। ७—"पशुना यजेत" (पशु से याग करे) आदि वाक्यों में पशुशब्द से छाग ही पशु गृहीत होता है, यह होम के प्रैष-मंत्र से ही निश्चित होता है—"अग्नये छागस्य दद्विषो न पायाः"। ८—सौर्य-चरु में "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" इस आग्नेय मन्त्र के स्थान में सूर्यपद का ऊह करना चाहिए। ९—"इषे त्वा"

Scanned by CamScanner

(इष्टफल के लिए तुझे) इस मन्त्र को अधूरा समझकर इसके अनन्तर "छिनद्मि" (काटता हूँ) यह सम्प्रदाय के अनुसार जोड़ा जाता है। इसी तरह मन्त्रों के "असौ" पद के स्थान में यजमान का नाम जोड़ लिया जाता है। यदि मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य न होता, तो मन्त्रों के अर्थानुसार परिवर्तन नहीं ही हो सकता। तब तो "अग्नये" के स्थान में "सूर्याय" का जोड़ना संगत ही न होता।

इसी तरह "बर्हिर्देवसदनं दामि" इस मन्त्र का यदि अर्थ न हो, तो कुशों का छेदन धर्म ही न कहलायेगा और उक्त मन्त्र कुशच्छेदन का अङ्ग भी न होगा; क्योंकि उसके अङ्ग होने में अन्य प्रमाण ही नहीं है। कहा जाता है कि 'मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य मान भी लिया जाय, तब भी मन्त्र का कुशच्छेदनाङ्ग होना तो ब्राह्मणभाग से ही मालूम पड़ता है। मन्त्र तो अनुवादकमात्र होते हैं। तब उक्त मन्त्र कुशच्छेदनरूप धर्म में प्रमाण कैसे होगा?' परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'दामि' इत्यादि शब्द के 'दा' धातु का छेदनमात्र अर्थ न होकर लक्षणा से 'अपूर्व का साधन-रूप छेदन' अर्थ होता है। अतएव लिङ्गात्मक प्रमाण के अनुसार ही मन्त्रों का क्रियाओं के प्रति अङ्ग होना सिद्ध हो जाता है। अतएव छेदनादि-रूप धर्म में मन्त्र प्रमाण होते हैं, क्योंकि क्रियारूप धर्म से पुरुषों में एक संस्कार उत्पन्न होता है। उसीसे क्रिया के नष्ट हो जाने पर भी कालान्तरभावी स्वर्गादि फलों की प्राप्ति होती है। उसी संस्कार को 'अपूर्व' या 'अदृष्ट' कहा जाता है। इस तरह उक्त अपूर्व-उत्पादक छेदनादि क्रिया-'दा' आदि शब्दों का

Scanned by CamScanner

लक्ष्यार्थ है। तब छेदनादि क्रिया के धर्म होने में कोई सन्देह ही नहीं। इस तरह मन्त्रों का भी अर्थ होता है।

उक्त तीनों पक्षों में दूसरा पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं है कि जप-मन्त्रों में वह पक्ष संगत नहीं है, क्योंकि 'जप' ऐसे ही उच्चारण को कहते हैं, जिससे किसी अर्थ का बोध कराने की इच्छा जापक को नहीं होती। अतएव १२ वें अध्याय में शबरस्वामी ने कहा है—"यत्र सन्तमप्यर्थमविवक्षित्वोच्चारणमात्रमदृष्टार्थं क्रियते, यथा वैष्णवीमृचमनूच्येति स जपः।" अर्थात् जहाँ अदृष्टमात्र के लिए अर्थ होने पर भी उससे बोध कराने की इच्छा न करके उच्चारणमात्र किया जाता है, वह जप है। 'सन्तमपि' इस अंश से यह भी मालूम पड़ता है कि बहुत से मन्त्रों का अर्थ होता ही नहीं। ऐसे मन्त्रों में यथार्थता संभव ही नहीं।

फिर भी कहा जाता है कि 'जैसे अर्थवादों में जहाँ अर्थ की घटना ठीक नहीं होती, वहाँ गौण अर्थ की कल्पना होती है; वैसे ही मन्त्रों में भी गौण अर्थ मान लेना चाहिए।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अर्थवादों में तो मिथ्याभूत गुणों से मिथ्याभूत गुणियों की स्तुति संभव होनेमात्र से गुणवाद की बात कही गयी है। उसके उदाहरण से सर्वत्र गुणवाद की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी तरह स्तुति-मंत्रों में भी यथार्थता नहीं कही जा सकती। अतएव सोमेश्वर भट्ट ने तृतीय पक्ष स्वीकार किया है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'उक्त दोनों दोष तृतीय पक्ष में भी होंगे। क्योंकि वे ही मंत्र स्वतंत्र प्रमाण हो सकते हैं, जो अपने अर्थ का अनुसंधान करा सकें। जिन मंत्रों का कोई अर्थ नहीं, उनमें अगृहीत-ग्राहकत्वरूप प्रामाण्य कैसे हो सकेगा?'

Scanned by CamScanner

परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि "सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचःस्तोमं पारिप्लवं शंसति" (सभी ऋक्, सब यजुष्, सब साम वाचस्तोम और पारिप्लव का शंसन करें—यज्ञोपयोगी देवतादि पदार्थों में गुणों के सम्बन्ध का वर्णन करें) इस ब्राह्मण से सब मंत्रों का गुण-गुणिसम्बन्ध-कीर्तनात्मक-शस्त्र में विनियोग देखा गया है। अतः जपमंत्रों का भी गुण-गुणिसम्बन्धरूप अर्थ में तात्पर्य निश्चित होता है। इस रीति से उनका भी प्रामाण्य है ही।

फिर भी कहा जाता है कि 'द्वितीय एवं तृतीय पक्ष में साममंत्रों में यथार्थता नहीं हो सकती, क्योंकि साम तो गानमात्र का ही नाम है, किसी वाक्य का 'साम' नाम नहीं होता। जब वह वाक्य ही नहीं, तो फिर साम किस अर्थ का बोध करायेंगे?' परन्तु यह भी ठीक नहीं; यद्यपि साम-मंत्र वाक्यरूप नहीं हैं, तथापि मंत्रवाक्यों के अभिव्यंजक होने से शब्दों के अनुग्राहक हैं। अतः वे भी शाब्दबोध-सामग्री के अन्तर्गत होकर शब्दप्रमाण में अन्तर्भूत होते हैं। तथाच साम का अर्थ वही है, जो साम के आश्रयभूत ऋक् मंत्रों का है। उसीसे उनकी यथार्थता और स्वतंत्र प्रमाणता में कोई बाधा नहीं आती।

वस्तुतस्तु तृतीय पक्ष भी संगत नहीं है; क्योंकि अर्कग्रीव, पञ्चानुगान के मध्य में तीन साम, तीन 'हाऊ होवा हाऊ, वाक दो वाचो व्रत आदि पैंतीस साम ऐसे हैं, जो ऋक्-मंत्रों पर आश्रित नहीं हैं। उनका कुछ भी अर्थ नहीं होता। अतः उनमें यथार्थता-लक्षण प्रामाण्य या अगृहीत-ग्राहकत्वलक्षण प्रामामाण्य दोनों ही नहीं हो सकते।

Scanned by CamScanner

एक सत्रस्पर्धि, एक परमेष्ठि साम, एक आङ्गिरस व्रत, एक इलान्द, एक सधस्थ, तीन देवव्रत, एक कत्ययग्रीव, एक प्रजापतेर्हृदयम्, एक अनडुद्व्रत, नौ महादिवा कीर्त्थम्, एक सत्वाभूत, एक धर्मवोचन; एक आदित्य आत्मा, एक इन्द्ररोचन—जब इन सामों का अर्थ ही नहीं है, तो यथार्थता की संभावना हो ही नहीं सकती। इसी तरह "बर्हिर्देवसदनं दामि" आदि मन्त्रों में 'दा' की अपूर्वसाधनभूत छेदन में लक्षणा भी नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें न कोई प्रमाण है, न प्रयोजन। अतएव सूत्र, भाष्य और वार्तिक में इसकी कहीं भी चर्चा नहीं है साथ ही पूर्वोक्त स्वाध्यायविधि के अनुसार जब ब्राह्मण-वाक्यों से ही छेदन की अपूर्वसाधनता सिद्ध है, तब उसके लिए लक्षणा कौन मीमांसक मानेगा?

इसी तरह अन्तिम दोनों ही पक्षों में साममन्त्रों की प्रमाणता नहीं कही जा सकती, क्योंकि साम वाक्यरूप नहीं हैं, किन्तु गानरूप ही है। साम को वाक्य का व्यञ्जक बनाकर शब्दप्रमाण में अन्तर्भूत करके जो समाधान किया गया है, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि जब साम वाक्यरूप नहीं हैं, तो उनका अर्थ कुछ भी नहीं हो सकता। जैसे घण्टाघोष निरर्थक है, वैसे ही साममन्त्र भी निरर्थक ही हैं। हां, अपूर्व द्वारा यज्ञ में उनका उपयोग है, यह ठीक है। अतएव पार्थसारथि मिश्र ने अन्तिम दोनों पक्षों को छोड़कर प्रथम पक्ष ही स्वीकार किया और वही पक्ष ठीक भी है।

प्रथम पक्ष मे जो यह दोष कहा गया था कि 'यदि पदार्थ होने से मन्त्रों की प्रमाणता होगी, तो व्रीहि, यव

आदि द्रव्यों की अपेक्षा मन्त्रों में कुछ विशेषता न रहेगी। अतएव वाक्यरूप मंत्रों की लोकप्रसिद्ध प्रमाणता बाधित होगी।' परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि लौकिक, वैदिक सभी वाक्य वाक्यरूप से अपने-अपने अर्थों का बोध कराते हुए भी पदार्थ हो सकते हैं। अर्थात् पदार्थ होने पर भी मन्त्रवाक्यों की वाक्यता और अर्थबोधकता बाधित नहीं होती। कारण, पदार्थता और वाक्यता आदि का परस्पर विरोध नहीं है। अतः मन्त्र पदार्थ होकर प्रमाण हैं और वाक्य हैं तथा अपने अर्थ का बोध भी कराते हैं।

इसीलिए "तदर्थशास्त्रात्" (जै० सू०) पर वार्तिककार ने कहा है—

"स्पष्टे शब्दात्प्रतीतेऽर्थे नानर्थक्यं हि शङ्क्यते।
अग्नौ दहति दृष्टे वा दग्धृत्वं किं विचार्यते॥"

अर्थात् जब वाक्यरूप होने से मन्त्रों द्वारा अर्थबोध अनुभवसिद्ध है, जैसे अग्नि में दाह की शक्ति प्रत्यक्ष है, वैसे ही वाक्य में बोध कराने की शक्ति भी प्रत्यक्ष है। इससे मन्त्र स्वार्थबोध कराते हैं या नहीं, इस विचार को अवकाश ही कहाँ है? किन्तु उनका स्वार्थ में तात्पर्य है या नहीं, यही विचारणीय होता है। यद्यपि प्रयोगविधि के अनुसार यज्ञों में व्रीहि, यव आदि के समान द्रव्य होकर ही मन्त्र अङ्ग होते हैं, तथापि "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" इस न्याय से उनकी लोकानुभवसिद्ध अर्थबोधकता का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टि से मन्त्र प्रपा (पौसरा)-प्रवर्तन-स्मृति के मूल भी हो सकते हैं। मन्त्र द्रव्य हैं, यह बात "धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण

सम्बन्धः" (जै ० सूत्र) से स्पष्ट है। शबरस्वामी ने इस सूत्र का यह अर्थ किया है कि 'साम द्रव्य के साथ उच्चैः उच्चारणरूप धर्म का सम्बन्ध न समझना चाहिए; मीमांसक की दृष्टि से शब्द द्रव्य ही है, गुण नहीं। फिर भी व्रीहि, यव आदि द्रव्यों की अपेक्षा मन्त्ररूप द्रव्यों में यह विशेषता रहती है कि व्रीहि आदि सभी द्रव्य किसी अर्थ के बोधक नहीं होते, परन्तु मन्त्ररूप बहुत-से द्रव्य अर्थ के बोधक होते हैं। जैसे— "इषे त्वा....." इत्यादि। बहुत से अर्थ बोधक भी नहीं होते, किन्तु पाठमात्र से यज्ञादि के उपकारक होते हैं। जैसे—पूर्वोक्त अर्कग्रीवादि नामक साम-मन्त्र, जपमन्त्र तथा विषघ्न मन्त्र। अतः पहला पक्ष ही श्रेष्ठ है। अर्थात् व्रीहि आदि द्रव्यों के तुल्य मन्त्र द्रव्य भी पदार्थ होने से क्रियाओं के उपयोगी होते हैं।'

तान्त्रिक, पौराणिक मन्त्रों के भी उपयोग के निर्णय का यही प्रकार है, क्योंकि उन सबका मूल वेद ही है। जिन क्रियाओं का बोध मन्त्रों के पदों से होता है, उन्हीं क्रियाओं में मन्त्रों का वाक्य होकर स्वार्थबोधन द्वारा उपयोग होता है। जिन क्रियाओं का बोध मन्त्रों के पदों से नहीं होता, उन क्रियाओं में तो द्रव्य होकर पाठमात्र के द्वारा उपयोग और नियोग होता है। यही रीति वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक सभी मन्त्रों के निर्णय में है। वैदिक मन्त्रों का ब्राह्मणवाक्यों से, तान्त्रिक मन्त्रों का तन्त्रवाक्यों से, पौराणिक मन्त्रों का पौराणिक वाक्यों से, और साबर आदि मन्त्रों का गुरुसंप्रदाय से उन-उन क्रियाओं में विनियोग होता है।

Scanned by CamScanner

वैदिक मन्त्रों का वैदिक श्रुति, लिङ्ग वाक्य, प्रकरणादि से एवं तांत्रिक, पौराणिक वाक्यों से भी विनियोग मान्य होता है। इसी आधार पर 'वाशिष्ठी-हवनपद्धति, प्रतिष्ठामयूख, उत्सर्गपद्धति, श्राद्धविवेक' आदि पद्धति-ग्रन्थों द्वारा जिन-जिन मन्त्रों का जिन-जिन कर्मों में विनियोग कहा गया है, मीमांसा के अनुसार सब ठीक ही है। जैसे किसी मन्त्र का प्रमाणवाक्य द्वारा जिस क्रिया में विनियोग होता है, उस मन्त्र से उस क्रिया के करने से अपूर्व उत्पन्न होता है। फिर भले ही मन्त्र के वाक्यार्थ का उस क्रिया के साथ कुछ भी सम्बन्ध न हो। ऐसे स्थलों में व्रीहि आदि द्रव्यों के समान द्रव्य होकर ही मन्त्र उपकारक होते हैं। इसीलिए भले ही "शन्नो देवीरभीष्टये" इत्यादि मन्त्र का शनि देवता अर्थ प्रतीत न हो, तो भी विनियोग के बल से इस मन्त्र का जप आदि करने से शनि की शान्ति होती ही है। इस तरह "तदर्थशास्त्रात्" आदि सूत्रों से जो पूर्वपक्ष किया गया था, उसका भी समाधान हो जाता है।

जब मन्त्र पदार्थ होकर प्रमाण होते हैं, तब ब्राह्मणवाक्य का आनर्थक्यरूप दोष नहीं आता, क्योंकि स्वार्थ में तात्पर्य होने पर भी मन्त्र विधायक नहीं होते। अतः व्रीहि आदि के तुल्य मन्त्रों के विनियोगार्थ विधायक "ऊरू प्रथस्वेति, पुरोडाशं प्रथयति" ब्राह्मणवाक्य सार्थक ही हैं। ये ही बातें "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" (४० वें) सूत्र से कही गयी हैं। पूर्वपक्ष के अनुसार मन्त्रों के उच्चारण से एक अपूर्व की कल्पना होती है। मन्त्र के पदों में क्रम बदलकर उच्चारण किया जाय, तो मन्त्र का स्वरूप बिगड़

Scanned by CamScanner

जाता है। विकृत मन्त्र के उच्चारण से अपूर्व की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिए मन्त्र में क्रम का नियम भी आवश्यक है और इस नियम से भी अपूर्व की कल्पना करनी पड़ती है। इस तरह दो अदृष्टों की कल्पना से गौरवदोष होता है। सिद्धान्त में तो अनुष्ठानयोग्य क्रियाओं के समय क्रियाओं के स्मरणार्थ पूर्वोक्त ब्राह्मणादि अनेक उपाय प्राप्त होते हैं, किन्तु संहिताओं में मन्त्रों की पाठसामर्थ्य से अन्य उपायों की निवृत्ति होकर यह नियम होता है कि मन्त्रों से ही क्रिया का स्मरण करना चाहिए। इस नियम से एक अपूर्व की कल्पना करनी पड़ती है, यह लाघव है। इसी बात को "अविरुद्धं परम्" (४४ जै०सू०) से कहा गया है। सूत्र का अर्थ यह है कि मन्त्र यदि क्रिया के स्मारक हैं, तब भी उनके पदों का नियत क्रम से पढ़ना विरुद्ध अर्थात् व्यर्थ नहीं है, क्योंकि क्रमपाठ के नियम से अपूर्व की कल्पना होती है।

इसी तरह यह भी आक्षेप निराधार है कि 'अध्ययन के समय ऋत्विज लोग अपना-अपना कर्तव्य जान लेते हैं। फिर "अग्निद-ग्नीन् विहर" इस प्रैष-मन्त्र से उसका स्मरण करना व्यर्थ ही है।' क्योंकि अध्ययनकाल में उत्पन्न बुद्धि यज्ञानुष्ठान-समय तक ठहर नहीं सकती। यज्ञकाल में भी यद्यपि स्मरण के अवधानादि अनेक हेतु हो सकते हैं, तथापि 'मन्त्रों से ही स्मरण करना चाहिए' इस नियम से उक्त प्रेषमन्त्र क्रियाओं के स्मरणार्थ अत्यावश्यक है ही। यही बात "संप्रैषे कर्म गर्हानुपालम्भः संस्कारत्वात्" (जै० सूत्र ४५) से कही गयी है। सूत्रार्थ यह है कि 'अग्नीदग्नीन् विहर' इस मन्त्रवाक्य से अग्नि-विहरण के स्मरण में जो दोष दिखलाया गया है, वह ठीक

Scanned by CamScanner

नहीं है, क्योंकि जैसे 'व्रीहान्प्रोक्षति' से विहित व्रीहिप्रोक्षण द्वारा संस्कार-विशेष उत्पन्न होता है, वैसे ही पूर्वोक्त मन्त्र द्वारा स्मरण होने से अग्नीध्र (कुण्ड) का संस्कार होता है।

इसी तरह "चत्वारि शृङ्गा" यह मन्त्र भी सार्थक ही है। इससे याग की स्तुति इसलिए होती है, जिससे यज्ञकाल में कर्ता के उत्साह की वृद्धि हो। यह मन्त्र अग्निदेवता का है और विषुवत् यज्ञ में होता के आज्य में विनियुक्त है। जिस दिन रात्रि एवं दिवस समान होते हैं, वह दिन 'विषुवत्' कहलाता है। दिन के देवता सूर्य होते हैं। इस कारण सूर्यरूप से अग्नि की स्तुति इस मन्त्र से की जाती है। मन्त्र का अर्थ यह है : 'दिन के चार प्रहर ही उसके शृङ्ग हैं—"चत्वारि शृङ्गाः"। शीत, उष्ण, वर्षा ये तीनों उसके तीन पाद हैं—"त्रयोऽस्य पादाः"। उत्तरायण, दक्षिणायन ये दोनों उसके शिर हैं—"द्वे शीर्षे"। सूर्य के सात घोड़े ही उसके सात हाथ हैं—"सप्त हस्तासः"। प्रात, मध्याह्न एवं सायम् तीन सवन (स्नान) से युक्त है—"त्रिधा बद्धः वृषभः"। जलवृष्टि का कारण (विद्युत्) शब्द करता है—"रोरवीति"। "महोदेवो मर्त्यान् आविवेश" यह बड़ा देव मनुष्यों के बीच सूर्य होकर आता है' इस तरह इस मन्त्र से धर्मसाधन-रूप अग्नि का स्मरण होता है। इसी तरह महाभाष्यकार ने इस मन्त्र का व्याकरणशास्त्र रूप भी अर्थ किया है।

इसी तरह "ओषधे त्रायस्व" आदि मन्त्र द्वारा भी अचेतन पदार्थों को चेतन मानकर उनके अभिमुखीकरण द्वारा स्तुति होती है। "अभिधानेऽर्थवादः" (४६) जैमिनि-सूत्र से ये ही बातें कही गयी हैं। अर्थात् मन्त्रों के पद गुणवाद की रीति से स्तुति करने-

Scanned by CamScanner

वाले हैं। इसी तरह "अदितिर्द्यौः" इस मन्त्र का अदितिदेवता को स्वर्गरूप बतलाने में तात्पर्य नहीं है, अतः विरोध का प्रसंग ही नहीं है, किन्तु अदिति देवता की स्तुति के लिए ही अविद्यमान परस्पर विरुद्ध धर्मों का मन्त्र में उपादान है।

अर्थवादाधिकरण की रीति से इसका समाधान यह है कि उत्तरमीमांसा के अनुरूप 'ओषधे' आदि सम्बोधन ओषधि का अन्तर्यामी ईश्वर या उसका अभिमानी देव के ही सम्बन्ध में है। 'अदिति' शब्द अखण्डनीय, अनन्त चिच्छक्ति का बोधक है और वही अन्तरिक्ष आदि सर्वलोक के रूप में परिणत या विवर्तित है। इस दृष्टि से भी कोई विरोध नहीं है।

पूर्वमीमांसा की दृष्टि से तो "गुणादविप्रतिषेधः स्यात्" इस सूत्र के अनुसार गुणवाद मानकर समाधान किया जाता है। जैसे किसी पुरुष के लिए 'तुम ही माता हो, तुम ही पिता हो' ऐसा कहकर स्तुति की जाती है, वैसे ही अदिति में सर्वलोकरूप का आरोप करके स्तवन किया जाता है।

यह जो कहा गया था कि 'किसी वैदिक वचन से अर्थ-साधन या अर्थस्मरण का विधान नहीं है। अतः मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं होता', वह भी ठीक नहीं। क्योंकि अध्ययनविधि से वह तो सिद्ध ही है।

"विद्यावचनमसंयोगात्" इस सूत्र से यह भी कहा गया है कि कई मन्त्रों के अर्थ ही ज्ञात नहीं हो सकते। किन्तु यह भी ठीक नहीं, उन मन्त्रों के भी अर्थ हैं। यह स्थाणु का अपराध नहीं है, जो उसे अन्धे नहीं देखते। पदों की सामर्थ्य, प्रकरण, सूक्त, देवता, आर्ष ब्राह्मण,

Scanned by CamScanner

निरुक्त-व्याकरण, मीमांसा ये मन्त्रार्थज्ञान के उपाय हैं। इनके अभ्यास से व्युत्पन्न पुरुष सभी मन्त्रों के अर्थों को समझ सकता है। अव्युत्पन्न पुरुष के मन्त्रार्थ न समझने से यह नहीं कहा जा सकता कि मन्त्रों का कुछ अर्थ ही नहीं होता। सूत्रार्थ यह है कि विद्या (अर्थज्ञान) का अवचन (अविधान)-विधान इसलिए नहीं है कि वह संयोग से स्वाध्यायाध्ययन-विधि से भाव्य होने से सिद्ध है।

यहाँ यह शंका होती है कि 'यदि आर्ष मन्त्रार्थ के निश्चय का उपाय है, तब तो वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता भङ्ग होगी। जैसे भूतांश ऋषि ने जरा-मरण-दुःख से छूटने को लिए अश्विनीकुमार की स्तुति की। तब यह अवश्य मानना पड़ेगा कि अश्विनीकुमार के मंत्र का सर्वप्रथम उच्चारण किया होगा। प्रथमोच्चारण ही निर्माण है।' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि पद के नित्य होने पर भी व्याकरण शास्त्र में उनका साधुत्व दिखलाने के लिए किसी वर्ण का लोप, किसीका विकार आदि अनेक कल्पित उपाय दिखाये जाते हैं। जो इसके तत्त्व को नहीं जानता, वह समझता है कि ये पद व्याकरण से सिद्ध किये जाते हैं। वैसे ही वेदवाक्य नित्य हैं और उनके पदों के गोत्वादि जातिरूप अर्थ भी नित्य ही हैं। केवल वेदवाक्यार्थों के समझने में सुगमता के लिए आर्ष-उपाख्यान (जो कि अनित्य-सा ज्ञात होता है) एक कल्पित उपाय है। जैसे व्याकरण-ग्रन्थों में सूत्रों को चेतनवत् मानकर यह व्यवहार किया जाता है कि अमुक सूत्र अमुक कार्य का विधान करता है, अमुक सूत्र अमुक कार्य का निषेध करता है; अथवा जैसे दर्शन-ग्रन्थों में पूर्वपक्षी और उत्तरपक्षी

Scanned by CamScanner

का काल्पनिक व्यवहार होता है, वैसे ही आर्ष या आर्षेय का व्यवहार भी काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं।

यदि थोड़ी देर के लिए उसे वास्तविक ही मान लिया जाय, तो भी वेद में अनित्यता न होगी, क्योंकि मन्त्रों के उच्चारण मात्र से कोई उनका कर्ता नहीं हो सकता। प्रथमोच्चारण भी असिद्ध ही है, क्योंकि सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय से पूर्वकल्पीय मन्त्रानुपूर्वी का ही अनुस्मरणकर किया हुआ उच्चारण प्रथम नहीं कहा जा सकता। ऋषि भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं, किन्तु भूतांश आदि नाम-वाले ऋषियों की परम्परा चली आती है। तथाच अश्विनी-कुमार के इस मन्त्र का जो सृष्टि के आदि में प्रथम उच्चारण करेगा, वही भूतांश है। सृष्टि-प्रलय का प्रवाह अनादि ही है। इस तरह आर्षेय के आधार पर वेद को पौरुषेय नहीं कहा जा सकता।

इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है—'अजान् ह वै पृश्नीं-स्तपस्यमानान् स्वयं भवभ्यनार्षत् तद्ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वम्।" इसका अर्थ यह है कि जो कल्पादि में ब्रह्मा के द्वारा रचित होते हैं, कल्प के मध्य में अस्मदादिकों के समान बार-बार उत्पन्न नहीं होते, वे ही अज हैं। ऐसे अजपृश्नि अर्थात् शुक्ल (स्वरूप से ही आविधिक मालिन्य से रहित) मन एवं इन्द्रियों का निग्रहरूप तप करनेवाले ऋषियों के समक्ष स्वयं-भू पर ब्रह्म प्रत्यक्ष रूप से कोई मूर्ति धारणकर अनुग्रहार्थ प्रकट होते हैं। 'अभ्यनार्षत्' यहां 'ऋषि गतौ' धातु से 'ऋषि' शब्द निष्पन्न होता है। 'अभि' उपसर्गसहित 'ऋषि' धातु का अभि-मुख आना अर्थ है। "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इस पाणिनिसूत्र

Scanned by CamScanner

के अनुसार छन्द में लुङादिकाल सामान्य अर्थ में होते हैं। तथाच परब्रह्म अनुग्रहकर जिन महातपा निष्कल्मष लोगों के सम्मुख आता और मन्त्रादर्शी बनाता है, वे ही ऋषि होते हैं। "अतएव च नित्यत्वम्" (१।३।२९) इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने व्यासजी का यह स्मृतिवचन इसी सम्बन्ध में उद्धृत किया है—

"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥"

अर्थात् ब्रह्मा के दिन के अन्त में 'प्रलयकाल में अन्तर्हित हुए इतिहाससहित वेदों को ब्रह्मा की अनुज्ञा पाकर एकाग्रता-रूप तप द्वारा महर्षियों ने प्रत्यक्ष किया। मनु का भी कहना है—

"प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः।
तथैव वेदानृषयः तपसा प्रतिपेदिरे॥"

अर्थात् प्रजापति ने तप से ही इस शास्त्र (पितामहस्मृति) की रचना की। ऋषियों ने भी तप से ही गुप्त हुए वेदों को प्रत्यक्ष किया।

कहा जा सकता है कि 'जैसे लौकिक वाक्यों का अर्थ व्यवहार से ज्ञात होता है, वैसे ही मन्त्रों का भी अर्थ व्यवहार से ही ज्ञात हो जायगा। उसके लिए ऋषि-सम्प्रदाय की कल्पना क्यों की जाय?' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यद्यपि अन्य उपायों से मंत्रार्थ-ज्ञान हो सकता है, तथापि विशेष रूप से मन्त्रों के तत्त्वार्थ का निश्चय ऋषि-सम्प्रदाय से ही होता है। मन्त्रार्थ पर विश्वास भी उसीसे होता है। "प्रत्ययदृढत्वार्थमेव

Scanned by CamScanner

चार्थस्मरणम्" यह वार्तिक भी इसी अभिप्राय को व्यक्त करता है।

अब यहाँ प्रसंगतः वार्तिक के अनुसार 'सृण्येव' इत्यादि तीन मन्त्रों का अर्थ आर्षोपाख्यान सूक्त, मन्त्र, पदच्छेद, पदार्थ की उपपत्ति और वाक्यार्थ क्रम संक्षेप में दिखलाया जा रहा है। सम्पूर्ण मन्त्र (ऋग्वेद, १०।१०६।६) इस तरह है :—

"सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्व जरं मरायु।"

यह आर्ष-उपाख्यान है कि जरा-मरण से छूटने के लिए 'भूतांश' नामक ऋषि ने अश्विनी-कुमार नाम देव-वैद्यों की स्तुति की है। जिस सूक्त में यह स्तुति की है, वह भी 'आश्विन-सूक्त' कहा जाता है। उसी सूक्त या मन्त्रसमूह का यह भी एक मन्त्र है। मन्त्र का पदच्छेद इस प्रकार है—"शृण्या इव जर्भरी तुर्फरीतू, नैतोशा इव तुर्फरी पर्फरीका उदन्यजा इव जेमना मदेरू ता मे जरायू अजरम् मरायु।"

इसका शब्दार्थ इस प्रकार है—"सृण्या इव = अङ्कुश के योग्य हाथी के तुल्य, जर्भरी = अत्यन्त जृम्भमाण चारों पादों, दो दाँतों, शुण्ड एवं पुच्छ के द्वारा प्रहार के लिए व्यापारयुक्त ; तुर्फरीतू (हिंसन्तौ) = हिंसा करते हुए, नैतोशा =(नैतोशति का वध अर्थ होता है) वध करनेवाले योद्धा; तुर्फरी (त्वरा) शीघ्रता से युक्त; उदन्यजा (उदन्य नामधातु का चातकीय पिपासा अर्थ है, उसका लाक्षणिक अर्थ वर्षाकाल है)=वर्षाकाल में होनेवाले चातक; जेमना = जलयुक्त (जेम शब्द का जल अर्थ है, मत्वर्थीय 'अन' प्रत्यय करने से जेमन शब्द बनता है, तथाच दोनों का अर्थ

हुआ उदकयुक्त चातक के तुल्य); मदेरू = (वर्षा में होनेवाले उदक लाभ से मत्त चातक के तुल्य) प्रसन्न, तृप्त एवं मत्त (अश्विनी कुमार) (मेरी); जरायु मरायु = जरा-मरणधर्मवाली देह को; अजरम् = अमर (करें)। सारांश दोनों अश्विनीकुमार अङ्कुश से प्रेरित हाथी के समान पाद, दन्त, शुण्ड, पुच्छादि अङ्गों द्वारा व्यापृत शत्रुवध में संलग्न योद्धा तथा क्षिप्रकारिता से युक्त जललाभान्वित चातक के तुल्य प्रसन्न रहते हैं। वे दोनों (अश्विनीकुमार) प्रसन्न होकर जरा-मरण से युक्त मेरे शरीर को अजर-अमर कर दें। दूसरा मन्त्र (ऋग्वेद, १।१६६।३) देखिये—

"अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति ।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि ॥"

इसका पदच्छेद इस प्रकार है—"अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः अस्मे सनेमि अश्वम् मरुतः जुनन्ति अग्निः चित् हि स्म अतसे शुशुक्वान् आपः न द्वीपम् दधति प्रयांसि ।"

इसका शब्दार्थ निम्नलिखित है—"अम्यक् = अमा सह अञ्चतीति अम्यक्, छान्दसत्वात् आकारस्येकारः; सा = प्रसिद्धा, ते = तव, ऋष्टिः = प्रक्षेप्यायुधविशेषः, अस्मे = अस्माकम् = पुराणम्, अश्वम् = जलम्, मरुतः जुनन्ति = क्षिपन्ति, अग्निः चित् इव, हि स्म एतौ वाक्यालङ्कारे, अतसे = शुष्कतृणे, शुशुक्वान् = दीप्तः, आपः न इव, द्वीपम् = पुलिनम्, दधति = धारयन्ति, प्रयांसि अन्नाद्यानि = प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च पादयोः मिथः सम्बन्धः सान्यनेन तृतीयपादे यच्छन्दः कल्पाः ।"

सारांश यह है कि हे इन्द्र ! शुष्क तृण में प्रज्वलित अग्नि के तुल्य नित्य तुम्हारे साथ रहनेवाली प्यारी ऋष्टि (आयुध)

Scanned by CamScanner

तुम्हारी कृपा से हमारी ही हैं (भगवान की वस्तु भक्त की ही होती है) और जो वायु पुराने जल को वृष्टिरूप से फेंकते हैं और जो भोज्यान्न को इस प्रकार धारण करते हैं, जिस प्रकार जल द्वीप को धारण करता है, वे आपके प्रियसखा वायु भी आपके प्रसाद से हमारे ही हैं। इस रीति से जिसकी सभी वस्तुएँ सबकी ही हैं, वह तुम मुझे अमर करो। तीसरा मन्त्र (ऋग्वेद, ८।७७।४) देखिये—

"एकया प्रतिधाऽपिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्। इन्द्र सोमस्य काणुका।"

पद और पदार्थः—"एकया = एकेन, प्रतिधा = प्रयत्नेन, अपिबत्, साकं = यौगपद्येन, सरांसि=पात्राणि, त्रिंशतम् सोमस्य पूर्णानि इन्द्र, काणुका = कामय- मानः। कामुकशब्दस्य छान्दसो वर्णव्यत्ययः आकारस्तुविभक्त्यादेशः। अथवा काणुकेति सरांसि इत्यस्य विशेषणम्। कान्तम् = प्रियं कम् = उदकम् सोमरसात्मकं येषु तानि कान्तकानीत्यादीनां निरुक्तोक्तानां काणुकाशब्द-विकल्पानां दर्शनात्।"

सारार्थ—इन्द्र सोमलता के मीठे रस से पूर्ण तीस पात्रों को एक साथ एक ही प्रयत्न से पीते हैं। इस तरह सभी मंत्रों के अर्थ उपपन्न हो जाते हैं। यही बात "सतः परमज्ञानम्" (४६) सूत्र से जैमिनि ने कही है। अर्थात् सृण्येव' आदि मंत्रों का अर्थ है, किन्तु अशक्ति एवं आलस्य से उसका अर्थ साधारण लोगों को ज्ञात नहीं होता।

इसी तरह कीकट आदि उत्पन्न होनेवाले सादि पदार्थों के कथन से वेदों में आनेवाले सादितादि दोषों का निराकरण भी "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (३१) आदि सूत्रों से पीछे किया ही जा चुका है। यही बात "उक्तश्चानित्यसंयोगः" (५०) सूत्र से कही

Scanned by CamScanner

गयी है। कीकट आदि शब्दों का मगध आदि देश अर्थ नहीं, किन्तु 'कृपण' आदि अर्थ हैं, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—'यजमान प्रार्थयता है, इन्द्र सर्वत्र प्रार्थ्यमान है। यद्यपि कीकट देशविशेष का नाम है, तथापि अनादि सृष्टि-प्रलय-प्रवाह में वह भी नित्य ही है। अथवा सर्वलोकस्थ कृपण ही कीकट है।' 'प्रेमगन्द' कुसीदवृत्ति का नाम है। 'नीका' शाखाखण्ड को कहते हैं। उसका धन 'नैकाशाख' कहलाता है।

"तच्चोदकेषु मंत्राख्या" (२।१।३२ जै०) इस सूत्र के द्वारा मंत्र का लक्षण कहा गया है। सूत्र का अर्थ और तात्पर्य यह है कि कर्तव्य क्रियाओं के स्मारक उन वेदवाक्यों को 'मंत्र' कहा जाता है, जिनके विषय में वैदिक वृद्धों का 'यह मंत्र है' ऐसा अनादि व्यवहार चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में शबरस्वामी का कहना है कि 'तत्. अर्थात् अभिधान के' चोदक=प्रयोजक अर्थात् उन अभिधायक या स्मारक वेदवाक्यों को मन्त्र कहा जाता है, जिनमें वैदिकों का मंत्रत्व-व्यवहार अनादि काल से प्रचलित है।' यह लक्षण प्रायिक है। अतएव "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" इन विधायक वेद-वाक्यों में भी मंत्रत्व-व्यवहार चलता है। यद्यपि मंत्र अनेक प्रकार के होते हैं, उनके लक्षण भी अलग-अलग हैं, तथापि लाघवात् वैदिकों की मंत्रत्वप्रसिद्धि ही मंत्र का मुख्य लक्षण है। वह सब प्रकार के लक्षणों में चला जाता है। 'तच्चोदकेषु' यह सूत्रोक्त लक्षण भी वृद्ध-व्यवहार का ही उपलक्षण है।

'जैमिनीयाधिकरण-न्यायमाला' में माधवाचार्य ने उक्त सूत्र का व्याख्यान अधिकरणरूप से किया है।

Scanned by CamScanner

"अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयीविदा विदुः।
ऋचो यजूँषि सामानि सा हि श्रीरमृता सताम् ॥"

अर्थात् जगत् के आदि में उत्पन्न आवसथ्य नामक हे पञ्चम अग्ने! जिसको तीनों वेदों के ज्ञाता ऋक्, साम, यजुः जानते हैं, मेरे उस मंत्र की रक्षा करें। क्योंकि वही सत्पुरुषों की लक्ष्मी है। यहाँ संशय यह है कि 'इस वेदवाक्य में आये हुए मंत्र का कोई लक्षण हो सकता है या नहीं?' इसपर पूर्वपक्ष है कि मंत्र का कोई लक्षण संभव नहीं, क्योंकि या कहा जाय कि 'अन्य वेदादि-वाक्यों से विहित अर्थ का बोध (स्मरण) करानेवाला वेद-वाक्य मंत्र हैं,' तो "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" इस विधायक मंत्र में लक्षण न जाने से अव्याप्ति दोष होगा। यदि कहा जाय कि 'जिस वाक्य से किसी अर्थ का मनन (ध्यान) किया जाता है, वह वाक्य मंत्र है', तो ब्राह्मण-भाग के वाक्य भी मन्त्र कहलाने लगेंगे; क्योंकि "तत्त्वमसि" आदि ब्राह्मणभाग के वचनों से परमेश्वर का मनन किया ही जाता है। इस तरह अति-व्याप्ति दोष होगा। यदि कहें कि 'जिन वाक्यों के अन्त में 'असि' पद होता है, वे मंत्र हैं,' जैसे "मेधोऽसि" आदि, तो "इषे त्वा" आदि मन्त्रों में अव्याप्ति होगी। यदि 'त्वान्त'-वाक्यों को मंत्र कहें, तो "मेधोऽसि" आदि में उसकी भी अव्याप्ति होगी। अतः मंत्र का कोई लक्षण नहीं है। सिद्धान्त पक्ष यह है कि याज्ञिकों का नियत किया हुआ 'मंत्र' यह नाम ही मंत्र का निर्दोष लक्षण है, क्योंकि याज्ञिक लोग क्रियाओं के स्मारक आदि वाक्यों में अनादिकाल से मंत्र-शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं। जैसे—"ऊरू प्रथस्व" इत्यादि मंत्र अनुष्ठान के

Scanned by CamScanner

स्मारक हैं। "अग्निमीळे पुरोहितम्" (यज्ञकार्य के उपयोगी अग्नि-देव की स्तुति करता हूँ) इत्यादि मंत्र स्तुतिरूप हैं। "अग्न आयाहि" (हे अग्ने, आप आइये) इत्यादि मन्त्र आवाहनरूप है। "अग्नीदग्नीन् विहर" यह मंत्र प्रैष प्रेरणारूप है। "अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्" (नीचे हैं या ऊपर) यह मन्त्र विचाररूप है। "अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मानयति कश्चन। ये ममधुक्षन्त ते मां प्रत्यमुञ्चन्त" इत्यादि मन्त्र परिदैवतरूप हैं। "पृच्छामि त्वां परमन्नं पृथिव्याः" इत्यादि मन्त्र प्रश्नरूप हैं। "वेदिमाहुः परमन्नं पृथिव्याः" इत्यादि मन्त्र उत्तर-रूप हैं। इस तरह परस्पर विलक्षण मन्त्रों में 'मन्त्र'-समाख्या ही अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषशून्य मन्त्र का लक्षण है। इसलिए अभिधान, चोदक आदि विविध मन्त्रों में 'मन्त्र' यह याज्ञिकों की समाख्या ही मन्त्र का लक्षण है।

ये मन्त्र ऋक्, साम, यजुः तीन प्रकार के होते हैं। "तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था"—ऋक् उन मन्त्रों को कहते हैं, जिनमें अर्थवशात् पाद-व्यवस्था होती है। "गीतिषु सामाख्या" गीति में साम-मन्त्रों की प्रसिद्धि है। "शेषे यजुःशब्दः"—ऋक् साम से अवशिष्ट मन्त्र ही यजुः हैं। यदि कहें कि 'ऋक्-संहिता में पठित मन्त्र ऋक् हैं, यजुःसंहिता में पठित यजुः तथा सामसंहिता में पठित मन्त्र साम हैं, तो वह ठीक नहीं; क्योंकि "देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः" यह मन्त्र यजुर्वेद में पठित हैं, फिर भी यजुः नहीं है। कारण 'सावित्र्यर्चा' यह ब्राह्मण इस मन्त्र को ऋक् बतलाता है। इसी तरह "एतत्साम गायन्नास्त" यह प्रतिज्ञाकर "अक्षितमस्य-

च्युतमसि, प्राण शंसितमसि" ये तीन यजुर्मन्त्र साम में कहे गये हैं। अतः यही ठीक है कि पादबन्ध, अर्थबन्धयुक्त वृत्त (छन्दो)-बद्ध मन्त्र ऋक् हैं। गीतिरूप मन्त्र साम हैं। वृत्त एवं गीत से वर्जित मन्त्र यजुः हैं, जैसा कि "शेषे ब्राह्मणशब्दः" (२।१।३३ जै० मन्त्र, ब्राह्मण दोनों भाग वेद हैं, उनमें मन्त्रभाग तीन प्रकार के कहे गये हैं, उनसे अवशिष्ट वेदभाग को ब्राह्मण कहा जाता है) इस सूत्र से कहा है।

यहाँ शबरस्वामी का कहना है कि "मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः" मन्त्र और ब्राह्मण वेद हैं। मन्त्र का लक्षण कह देने पर परिशेष-सिद्ध होने से ब्राह्मण का पृथक् लक्षण आवश्यक नहीं है। जिसमें मन्त्र का लक्षण नहीं घटता, वही वेदभाग ब्राह्मण है।

'माधवीयन्यायमाला' के अनुसार ब्राह्मणभाग पर इस प्रकार विचार है—चातुर्मास्य यज्ञ के प्रकरण में "एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि", यह वाक्य श्रुत है। यहाँ संशय होता है कि ब्राह्मण-भाग का कोई लक्षण है या नहीं? पूर्वपक्ष के अनुसार हेतु, निन्दा, निर्वचन, प्रशंसा, संशय आदि अनेक प्रकार के लक्षणों से लक्षित ब्राह्मण होते हैं। "शूर्पेण जुहोति यदि तेन ह्यन्नं क्रियते" (शूर्प से हवन करें, क्योंकि इससे अन्न भोजन के योग्य किया जाता है) यह हेतु है। "अमेध्या वै माषाः" (उर्द यज्ञ के योग्य नहीं हैं) यह निन्दा है। "तद्दध्नो दधित्वम्" धारण करने से दधि दधि कहलाता है, यह निर्वचन शब्दार्थ है। "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (वायु क्षिप्रकारी देव है) यह प्रशंसा है। "होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यम्" (गार्हपत्य अग्नि में होम करे या न करे) यह संशय है। "यज-मानेन संमितौदुम्बरी भवति" (यजमान के समान परिमाणवाली

औदुम्बरी = गूलर की शाखा बनायें) यह विधि है। "माषानेव मह्यं पचति" (मेरेलिए उर्द ही पकाता है) यह परक्रिया है (एक की क्रिया है)। "पुरा ब्राह्मणा अभैषुः" (ब्राह्मण पहले डरते थे) यह पुराकल्प है, अर्थात् अनेक की क्रिया है। "यावन्तोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावन्तो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्" (जितने अश्वों का प्रतिग्रह या दान करें, उतने वारुण चतुष्कपाल यज्ञ करें) यह विशेष अवधारण (व्यवधारण) है। यहाँ उपक्रमन्याय से उपक्रम के अर्थवाद के अनुसार दाता की इष्टि निश्चित होती है। तदनुसार ही 'प्रतिगृह्णीयात्' में अन्तर्भावित णिच् मानकर 'प्रतिग्राहयेत्' समझा जाता है। इसीलिए 'प्रतिगृह्णीयात्' का दान अर्थ लिया गया है। एवंच—

"हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥"

के अनुसार कहा जा सकता है कि "हेत्वाद्यन्यतमम् ब्राह्मणम्" (हेतु आदि पूर्वोक्त प्रकारों में किसी भी एक प्रकार का वेदवाक्य ब्राह्मण है। किन्तु यह भी ब्राह्मण का लक्षण नहीं बन सकता, क्योंकि यह लक्षण मन्त्रभाग में अतिव्याप्त है। मन्त्रभाग में भी पूर्वोक्त प्रकार के वाक्य मिलते हैं। जैसे—"इदं वो वामुशन्ति हि" (यह तुम्हारा है, क्योंकि तुम्हारे लिए इसे चाहते हैं) यह हेतु है। "उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते" (पृथिवी को आर्द्र करता है, इसलिए उदक कहलाता है) यह निर्वचन है। "कपिञ्जलानालभते" यह विधान है। "सहस्रमयुता ददिति" (सहस्र अयुत देता है) यह परकृति है। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" (देवताओं ने पहले यज्ञ से यज्ञ या विष्णु की पूजा की यह पुराकल्प है। "मोघमन्नं विन्दते

अप्रचेता केवलाघो भवति केवलादी" (वह निर्बुद्धि व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करता है, जो अतिथिपूजनादि न करके स्वयं खाता है, इससे वह पाप का ही भागी होता है) यह निन्दा है। "अग्निर्मूर्धा" (विराट् का अग्नि शिर है) यह प्रशंसा है। "अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्" यह संशय है। "पृणीयादिन्नाधमानाय" यह भी विधि है। इस तरह ब्राह्मण का कोई लक्षण ऐसा नहीं, जो मंत्र में न जाता हो।

'जिस वेदवाक्य में 'इति' शब्द अनेक बार आये, वह ब्राह्मण है' यह भी लक्षण ठीक नहीं। क्योंकि "इत्यददा इत्ययजथा इत्यय च इति ब्राह्मणो गायेत्" यह श्रुति कहती है कि 'इत्यददा' इत्यादि मंत्र को ब्राह्मण गायें। इस श्रुति से मालूम पड़ता है कि पूर्वोक्त वाक्य मंत्र के हैं। तथाच पूर्वश्रुत्युक्त मंत्र में इति शब्दों का बाहुल्य है ही। 'जिन वेदवाक्यों में 'इत्याह' शब्द आता हो, वह ब्राह्मण है' यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि "राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह", "यो वा रक्षाः शिशुरस्मीत्याह" इन दो मंत्रों में भी 'इत्याह' शब्द मिलता है।

'आख्यायिकारूप वेदवाक्य ब्राह्मण है' यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यम-यमी-संवादादि मंत्रसूक्तों में भी आख्यायिका उपलब्ध होती हा है। जैसे—"सुभगेऽन्यमिच्छस्व।" इस तरह ब्राह्मण का कोई लक्षण नहीं हो सकता।

इस पूर्वपक्ष के अनन्तर यह सिद्धान्त किया गया है कि मंत्र और ब्राह्मण ये दो भाग वेद में स्वीकृत हैं। मंत्र का लक्षण कहा ही जा चुका, उससे अवशिष्ट वेदभाग ही ब्राह्मण है।

"मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" आदि आपस्तम्ब आदि के

Scanned by CamScanner

वचनों के अनुसार मंत्र और ब्राह्मण का वेद नाम है। वेद के दो भागों का अनुसरण करते हुए "अहे बुध्निय" मंत्र में मंत्रशब्द के तथा "एतद् ब्राह्मणान्येव" इस ब्राह्मणभागगत 'ब्राह्मण' शब्द के अर्थ का वर्णन करने के लिए जैमिनि ने पहले मंत्रों का और पश्चात् ब्राह्मण का लक्षण "तच्चोदकेषु मंत्राख्या", 'शेषे ब्राह्मणशब्दः" इन सूत्रों से किया है। सूत्रों का क्रमशः अर्थ यह है: 'अनुष्ठान के समय क्रिया के स्मारक मंत्ररूप से प्रसिद्ध वैदिक-वाक्य मंत्र हैं। 'शेष' में अर्थात् मंत्र से अवशिष्ट वेदभाग में 'ब्राह्मण' शब्द का व्यवहार होता है। "तच्चोदकेषु मंत्राख्या" इस सूत्र में 'आख्या' शब्द का यही अभिप्राय है कि याज्ञिकों का मंत्र-व्यवहार ही मुख्यरूप से मंत्र का लक्षण है। सूत्र का अवशिष्ट भाग उसीका उपलक्षण है। तथाच याज्ञिकों का 'मंत्र-मंत्र' रूप से प्रचलित अनादि-व्यवहार ही मंत्र का लक्षण है। अथवा अनादि-व्यवहारसिद्ध मंत्रत्वरूप धर्म ही मंत्र का लक्षण है। अन्य लक्षण अतिव्याप्ति आदि दोषों से ग्रस्त हैं। वह मंत्रत्व-धर्म चाहे जातिरूप हो अथवा अखण्डोपाधि रूप। ब्राह्मणभाग का लक्षण दूसरे सूत्र से कहा गया है— 'वेदत्वे सति मंत्रभिन्नत्वम्'। अर्थात् वेद होकर मंत्र से भिन्न होना ही ब्राह्मण का लक्षण है। 'मंत्रभिन्नता' कल्पसूत्र आदि में है, किन्तु वे वेद नहीं हैं, अतएव ब्राह्मण का लक्षण उनमें अतिव्याप्त नहीं होता।

यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि "ब्राह्मण-ब्राह्मण" ऐसा अनादि-व्यवहार जिन वेद-वाक्यों में होता है, 'वे ही ब्राह्मण हैं'

Scanned by CamScanner

यह ब्राह्मण का लक्षण है और "वेदत्वे सति ब्राह्मणभिन्नत्वम्" (वेद होकर ब्राह्मण से भिन्न होना) मंत्र का लक्षण है। फिर ऐसा ही लक्षण क्यों न किया जाय, क्योंकि कोई हेतु-विशेष नहीं हैं कि ऐसा लक्षण न होकर पूर्वोक्त ही लक्षण हो।" किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा लक्षण करने पर तान्त्रिक और पौराणिक मंत्रों में मंत्रत्व ही न सिद्ध होगा। कारण वे ब्राह्मण-भिन्न होने पर भी वेद नहीं है। अतः उनमें मंत्र का लक्षण नहीं जायगा। इसपर यदि कहा जाय कि 'यहाँ तो वैदिक मंत्र का प्रकरण चल रहा है। अतः तान्त्रिक मन्त्रों में यह लक्षण न जाय, तो भी कोई हानि नहीं।' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि वैदिक-मंत्र ही मंत्र-लक्षण के लक्ष्य हों, तब तो पूर्वोक्त विपरीत स्वीकार के प्रश्न का उत्तर ही नहीं होता। यदि कहें कि 'भले ही उत्तर न हो, वैसा लक्षण स्वीकार कर लेने में हानि ही क्या है?', तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि जैमिनि महर्षि के वचन से विरोध ही प्रत्यक्ष हानि है। फिर भी कहा जाय कि 'यदि अन्य कोई दोष नहीं, तो सूत्रविरोध अकिञ्चित्कर है', तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि शब्द के अर्थ का निर्णय वृद्धव्यवहार-प्रसिद्धि से ही होता है। छोटे बालक घट, पट आदि शब्दों का वृद्ध-व्यवहार से ही शक्तिग्रह करते हैं। अतः मंत्र-शब्द के अर्थ का निर्णय वृद्धव्यवहार से ही होना उचित है।

इसी तात्पर्य से महर्षि जैमिनि ने 'मंत्र-मंत्र' इत्याकारक वैदिक वृद्धों के व्यवहार को ही मंत्र का लक्षण कहा है। लौकिक-वैदिक सभी वृद्धों का तन्त्रोक्त आदि मंत्रों में भी वैदिक-मंत्रों के समान मंत्र-मंत्र यह व्यवहार प्रसिद्ध है। इसीलिए तन्त्रोक्त मंत्र भी मंत्र-

Scanned by CamScanner

शब्द के अर्थ हैं। अतः महर्षि जैमिनि की रीति लोकानुभव और युक्ति से संगत है तथा वैदिक-तांत्रिक मंत्रों में मंत्रता भी ऋषि-सम्मत है। इसीलिए महर्षि जैमिनि ने विपरीत लक्षण नहीं कहा है। भेद इतना ही है कि वैदिक मंत्र अपौरुषेय हैं, तो तान्त्रिक मंत्र पौरुषेय। जैसे परमाणुरूप नित्य पृथिवी और घटादि कार्यरूप अनित्य पृथिवी, दोनों में ही पृथिवीत्व जाति रहती है, वैसे ही नित्य अपौरुषेय वैदिक-मंत्र और पौरुषेय तांत्रिक-मंत्र दोनों ही प्रकार के मंत्रों में मंत्रत्व रहता है। जैसे ध्वंस और अत्यन्ताभाव दोनों में अभावत्व समान रूप से रहता है, वैसे ही वैदिक-तांत्रिक मंत्रों में मन्त्रत्व समान रूप से रहता है।

'ब्राह्मण और ब्रह्म' ये दोनों ही ब्राह्मण की श्रुत्युक्त संज्ञाएँ हैं। "एतद् ब्राह्मणान्ये पञ्च हवींषि यद् ब्राह्मणानीतराणि" इस ब्राह्मण श्रुति से पहला नाम सिद्ध होता है, तो "तमृचश्च सामानि च यजूंषि ब्रह्म चानु-व्यचलन्" (अ० सं० १५ अ० १ सू० ६) इस मंत्र-वर्ण से ब्राह्मण की 'ब्रह्म' संज्ञा निश्चित होती है। "ब्रह्मच्छन्दस्कृतञ्चैव" (२७), "ब्रह्म ब्राह्मणम्" कुल्लूक भट्ट के इस वचन के अनुसार भी ब्रह्म-शब्द ब्राह्मणभाग का बोधक है। जैसे 'वायस', 'राक्षस' आदि शब्द की 'वयस्' 'रक्षस्' शब्द से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय करने से सिद्धि होती है, वैसे ही 'ब्रह्मैव ब्राह्मणम्' इस तरह 'ब्रह्मन' शब्द से स्वार्थ में 'अण्' करने से 'ब्राह्मण' शब्द निष्पन्न होता है। संज्ञा भंगभय से 'टिलोप' नहीं होता। "शेषे ब्राह्मणशब्दः" यह सूत्र ब्राह्मण का लक्षण नहीं बतलाता। उक्त सूत्र का तात्पर्य यही है कि ब्राह्मण का लक्षण कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मंत्र का लक्षण कह देने से यह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि 'मंत्र

Scanned by CamScanner

से भिन्न वेदभाग ब्राह्मण कहलाता है।' कारण वेद के ही दो भाग हैं, एक मंत्रभाग दूसरा ब्राह्मणभाग। इस तरह पूर्वसूत्र का फलितार्थ-कथन ही दूसरे सूत्र से किया गया है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'ब्राह्मणों के सम्बन्ध से ब्राह्मणभाग को ब्राह्मण कहा जाता है।' पर यह ठीक नहीं, क्योंकि मंत्रों का भी अध्यापन अनादि काल से ब्राह्मण-जाति के ही पुरुष करते आ रहे हैं। कारण अध्यापन में उन्हींका अधिकार है, फिर भी मंत्रों को ब्राह्मण नहीं कहा जाता। किन्तु 'मंत्र-मंत्र' इस व्यवहार से सिद्ध मंत्रत्वधर्म को लेकर ही, अन्य विशेषों का ध्यान न रखकर ही जैमिनि ने मंत्र का लक्षण कहा है।

यज्ञानुष्ठानकाल में प्रायः ब्राह्मण का पाठ नहीं होता, मंत्र-भाग का ही पाठ होता है। जितने वैदिक मंत्र हैं, सबमें यथा-योग्य ऋक् एवं यजुः के लक्षण संगत होते हैं। ऋक् मंत्र में रहने-वाले या स्वतंत्र गान-विशेष को 'साम' कहते हैं। इन्हीं ऋक्, साम, यजुः के मंत्रों में ही जिनका उपयोग अग्निहोत्रादि यज्ञों में न होकर शान्ति, अभिचार आदि में होता है, उन्हीं मंत्रों को 'अथर्व' कहा जाता है। अथर्वा नामक अनादि ऋषिवंश के अध्यापन के कारण उन मंत्रों को वैसे ही 'अथर्व' कहा जाता है, जैसे कि कठ द्वारा अध्यापित मंत्रों को 'काठक'।

वस्तुतः अथर्व-मंत्र ऋक्-साम के अन्तर्गत हैं, इसी अभिप्राय से जैमिनि ने चतुर्थ अथर्व मंत्रों का लक्षण नहीं कहा। इसीलिए "ब्रह्म चानुव्यचलन्" इस मंत्र में ब्रह्मशब्द से अथर्व वेद का ग्रहण आवश्यक नहीं है, क्योंकि उक्त तीनों में उनका अन्तर्भाव हो ही जाता है। अतएव 'ब्रह्म' शब्द से ब्राह्मण भाग ही गृहीत समझना

Scanned by CamScanner

चाहिए। ऋक्, साम, यजुः ये शब्द मंत्र के ही बोधक हैं; ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि के नहीं। 'ऋग्वेद' आदि शब्द तो मंत्र-ब्राह्मणसमूह के ही वाचक हैं। 'वेद' शब्द भी मंत्र-ब्राह्मण-समुदाय का ही वाचक है।

वेदशाखाओं का शास्त्रीय विवेक : २ :

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (३ । १० । ११ । ३ । ४) में लिखा है—"भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं हं जीर्णिं स्थविरं शयानम् इन्द्र उपव्रज्योवाच—भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम् किमनेन कुर्याः इति। ब्रह्मचर्यमेतेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपान-विशातानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमुपाददे। सहोवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य—वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः। एतद्वा एतैस्त्रिभिरा-युभिरन्ववोचथाः। अथ त इतरदननूक्तमेव इति।" अर्थात् भरद्वाज अपने तीन जीवन-कालों में ३०० वर्षतक ब्रह्मचर्य पालनकर वेदाध्ययन में लगा रहा। अन्त में वह अतिवृद्ध, शिथिल होकर पड़ा रहा। इन्द्र (परमेश्वर) ने आकर पूछा—'यदि मैं तुम्हें सौ वर्ष का चौथा जीवन और दूं, तो तुम उससे क्या करोगे?' भरद्वाज बोले—'मैं उससे ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन ही करूँगा।' तदनन्तर इन्द्र ने भरद्वाज को अज्ञात तीन पर्वत दिखलाये और उनमें से तीन मुष्टिमात्र लेकर बतलाया कि 'भरद्वाज! ये तीनों पर्वत वेद हैं। वेद अनन्त हैं। तुमने गत तीन जीवनों में इन तीन मुष्टिमात्र भागों का ही अध्ययन किया है। अवशिष्ट तीनों पर्वत अभीतक अपठित ही हैं।'

Scanned by CamScanner

इसी तरह 'मुक्तिकोपनिषद्' में हनुमान् और राम के संवाद में (जो कि अनादि ही है) कहा गया है—

"ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥
सहस्रसंख्यका जाताः शाखाः साम्नः परंतप ।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ॥"

अर्थात् ऋग्वेद की २१ शाखाएँ हैं, यजुर्वेद की १०९, सामवेद की १००० तथा अथर्व की ५० शाखाएँ हैं।

इसी तरह 'ब्रह्मसूत्र' के 'माध्व-भाष्य' में समुद्धृत स्कन्द-पुराणीय वचन है कि गौतम के शाप से वेदों के लुप्त हो जाने पर भगवान् विष्णु ने पराशर से सत्यवती में व्यासरूप से अवतीर्ण हो वेदों का पुनरुद्धार किया—

"उत्सन्नान् भगवान् वेदानुज्जहार इति स्वयम् ।
चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः ॥
शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा ।
कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये ॥
चकार ब्रह्मसूत्राणि··· ।"

अर्थात् व्यास द्वारा एक ही वेद के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ये चार विभाग किये गये। फिर ऋग्वेद के २४, यजुर्वेद के १०१, सामवेद के १००० और अथर्ववेद के १२ विभाग किये गये तथा वेदार्थ के निर्णयार्थ ब्रह्मसूत्र रचे गये।

श्रीमद्भागवत में (द्वादशस्कन्ध के छठे अध्याय में) कहा गया है कि "समाहित ब्रह्म के हृदयाकाश से नाद (अव्यक्त शब्द) प्रकट होता है, वही कानों को बन्द करने पर भीतर

Scanned by CamScanner

सुनायी पड़ता है। उस नाद की उपासना से योगी लोग मोक्ष के अधिकारी होते हैं। उसी नाद से परमात्मा का वाचक सूक्ष्म ॐकार प्रकट होता है।

निद्राकाल में प्रसुप्त जीव इन्द्रियों के लीन होने पर जडप्राय रहता है। उस समय जो शब्द को सुनता है, वही परमात्मा है। इन्द्रियों के लीन होने के कारण जीवों में उस समय शब्दज्ञान की सामर्थ्य नहीं रहती, फिर भी इस देखते ही हैं कि शब्द से जीव जग जाता है। यदि बिना सुने जागरण हो जाय, तब तो मृतकों का भी जागरण हो जाना चाहिए। अतः यह मानना पड़ता है कि जीवों से भिन्न कोई चेतन रहता है। वही शब्द सुनता है और जीवों के प्रारब्ध-कर्म के अनुसार उन्हें सुख-दुःख-भोगार्थ जगा देता है। मृतकों के प्रारब्ध कर्म समाप्त हुए रहते हैं, अतएव उनके जगाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह अनन्त जीवों एवं उनके कर्मों को जानता है, इसीलिये सर्वज्ञ भी है। 'सुषुप्ति में शब्द-श्रवण' उपलक्षण है। जिस-जिस प्रकार सुप्त पुरुष का जागरण होता है, उन सभी प्रकारों का बोध उस चेतन को ही होता है। उस चेतन को नित्य, जागरूक और स्वप्रकाश मानने पर उसके प्रबोधनार्थ अन्य चेतन मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सर्वद्रष्टा को वेदान्तों में स्वप्रकाश ही कहा गया है।

ॐकार उसी परमात्मा का वाचक है और उसीसे सभी वाक्-प्रपञ्च का आविर्भाव होता है। वही सब मन्त्रों तथा वेदों का बीज है। उसी ॐकार के 'अ, उ, म' वर्णों से सत्त्व, रज, तम ; ऋक्, यजुः, साम ; भूः, भुवः स्वर्लोक ; जाग्रत्, स्वप्न,

Scanned by CamScanner

सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। ब्रह्मा ने इसी बीज से वर्णमाला उत्पन्न की। उसने इन्हीं अक्षरों से यज्ञों के लिए 'भूः, भुवः' आदि सात व्याहृतियों एवं प्रणवसहित वेदों का प्रकाशन किया तथा अपने पुत्रों मरीचि आदिकों को वेद पढ़ाया। उन महर्षियों ने अपने पुत्रों को, उन पुत्रों ने भी अपने पुत्रों और शिष्यों को वेद पढ़ाया। ऐसे ही सदा वेदों का प्रचार होता है।

किन्तु परमेश्वर की इच्छा के अनुसार महर्षियों ने कलि-काल में मनुष्यों को अल्पायु एवं अल्पबल समझकर वेदों का विभाग किया। इस वैवस्वत मन्वन्तर में भी धर्मरक्षार्थ देवों की प्रार्थना पर भगवान् विष्णु ने पराशर से सत्यवती में व्यासरूप से आविर्भूत होकर वेदों के चार विभाग किये। जैसे रत्नपरीक्षक रत्नराशि से माणिक्य, हीरक आदि विभिन्न जातियों के रत्नों का अलग-अलग संकलन करता है, वैसे ही वेदों में स्थान-स्थान पर पठित ऋक्, साम, यजुः तथा अथर्वमन्त्रों का पृथक्-पृथक् संकलन कर दिया और अपने शिष्य पैल को 'बह्वृच' नामक 'ऋक्मन्त्र-संहिता', वैशम्पायन को 'निगद' नामक 'यजुर्मन्त्र-संहिता', जैमिनि को 'छन्दोग' नामक 'साम-मन्त्र-संहिता' तथा सुमन्तु को 'अथर्वाङ्गिरसी' नामक 'अथर्व-संहिता' पढ़ायी।

वैशम्पायन के यजुर्वेदी शिष्यगण 'अध्वर्यु' तो कहलाते ही थे। किन्तु गुरु की ब्रह्महत्या-निवृत्ति के लिए व्रत-चरण के कारण वे 'चरक' (व्रत-चरण करनेवाले) भी कहलाने लगे। वैशम्पायन के शिष्य 'याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'अल्पसार ऋषियों का किया हुआ व्रत अपर्याप्त होगा। अतः मैं अकेला ही यह

Scanned by CamScanner

कठिन व्रत करूँगा।' यह सुनकर कुपित हो वैशम्पायन ने कहा—'तुम इन ब्राह्मणों का अपमान करते हो। अतः हमारे पास तुम्हारा कोई काम नहीं है। तुमने मुझसे जो पढ़ा है, उसका त्याग कर दो।' याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन से अधीत शाखाओं को योगबल से उगल दिया। वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने उन शाखाओं को 'तित्तिर' (तीतर) बनकर ग्रहण कर लिया। अतः वे शाखाएँ 'तैत्तिरीय' कहलायीं।

याज्ञवल्क्य ने विचार किया कि व्यास ने यजुर्वेद की १५ शाखाओं को मन्त्रभाग और ब्राह्मण-भाग का विभाग बिना किये पिण्डित रूप से श्रीवैशम्पायन को पढ़ाया है। अतः इन शाखाओं में ठीक विवेक नहीं है। इसलिए मुझे इन शाखाओं का विवेक करना चाहिए। यह विचारकर उन्होंने सूर्य भगवान् की आराधना की। सूर्य भगवान् ने अश्वरूप धारण-कर 'वाज' (वेग) से उन १५ शाखाओं को मन्त्र और ब्राह्मण से पृथक्-पृथक् समझाकर याज्ञवल्क्य को दे दिया। याज्ञवल्क्य ने उन १५ शाखाओं में से १५ संहिता और १५ ब्राह्मण का विभागकर अपने शिष्य काण्व, माध्यन्दिन आदि को पढ़ाया।

इसी तरह 'चरणव्यूह' की 'महिदास-वृत्ति' में उद्धृत विष्णु-पुराण के वचनानुसार भी परमेश्वर की प्रेरणा से वेदव्यास ने वेदों का विभाग किया है। उसी वृत्ति में उल्लेख है :—

"आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसंमितः।
ततो दशगुणः कृत्स्नो यज्ञोऽयं सर्वकामधुक्॥
अत्रैव मत्सुतो व्यासः अष्टाविंशतिमेऽन्तरे।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्पुनः॥"

Scanned by CamScanner

अर्थात् विभाग से पहले परस्पर मिश्रित ऋग्वेदादि का समूह अनन्त संख्यावाला एक ही वेद था। "दशदश तच्छतं दशशतानि तत्सहस्रं अनन्ता वै वेदाः" इस श्रुति के अनुसार निम्नलिखित दस प्रकार के यज्ञ प्रचलित हुए: (१) अग्निहोत्र, (२) दर्शपूर्णमास, (३) चातुर्मास्य, (४) पशु, (५) सोम, (६) ब्रह्मयज्ञ, (७) देवयज्ञ, (८) पितृयज्ञ, (९) भूतयज्ञ और (१०) मनुष्य-यज्ञ। अट्ठाइसवें द्वापर में मेरे पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास ने उस एक वेद का ऋग्वेदादि रूप में चार विभाग किया। 'चरणव्यूह-परिशिष्ट' (३ खण्ड) में यह भी उल्लेख है कि 'सामवेद की सहस्रशाखाओं में से बहुत-सी शाखाएँ अनध्याय में अध्ययन के कारण लुप्त हो गयीं। उनके अध्येताओं को इन्द्र ने बज्र से मार दिया।'

वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के अनुसार यह भी प्रसिद्ध है कि प्रजापति ने आगम-विशुद्धि के लिए शतसहस्र (लक्ष) अध्यायों का 'पितामहस्मृति'नामक ग्रन्थ रचा था। उसीके आधार पर स्वायंभुव मनु ने 'मनुस्मृति', बृहस्पति आदि ने 'बृहस्पति-स्मृति' आदि पृथक्-पृथक् नीतिशास्त्रों की रचना की। उसी आधार पर नन्दी ने सहस्र अध्यायों का कामशास्त्र बनाया।

मनु का कहना है—

"इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादीन्त्वहं मुनीन्॥"

कुल्लूकभट्ट के अनुसार उक्त मनुवचन का यही अर्थ है कि ब्रह्मा ने इस शास्त्र को रचकर सृष्टि की आदि में मुझे विधिपूर्वक पढ़ाया और मैंने मरीचि आदि मुनियों को पढ़ाया।

Scanned by CamScanner

उपर्युक्त सारे कथन का सार यही है कि जिस तरह सहस्रों शाखाओं से अन्योन्य संमिलित वृक्ष की विभिन्न शाखाओं का विवेक साधारण पुरुष को नहीं होता, किन्तु कोई चतुर पुरुष ही उनका विवेक कर सकता है, उसी तरह विभाग के पूर्व अनन्त वेद अन्योन्य सम्मिलित थे—सर्वसाधारण के लिए दुर्गम ही थे। जीवों के हितार्थ जीवग्राह्य शाखाओं का विवेक तो मुक्तिकोपनिषद् आदि वेदों के द्वारा ही किया गया है। "अनन्ता वै वेदाः" इस श्रुति के अनुसार यही समझना चाहिए कि मुक्तिपनिषद् आदि द्वारा वर्णित भेद जीवग्राह्य वेदों के ही हैं। यह गणना भी जाति के ही अभिप्राय से है। अर्थात् ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद इस रूपसे चार जाति के वेद हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि चार पुस्तकों का नाम वेद है, किन्तु पूर्व-निर्देश के अनुसार ग्यारह सौ से भी अधिक शाखाएं जीवग्राह्य हैं। उन में मंत्र-संहिता और ब्राह्मण-भाग पृथक्-पृथक् हैं। तैत्तिरीय की पञ्चदश शाखाएं मिश्रित हैं। परमेश्वर-ग्राह्य वेद तो अनन्त हैं ही।

इस तरह परिगणना-बोधक एवं आनन्त्यबोधक श्रुतियों का अविरोध होगा। जैसे भगवान् नित्य, अनन्त तथा सर्वविषयक ज्ञानवान् हैं, वैसे ही वेद भी नित्य, अनन्त तथा सर्वविषय-प्रकाशक हैं। ईश्वर के अनन्त ज्ञानों में अनुविद्ध अनन्त शब्द-समूह ही वेद हैं। अतएव ऋग्वेदादि की जो शाखाएँ जीवग्राह्य नहीं हैं, केवल ईश्वरग्राह्य हैं, उनकी संख्या मुक्तिकोपनिषद् आदि में नहीं है।

कई लोग तो उक्त गणना को उपलक्षणमात्र मानते हैं।

Scanned by CamScanner

वेद के सभी अवयवों की गणना 'मुक्तिकोपनिषद्' की गणना नहीं हैं, कारण परिमेय की गणना ही मुख्य गणना होती है, अपरिमेय की गणना तो उपलक्षण ही होती है। यदि सभी अवयवों की गणना हो जाय; तो वह 'सान्त होगा, 'अनन्त' नहीं रहेगा। जैसे भगवान् ने अपनी विभूतियों का गीता में वर्णनकर कहा है—

"अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥"

परिमित पदार्थ के अंश भी परिमित ही होते हैं। श्लोकार्थ यह है कि अर्जुन! अथवा इन पूर्वोक्त विभूतियों के ज्ञान से तुम्हें क्या काम है। तुम यही निश्चय करो कि मैं इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश से धारणकर स्थित हूँ। भगवान् में वास्तविक अंश नहीं हैं, कल्पित अंश अनन्त हैं, फिर उनकी गणना संभव ही नहीं है। अतः एक अंश की गणना अपूर्ण अर्थात् उपलक्षण ही है। जैसे दो में एक या तीन में एक यह कथन परिमित में बन सकता है, वैसे अपरिमित में नहीं बन सकता। इस तरह अनन्त वेद की शाखाओं की संख्या उपलक्षण ही है।

पूर्वोद्धृत स्कन्दपुराण-वचन के अनुसार त्रेतायुग के प्रारंभ से ही वेद के अध्ययन-सम्प्रदाय का ह्रास होता है और प्रतिद्वापर व्यास के द्वारा वेद का विभाग होता है। 'व्यास' वेद-विभाग करनेवाले अधिकारी का ही नाम है, व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, यह पूर्वोक्त युक्तियों से सिद्ध ही है। कलियुग के अन्त में पुरुषों की शक्ति और बुद्धि की अत्यन्त न्यूनता के कारण वेद के लुप्त होने से धर्म को और दुर्बल होते देखकर धर्मसंस्थापनार्थ

Scanned by CamScanner

भगवान् कल्कि-अवतार ग्रहण करते हैं और पुनः सत्ययुग की स्थापना होती है। तब से फिर अविभक्त एक ही वेद का प्रचार होता है।

यहाँ क्रम यह समझना चाहिए। प्रथम अविभक्त एक वेद था। व्यास ने उसके 'ऋग्वेद' आदि नामों से चार विभाग किये और पैल को ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, जैमिनि को सामवेद, और सुमन्तु को अथर्व वेद पढ़ाया।

उसके अनन्तर शाखाओं का विभाग हुआ। यह दूसरा विभाग हुआ। प्रत्येक शाखा में मंत्रभाग एवं ब्राह्मणभाग पृथक्-पृथक् एकत्रित नहीं किये गये थे। किन्तु प्रथम कुछ मंत्र, फिर ब्राह्मण, फिर मंत्र, फिर ब्राह्मण, इस तरह मंत्र-ब्राह्मण मिले-जुले थे। शाखाओं की संख्या भी व्यास ने अन्य प्रकार से व्यवस्थित की। मुक्तिकोपनिषद् में ऋग्वेद की २१ शाखाओं में से कुछ-कुछ मंत्र और ब्राह्मण के भागों को निकालकर शिष्यबोध-सौकर्यार्थ तीन शाखाएँ और बढ़ाकर २४ शाखाग्रन्थों का संकलन किया। यजुर्वेद की १०९ शाखाओं में से ८ शाखाओं को अवशिष्ट शाखाओं में ही प्रकरण के अनुसार मिला दिया। इस तरह १०१ शाखाओं का संकलन किया। सामवेद की सहस्र शाखाएँ थीं। उन्हें उतना ही रखा, क्योंकि साम अक्षररूप नहीं, केवल गान-रूप ही है। केवल साम मंत्रों से पृथक् ब्राह्मण को अलग कर दिया दिया। अथर्ववेद की ५० शाखाओं में प्रकरणानुसार अन्योन्य योजनाकर बारह शाखाओं के रूप में संकलित किया।

इसके पश्चात् मंत्रभाग एवं ब्राह्मण भाग का भी विभाजन कर दिया, यह पीछे कहा जा चुका है। यव, घृत, काष्ठादि के

Scanned by CamScanner

तुल्य मंत्र भी ब्राह्मणवाक्यों से नियुक्त होते हैं। ब्राह्मणवाक्यों का पाठ या जप यज्ञ में उपयोगी नहीं होता। उनका वाक्यार्थ-बोध ही यज्ञोपयोगी होता है। किन्तु मंत्रों का पाठ और जप यज्ञोपयोगी होता है। ऋषि, छन्द, देवता का ज्ञान संपादित कर स्वर, गान आदिसहित मंत्रपाठ यज्ञोपयोगी होता है। जैसे प्रोक्षण, अवघात, पेषण, अवेक्षण, उत्पवन आदि संस्कारों से संस्कृत ही यव, घृत आदि द्रव्य यज्ञोपकारी होते हैं, वैसे ही पूर्वोक्त गुणों से युक्त पाठरूप संस्कार से संस्कृत मंत्ररूपी द्रव्य ही यज्ञोपकारी होते हैं। अतः मंत्रों की अध्ययन-व्यवस्था ठीक-ठीक चलने के लिए मंत्रों का पृथक् संकलन किया गया। यजुर्वेद की १५ शाखाओं से अन्य विभक्त शाखाओं के मंत्रों और ब्राह्मणों का पृथक्करण व्यास द्वारा ही किया गया। इस तरह प्रत्येक शाखा में मंत्रभागरूप प्रथमखण्ड का और ब्राह्मणभागरूप द्वितीय खण्ड का संकलन हुआ। प्रत्येक शाखा का मंत्रभाग 'मंत्र-संहिता' कहलाने लगा, और ब्राह्मणभाग 'ब्राह्मण'।

इसी तरह व्यास ने ऋग्वेद की २४ संहिताओं का एक ही 'बह्वृच-संहिता' नाम रख दिया और उसे पैल को पढ़ाया। यजुर्वेद की आठ संहिताओं का 'निगद' नाम रख दिया और वैशम्पायन को पढ़ाया। सामवेद की १००० संहिताओं का 'छन्दोग' नाक रखकर जैमिनि को दिया। अथर्ववेद की १२ संहिताओं का 'अथर्वाङ्गिरसी' संहिता नाम रखकर सुमन्तु को पढ़ाया।

तदन्तर व्यास के अभिप्रायानुसार ही उन लोगों ने शिष्यों, प्रशिष्यों द्वारा पद, क्रम आदि अनेक परिपाटियों द्वारा संहिताओं

Scanned by CamScanner

के कण्ठस्थ करने का संप्रदाय प्रचलित किया गया। यही तीसरा विभाग है।

जिन शाखाओं में व्यास ने मंत्रभाग और ब्राह्मणभाग का विभाग नहीं किया था, उनमें याज्ञवल्क्य ने उक्त विभाग किया। इससे उनमें १५ मंत्रसंहिताएँ हुईं। यही १५ 'वाजसनेयी-संहिता' कहलाती है। अवशिष्ट ८६ संहिताओं को 'तैत्तिरीया' कहते हैं। सब मिलाकर १०१ यजुर्वेद की संहिताएँ सिद्ध होती हैं। याज्ञवल्क्यकृत यह विभाग चौथा विभाग है। अतएव जो यह कहते हैं कि 'केवल चार पुस्तकें ही वेद हैं, शाखाएँ वेद नहीं हैं,' वह उनका नितान्त भ्रम है। वे जिन पुस्तकों को 'वेद' कहते हैं, वे भी शाखाएँ ही हैं। माध्यान्दिनी शाखा, कौथुमी, शाकली, आश्वलायनी ये नाम भी काठक, तैत्तिरीय के समान शाखाओं के ही बोधक हैं।

पूर्वोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि त्रेतायुग से ही वेदों का ह्रास आरंभ हुआ। श्रीउदयनाचार्य ने 'कुसुमाञ्जलि' में यही कहा है—

"जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्॥"

श्रीहरिदास भट्टाचार्य के अनुसार उक्त श्लोक का अर्थ यह है कि पहले संकल्पमात्र से प्रजाएँ उत्पन्न होती थीं, फिर पुत्रेच्छा से मैथुन द्वारा। अब रतिसुख की इच्छा से किये गये मैथुन से ही प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। इस तरह जन्म-ह्रास होता है। पहले चरु में मन्त्रों से संस्कार होता था। उसे भक्षणकर स्त्रियाँ बलवान् सन्तान पैदा करती थीं। फिर गर्भ में संस्कार होने

Scanned by CamScanner

लगा। पश्चात् जन्म होने के पश्चात् संस्कार होने लगा। अब कुछ के कुछ संस्कार होते हैं, कुछ के संस्कार होते ही नहीं। इस तरह संस्कारों का ह्रास होता है। पहले शाखायुक्त चारों वेदों का अध्ययन होता था। फिर प्रति-वेद की एक-एक शाखा का अध्ययन होने लगा। अब एक शाखा में भी किसी अंश का ही कोई अध्ययन करता है, तो बहुत-से लोग बिल्कुल ही वेद नहीं पढ़ते। इस तरह विद्याका ह्रास होता है। पहले उञ्छ-वृत्ति, फिर अयाचित वृत्ति, फिर कृषि-वाणिज्य-वृत्ति और अब सेवा-वृत्ति ही प्रचलित हो रही है। इससे वृत्ति का ह्रास होता है। पूर्व में धर्म के चार चरण (तप, ज्ञान, यज्ञ, दान) थे। त्रेता आदि युगों में क्रमशः एक-एक का ह्रास हुआ। अब कलियुग में अन्तिम दानरूपी चरण है और वह भी दुर्बल है। इस क्रम से धर्म का ह्रास होता है। पूर्व में यज्ञावशिष्ट अन्न का भोजन होता था, पश्चात् आत्मार्थ निर्मित अन्न का भोजन होने लगा। अब म्लेच्छादि से स्पृष्ट एवं उच्छिष्ट का भोजन होने लगा है। इस तरह अध्ययन, याग आदि तथा पुरुष की सामर्थ्य के ह्रास से वेदादिसम्प्रदाय का ह्रास होते-होते कलि के चतुर्थ चरण में उसका पर्याप्त उच्छेद हो जाता है।

पहले अनध्याय में अध्ययन करनेवालों को इन्द्र ने वज्र से मार दिया। अतः साम की सहस्र शाखाओं में बहुत-सी शाखाओं का विलोप हो गया। अवशिष्ट शाखाओं का भी यवनादि के उपद्रवों से नाश हुआ। संस्कृत ग्रन्थों को लकड़ी के स्थान में जला-जलाकर नष्ट किया गया। संस्कृत ग्रन्थों के बड़े-

Scanned by CamScanner

बड़े पुस्तकालयों को जलाया गया। 'इस समय भी वेदविरुद्ध मतों का प्रसारकर, छल-छद्म से वर्णाश्रमियों का धर्मान्तरप्रवेश कराकर, देवालय, तीर्थ, मन्दिर आदि का विनाशकर तथा वेदों का भी विपरीत अर्थकर वैदिक-धर्म का विलोप किया जा रहा है।

वर्तमान समय में ऋग्वेद की २१ शाखाएँ सर्वथा लुप्त हो गयी हैं। जो शाकली, आश्वलायनीया, शांखायनीया, शाखाएँ अवशिष्ट हैं, वे भी पूर्ण नहीं है, किन्तु अर्धलुप्त हैं। शाकली संहिता प्रचलित है, परन्तु उसका ब्राह्मण लुप्त है। आश्वलायनीया शाखा का 'ऐतरेय' नामक ब्राह्मण उपलब्ध है, परन्तु 'संहिता' लुप्त है। अतः अगत्या आश्वलायन शाखावाले भी शाकलीय संहिता ही पढ़ते हैं। शांखायनीया शाखा का 'शांखायन ब्राह्मण' मिलता है, 'संहिता' लुप्त है। इस शाखावाले भी 'शाकली संहिता' ही पढ़ते हैं। लुप्त २१ ऋग्वेदीय शाखाओं में से केवल 'बाष्कल्य संहिता' के कतिपय मन्त्र यज्ञ पद्धति-ग्रन्थों मिलते हैं। इस तरह ऋग्वेद की पूर्णरूप से एक शाखा भी नहीं मिलती।

यजुर्वेद की ८६ शाखाओं को कृष्णयजुर्वेद कहा जाता है। उन्हींकी मन्त्रसंहिताओं का संकलन व्यास ने किया था। जिनके मन्त्र-ब्राह्मणों का विभाजन याज्ञवल्क्य ने किया था, उन १५ शाखाओं को शुक्ल यजुर्वेद कहा जाता है। इन १०१ शाखाओं में ९८ शाखाएँ सर्वथा लुप्त हो गयी हैं, केवल तीन शेष हैं। माध्यन्दिनीया, तथा काण्वीया शुक्लयजुः का है और एक, जिसे 'तैत्तिरीया' कहा जाता है, कृष्णयजुः

Scanned by CamScanner

की है। माध्यन्दिनीया संहिता का 'शतपथ' ब्राह्मण है। इसके मन्त्र और ब्राह्मण दोनों उपलब्ध हैं। इसी तरह काण्वीया संहिता और काण्व ब्राह्मण दोनों उपलब्ध है। इसी तरह तैत्तिरीया संहिता और तैत्तरीय ब्राह्मण दोनों उपलब्ध हैं।

सामवेद की १००० शाखाओं में 'कौथुमीया' एवं 'राणायनीया' दो शाखाएँ अवशिष्ट हैं। अन्य सभी लुप्त हो गयीं। साम के ताण्ड्यब्र, पञ्चविंश, षड्विंश, छान्दोग्य, आर्ष, वंश, सामविधान, देवताध्याय ये आठ ब्राह्मण उपलब्ध हैं, अन्य लुप्त ही हो गये हैं। राणायनीया संहिता काशी एवं कर्णाटक में प्रचलित है, परन्तु उसके ब्राह्मण लुप्त हैं।

अथर्ववेद की १२ शाखाओं में से १० सर्वथा लुप्त हो गयी हैं। पैप्पलादी तथा शौनकीया दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। 'पैप्पलादी' संहिता और 'गोपथ' ब्राह्मण प्रचलित हैं। 'शौनकीया' संहिता उपलब्ध है, ब्राह्मण लुप्त है।

पूर्वोक्त विचार से यह सिद्ध है कि अनन्त वेदों में से जीवग्राह्य वेदभाग की ११३७ शाखाएँ थीं। उनमें ११२७ लुप्त हो गयीं, १० अवशिष्ट हैं। उनमें भी पाँच अर्धलुप्त हैं, तो पाँच शाखाएँ पूर्णरूप से चल रही हैं। लुप्त शाखाओं की बहुत-सी उपनिषदें मिलती हैं। उनके देखने से भी शाखाओं का अनुमान होता है। अतः जो लोग यह कहते हैं कि "वर्तमान उपलब्ध चार, पाँच पुस्तकें ही वेद हैं, अन्य शाखाओं में भी पाठ एवं क्रममात्र का ही भेद था। प्रचलित ब्राह्मणों भी अपेक्षा लुप्त ब्राह्मणों में भी कुछ-कुछ पाठभेदमात्र ही था। अतः सभी लुप्त शाखाओं को प्रचलित शाखाओं के अन्तर्भूत ही समझना चाहिए",

Scanned by CamScanner

वह उनका कथन साहसमात्र है। कारण यह कथन पूर्वोक्त श्रुतियों एवं पुराणों से विरुद्ध है। दूसरे बिना देखे की हुई कल्पना सर्वथा निराधार तो है ही। विपक्ष में कहा जा सकता है कि जैसे लुप्त शाखाओं की उपलब्ध उपनिषदों में भेद है, वैसे ही उन-उन संहिताओं एवं ब्राह्मणों में भी भेद अवश्य होगा, अन्यथा शाखाभेद ही व्यर्थ होगा। इन लोगों के मतों का विस्तृत विवेचन आगे के प्रकरण में किया जायगा। ★ ★

ब्राह्मण-भाग का वेदत्व-विचार : ३ :

वैदिक लोग "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस कात्यायनसूत्र के अनुसार मन्त्रों और ब्राह्मणों दोनों ही को वेद मानते हैं, किन्तु श्रीस्वामी दयानन्दजी प्रभृति ब्राह्मण-भागों के वेद होने का खण्डन करते हैं। प्रश्नोत्तररूप में विचार करते हुए वे कहते हैं कि 'वेद किनका नाम है? मन्त्र-संहिताओं का।' कात्यायन के कथनानुसार ब्राह्मणभाग को भी वेद क्यों नहीं माना जाता, इसके उत्तर में आप कहते हैं कि 'ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हींका नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है। ये ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों के किये हुए वेदों के व्याख्यानरूप हैं। एक कात्यायन को छोड़कर और किसी भी ऋषि ने उनका वेद होना नहीं कहा। ब्राह्मण-भाग देहधारी मनुष्यों के बनाये हैं, अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं है। मन्त्रों की वेदसंज्ञा इसलिए है कि वे ईश्वररचित और सब विद्याओं के मूल हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में

Scanned by CamScanner

लौकिक मनुष्यों के नामोल्लेखसहित इतिहास पाये जाते हैं। इसलिए उनकी मनुष्यों द्वारा रचना साफ मालूम पड़ती है; परन्तु मन्त्रों में ऐसा कोई इतिहास नहीं है, जिससे उनकी नवीनता सिद्ध हो।'

इसपर कहा जा सकता है कि 'जैसे 'शतपथ', गोपथ' आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के आख्यान मिलते हैं, वैसे ही मन्त्रों में भी मनुष्यों के नाम आते हैं। जैसे—

"त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषम् तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥"

फिर मन्त्र भी वेद कैसे हुए?' इस शंका का समाधान करते हुए आप यह कहते हैं कि "जमदग्नि, कश्यप आदि देहधारी मनुष्यों के नाम नहीं हैं, किन्तु "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, कश्यपो वै कूर्मः, प्राणो वै कूर्मः" इत्यादि ब्राह्मण-वचनों के अनुसार चक्षु का नाम 'जमदग्नि' है और प्राण का नाम 'कश्यप'। अतः प्राण से अन्तःकरण और चक्षु से बहिरिन्द्रियों का ग्रहण है। तथाच उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ यह हुआ कि हे जगदीश्वर! आपके अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और चक्षु आदि इन्द्रियों की तीन सौ वर्ष तक आयु बनी रहे। जैसे देवों अर्थात् विद्वानों की आयु विद्यादि शुभगुणों और आनन्द से युक्त होती है, वैसे ही हम लोगों की भी हो।

"त्र्यायुष इत्यादि से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण, चतुर्गुण आयु भी प्राप्त कर सकता है। अतः वेदों में सत्य अर्थों के वाचक शब्दों से सत्य

Scanned by CamScanner

विद्याओं का प्रकाश होता है, लौकिक इतिहासों का नहीं। सायणाचार्य आदिकों ने जो वेदों में इतिहास का वर्णन किया है, वह मिथ्या ही है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का ही इतिहास-पुराणादि नाम समझना चाहिए। भारत भागवतादि को इतिहासादि नहीं समझना चाहिए। ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों में इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी इत्यादि वचन देखने में आते हैं। अथर्ववेद में भी "स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् तमितिहासश्च पुराणञ्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्" इत्यादि वचनों में ये नाम आते है।"

इन पुराणादिकों को भागवतादि की ही संज्ञा क्यों न मानी जाय? इस प्रश्न के उत्तर में भी आप कहते हैं कि "भागवतादि के पुराण होने में कोई प्रमाण नहीं है। उनमें अनेक परस्पर विरोध, कलह असम्भव और मिथ्या कथाओं का उल्लेख मिलता है। अतः वे इतिहासादिरूप से कथमपि ग्राह्य नहीं हैं, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही इतिहास आदिकों का अन्तर्भाव है। 'देवाश्च असुराश्च संयत आसन्' (देव विद्वान्, असुर, मूर्ख, ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए) इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है। जिसमें जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है, वह ब्राह्मणभाग पुराण है। जैसे "सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' (हे सौम्य, सृष्टि के पहले यह सब कुछ सत्पदवाच्य परमात्मा ही था)। ऐसे ही मन्त्र के अर्थ को सामर्थ्य को प्रकाशित करनेवाले ब्राह्मण ही 'कल्प' हैं। जैसे—"सविता वै देवानां प्रसविता" (देवों का प्रसविता ही है)। सविता जनक, याज्ञवल्क्य आदिकों के संवादों को वर्णन करने-

वाला ब्राह्मण ही 'गाथा' है। नर द्वारा ईश्वरधर्मों की या नरों की प्रशंसा करनेवाला ब्राह्मण ही 'नाराशंसी' है। इस तरह ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही ये सब तरह के वचन आ जाते हैं। अतः इन्हींको इतिहास-पुराणादि समझना चाहिए!

"वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्" इस 'न्यायसूत्र' के वात्स्यायन-भाष्य में कहा गया है कि "प्रमाणं शब्दः, यथा लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः" अर्थात् जैसे लौकिक वाक्यों का त्रैविध्य होता है, वैसे ही उनका भी तीन प्रकार विभाग होता है। अतः ब्राह्मण भी लौकिक ही हैं। "विध्यर्थवादानुवादवचन-विनियोगात्" तीन प्रकार का ब्राह्मणवचन होता है। "देवदत्तो ग्रामं गच्छेत् सुखार्थम्" (देवदत्त सुख के लिए गाँव जाय) इस लौकिक वाक्य के समान "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" (स्वर्ग की कामना करनेवाला प्राणी अग्निहोत्र करे) यह विधिवचन है। दूसरा अर्थवाद होता है। उसके चार प्रकार हैं। पहला स्तुति – पदार्थों के गुणों के प्रकाशन करने को कहते हैं, जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम कर्म करने एवं गुणों के ग्रहण करने में होती है। दूसरा निन्दा—बुरे कर्म करने में दोषों को दिखलाना, जिससे उनमें किसीकी प्रवृत्ति न हो। तीसरा परकृति—जैसे चोर ने बुरा किया, उसे दण्ड मिला। अमुक व्यक्ति ने उत्तम कर्म किया, इससे उसकी उन्नति और प्रतिष्ठा हुई। चौथा पुराकल्प—जैसे याज्ञवल्क्य आदिकों का जनकसभा में शास्त्रार्थ आदि-इतिहास। ब्राह्मण के विधि, अर्थवाद इन दो भागों के अतिरिक्त तीसरा भाग 'अनुवाद' कहलाता है। जिसका पूर्व विधान किया गया हो, उसीका स्मरण और कथन करना 'अनुवाद' है। वह

Scanned by CamScanner

दो प्रकार का होता है। एक शब्दानुवाद और दूसरा अर्थानुवाद। जिस शब्द या अर्थ का द्वितीय बार उच्चारण होता है, उसे अनुवाद कहते हैं।

"इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्" अर्थात् जिसका प्रवक्ता निर्दिष्ट नहीं है, प्रवाद-परम्परा से जो चल रहा है, उसे ही 'ऐतिह्य' कहते हैं। इन प्रमाणों से इतिहासादि नामों द्वारा ब्राह्मण-भागों का ही ग्रहण होना उचित है; भारत, भागवतादि का नहीं। ब्राह्मण वेद-व्याख्यान ही हैं, वेद नहीं। कारण 'इषे त्वोर्जेत्वेति' इस तरह मन्त्रों का प्रतीक रखकर ब्राह्मणों में उनका व्याख्यान किया गया है। इस तरह ब्राह्मणों का व्याख्यान मन्त्रों में नहीं है। महाभाष्य में भी लोक और वेद के भिन्न-भिन्न उदाहरणों को देते हुए लोक के 'गौरश्वः', वेद के "शन्नो देवीरभीष्टये" आदि मन्त्रों के उदाहरण दिये गये हैं। वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया गया। जो लोक के उदाहरण हैं, वे ब्राह्मणों के ही पाठ हैं।

"द्वितीया ब्राह्मणे" (१।२।६), "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" (२।३।६२), "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" (३।४।१०५) इन सूत्रों में पाणिनि ने भी ब्राह्मणों को वेद से अन्य कहा है। तीसरे सूत्र में ब्राह्मण कल्पग्रन्थों को ब्रह्मा आदि पुराने ऋषियों द्वारा प्रोक्त बतलाया गया है। ये ग्रन्थ वेद के व्याख्यान हैं। उन्हींका नाम पुराणादि भी है। यदि छन्द और ब्राह्मण की वेद-संज्ञा महर्षि को इष्ट होती, तो द्वितीय सूत्र में छन्दोग्रहण व्यर्थ ही होता; क्योंकि ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति से ही काम चल सकता था। अतः चतुर्वेदविद् ब्राह्मणों से लिखे गये वेदव्याख्यान ही

Scanned by CamScanner

'शतपथ' आदि ब्राह्मण हैं। यद्यपि ईश्वरोक्त न होने से ये वेद के समान स्वतः प्रमाण नहीं हैं, तथापि परतः प्रमाण योग्य हैं।"

इस तरह श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती ने ब्राह्मण-भागों के वेद न होने में कई कारण बतलाये हैं। जैसे--

(१) ब्राह्मण की इतिहास-पुराण संज्ञा है। (२) इसमें वेदार्थ का व्याख्यान है। (३) यह ऋषियों द्वारा रचित है। (४) कात्यायन से अन्य ऋषियों ने इसकी वेदसंज्ञा नहीं मानी। और (५) इसकी रचना मनुष्य-बुद्धि के अनुसार है।

समाधान—इसमें प्रथम हेतु पर विचार करें, तो इसकी अयुक्तता स्पष्ट प्रतीत होती है। जब कि एक ही व्यक्ति की घट, कलश, द्रव्य आदि अनेक संज्ञाएँ होती हैं, तो ब्राह्मणभाग की इतिहास, पुराणसंज्ञा मान भी ली जाय, तो भी वेद-संज्ञा होने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती। अर्थात् ब्राह्मणभाग को वेद और इतिहास पुराण भी कहा जा सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि 'जब भारतादि इतिहासों और पाद्मादि पुराणों में वेदशब्द का व्यवहार नहीं होता, तो इतिहास-पुराण-शब्द के साथ वेदशब्द के व्यवहार का विरोध स्पष्ट ही है। अतः ब्राह्मणभाग की इतिहास-पुराणसंज्ञा के साथ वेदसंज्ञा नहीं हो सकती।' किन्तु यह कथन तो उसीके लिए समुचित है, जो भारत-पाद्मादि को इतिहास-पुराण मानता है। जो भारतादि को इतिहास मानता ही नहीं, वह उपर्युक्त कथन का अधिकारी नहीं।

यह कहा जायगा कि 'हम लोग यद्यपि भारतादि को को इतिहासादि नहीं मानते, तथापि वादी मानता हुआ भी

Scanned by CamScanner

उन्हें वेद नहीं मानता। अतः उसके प्रति यह विरोध दिखलाना संगत ही है।' परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि बाद में उन्हीं हेतुओं का प्रयोग उचित होता है, जो वादी-प्रतिवादी दोनों को सम्मत हों। ऐसी स्थिति में जबतक वादी भारतादि को इतिहास नहीं मान लेता, तबतक उसके सहारे विरोध दिखाने का उसे कोई अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणभाग की जो इतिहास-पुराण संज्ञा कही गयी है, वह भी प्रतिवादी को सनातनियों के प्रति अभीतक असिद्ध है।

कहा जाता है कि 'ब्राह्मणभाग प्राचीन और ऐतिहासिक अर्थ का प्रतिपादन करता है, अतः उसकी पुराणेतिहाससंज्ञा माननी युक्त है।' किन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि आस्तिकों के सिद्धान्तानुसार जब वेद सार्वकालिक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, तब वे प्राचीन अर्थों का भी प्रतिपादन कर ही सकते हैं। फिर इतने मात्र से उनकी पुराण-संज्ञा हो जाय, तो कोई हानि नहीं। अर्थात् वेदों में वेदत्व और पुराणत्व दोनों संज्ञाओं के रहने पर भी कोई दूषण नहीं है। यदि वेदसंज्ञा से पुराणादि-संज्ञा का विरोध माना जाय, तब तो "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" इत्यादि मन्त्र में वेदत्व न रह सकेगा; क्योंकि ये भी प्राचीन अर्थ के प्रतिपादक हैं, अतएव पुराणसंज्ञक हो जायँगे। यदि यह मन्त्र प्राचीनार्थ प्रतिपादक होने से पुराण-संज्ञक होने पर भी वेद हैं, तब तो ब्राह्मण-भाग भी पुराणसंज्ञक होने पर भी वेद संज्ञक ही कहलायेंगे।

जो यह कहा जाता है कि 'ब्राह्मण-भाग से पृथक् इतिहास-

Scanned by CamScanner

पुराणादि नहीं हैं', वह आर्ष-सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं, क्योंकि "समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः" इस न्यायदर्शन के (४ अ० १ आ० ६२ सू०) सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन महर्षि ने इतिहास पुराण को भी प्रमाण माना है—"चातुराश्रम्यविधानाच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्रेषु एकाश्रम्यानुपपत्तिः।"—ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के विषय में इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि प्रमाण हैं। "तदप्रमाणमिति चेन्न। प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणश्च प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते। ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदन्, इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति।" अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि इतिहास-पुराण प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि प्रमाणभूत ब्राह्मण से इतिहास-पुराण का प्रामाण्य स्वीकृत है। अथर्वाङ्गिरस लोग भी इतिहास-पुराणों का प्रामाण्य यों कहते हैं, कि इतिहास-पुराण चारों वेदों का पाँचवाँ वेद है। यागादि मन्त्र-ब्राह्मणों के विषय हैं। प्राचीन वृत्तान्तादि इतिहास-पुराणों के विषय हैं, अपने-अपने विषय में वे सभी प्रमाण हैं। जो ऋषि मन्त्र-ब्राह्मणों के द्रष्टा हैं, वे ही इतिहास-पुराणों के पढ़ने-पढ़ानेवाले हैं। अतः इतिहास-पुराणों का प्रामाण्य दृढ है। यदि वात्स्यायन मुनि ब्राह्मणों को ही इतिहास-पुराण समझते होंते, तो उनके अप्रामाण्य को आशंकाकर प्रमाणभूत ब्राह्मण-वचन से उनका प्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयत्न क्यों करते? अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मण-भाग से अतिरिक्त भारत-भागवतादि ही इतिहास-पुराण-रूप से मान्य हैं और वात्स्यायन भाष्य को प्रमाण मानकर उसे प्रमाणरूप से श्रीदयानन्दजी ने उद्धृत किया है। फिर ब्राह्मण को ही ब्राह्मण के प्रामाण्य में उद्धृत करना असंगत भी

Scanned by CamScanner

है। अतः प्रथम हेतु सर्वथा निर्मूल और आर्ष-सिद्धान्त से विरुद्ध है।

अब 'वेद-व्याख्यान होने से ब्राह्मण-भाग वेद नहीं है' इस द्वितीय हेतु पर विचार करें, तो ज्ञात होता है कि वह भी असंगत है। इस अनुमान का आकार यही होता है कि "ब्राह्मणानि न वेदाः, वेदव्याख्यानरूपत्वात्।" इस अनुमान में हेतु भी अनैकान्तिक है अर्थात् कहीं मन्त्र भी अन्य मन्त्र का व्याख्यान करते हैं और जब वे वेद माने जाते हैं, तो ब्राह्मणों ने क्या अपराध किया, जो वेद-व्याख्यान करने से ही वे वेद न माने जायँ?

वेदपद से कहे जानेवाले वाक्य-कलाप का पदान्तर से अर्थ-कथन करना ही व्याख्यान है। ऐसा वेद व्याख्यान मन्त्र में भी देखा जाता है। जैसे—

"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परितो बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥"

—(यजु० २३ अ० ६५ मं०)

इस मन्त्र का व्याख्यान करनेवाला दूसरा मन्त्र यह है—

"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परितो बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥"

—(ऋग्वेद अष्टक ८ अ० ७ व० ५)

यद्यपि दोनों मन्त्र परस्पर भिन्न हैं, प्रथम मन्त्र में "विश्वा रूपाणि', द्वितीय में 'विश्वा जातानि' यह शब्दभेद है; तथापि इतने भेदमात्र से अर्थ का भेद नहीं हो सकता। किन्तु इनका अर्थ एक ही है। इस तरह मंत्र का व्याख्यान मंत्र भी होता है। इसी तरह—

Scanned by CamScanner

"नवो नवो भवति जायमानोऽह्नाङ्केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो विदधास्यायन् प्रचन्द्रस्तिरते दीर्घमायुः ॥"

यह अथर्वण मन्त्र है। और—

"नवो नवो भवति जायमानोऽह्नाङ्केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥"

यह मन्त्र ऋग्वेद का है। यहाँ भी वेदपदों का पदान्तर से अर्थकथनरूप व्याख्यान कहा जा सकता है।

इसी प्रकार शुक्लयजुर्वेद के 'पुरुषसूक्त' या 'अथर्व पुरुष-सूक्त' व्याख्यान है, क्योंकि दोनों के यहाँ एवं वाक्यों में पर्याप्त अन्तर होते हुए भी तात्पर्य एक ही है। वस्तुतस्तु वेदव्याख्यान-रूप होने पर भी अपौरुषेयता के कारण इन मन्त्रों को वेद कहा जाता है। जिस ग्रन्थ का कोई कर्ता स्मर्यमाण नहीं और सम्प्रदाय-परम्परा से जिसका अविच्छिन्न पठन-पाठन चला आ रहा हो, उसी ग्रन्थ को वेद कहा जाता है। मन्त्र-ब्राह्मण दोनों में यह बात तुल्य ही है। अतः मन्त्र के समान ब्राह्मण भी वेद ही है। किसी वाक्य का कर्ता न होने से ही उसे वेद कहा जाता है। अतएव ऋगादि वेद कहलाते हैं, भारतादि नहीं।

जैसे व्याख्यानरूप न होना वेद होने का साधक नहीं है, वैसे व्याख्यानरूप होना वेद होने में बाधक भी नहीं। यदि व्याख्यानरूप न होने से ही किसी ग्रन्थ का वेदत्व हो, तब तो सभी दर्शन-सूत्रों को वेद कहा जा सकेगा। किन्तु यह किसी भी वैदिकों को सम्मत नहीं है। अतः व्याख्यानरूप होने से ब्राह्मण-भाग की वेद-संज्ञा कथमपि नहीं मिटायी जा सकती।

अतएव 'व्याख्यानरूपत्वात्' यह हेतु सोपाधिक भी है। जो

Scanned by CamScanner

साध्यव्यापक होकर साधन का अव्यापक हो, वही उपाधि है। प्रकृत में 'स्मर्यमाणकर्तृकत्व' उपाधि है। जहाँ-जहाँ तुम्हारा साध्य 'वेदत्वाभाव' है, वहाँ-वहाँ स्मर्यमाणकर्तृत्व' है; जैसे—महाभारतादि। इनके कर्ता व्यासदेव स्मर्यमाण हैं और वे वेद भी नहीं है। वेदव्याख्यानरूप हेतु पूर्वोक्त मन्त्रों में भी रह गया, परन्तु वहाँ स्मर्यमाणकर्तृत्व नहीं है। ऐसी स्थिति में उपाध्यभाव-रूप हेतु से ब्राह्मण में साध्याभाव अर्थात् वेदत्व का अनुमान कर लिया जायगा। जैसे—"ब्राह्मणानि वेदाः स्मर्यमाणकर्तृकत्वाभावात्।" (ब्राह्मण-वेद हैं, उनके स्मर्यमाण कर्ता के न होने से । इस तरह पूर्वोक्त अनुमान अपने आप ही खण्डित हो जाता है।

इसी तरह 'ऋषिभिरुक्तत्वात्' (ऋषियों से उक्त होन से ब्राह्मण-भाग वेद नहीं है) यह तीसरा हेतु भी असंगत ही है, क्योंकि यदि ऋषि से उक्त होना ही वेदत्व का बाधक है, तब तो ऋगादि मन्त्र भी ऋषि से उक्त हैं। कारण, उनका भी अनादि काल से पठन-पाठन ऋषियों द्वारा ही चला आ रहा है। अतः ऋष्युक्तत्व ब्राह्मणों के वेदत्व का बाधक नहीं है। यदि 'उक्त' का अर्थ 'रचित' है, तब तो ब्राह्मण-भाग का ऋषियों से रचित होना ही असिद्ध है, फिर उससे साध्य की सिद्धि कैसे होगी? यदि भरद्वाज, अंगिरा, पुलह, याज्ञवल्क्य, जनक आदि का संवाद देखकर ब्राह्मणों को ऋषियों से रचित मानना इष्ट है, तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि वेदों की वेदना ही इसीमें है कि वे अतीत, अनागत, वर्तमान, सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट सब वस्तुओं को स्वयं जानते हैं और दूसरों को जानते हैं—"भूतं भवद्भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।"

अतएव प्रतिशाख्य में कात्यायन ने कहा है कि लौकिक

वाक्यों का उच्चारण अर्थ-पूर्वक (अर्थ के अनुसार) होता है। प्रयोक्ता जिस वाक्य से अर्थ का बोध कराना चाहते हैं, उस अर्थ को समझकर उसके अनुसन्धान से ही वाक्यों की रचना करते हैं। परन्तु वैदिक वाक्यों का प्रयोग अर्थपूर्वक नहीं हो सकता ; क्योंकि वेद नित्य है, उसके अर्थ सृष्टि-प्रलयादि अनित्य है। सारांश, लौकिक वाक्य और आख्यायिकाओं को घटना-पूर्वक कहा जा सकता है। वैदिक वाक्य या आख्यायिका तो अर्थ की सर्वथा अपेक्षा न करके सब समाचारों को ज्ञापन करती हैं। जब ऋषियों में भी अर्थनिरपेक्ष भविष्यत् बात कहने की सामर्थ्य होती है, तो फिर ईश्वरनिःश्वासभूत वेदों के लिए तो कहना ही क्या ? साधारण लोग अर्थानुसारी शब्द बोलते हैं, परन्तु असाधारण ऋषि लोगों के तो शब्दों का अनुसरण अर्थ करते हैं—

"लौकिकानामृषीणां तु वागर्थमनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥"

अतः यदि वेद में कोई संवाद आ जाय, तो इतने से ही उसकी अनादिता का निराकरण नहीं हो सकता। क्योंकि अनादि वेदों से भी भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल की वस्तु कही जाती है। यदि यह सिद्धान्त न माना जाय, तब तो "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इस संहिता-मन्त्र में भी अवेदत्वापत्ति आ जायगी। क्योंकि जैसे जनकादि का संवाद देखकर ब्राह्मणभागों को संवाद के पश्चात् ऋषियों का बनाया मानकर उनके वेदत्व का खण्डन किया जाता है, वैसे ही मन्त्र से पूर्वकल्प के समान सूर्य, चन्द्रमा की सृष्टि देखकर यह भी कल्पना की जा सकती है

Scanned by CamScanner

कि सूर्य-चन्द्र की सृष्टि के बाद किसीने इन मन्त्रों को बनाया होगा। फिर उसकी अनादिता, अपौरुषेयता सुतराम् खण्डित हो जाती है। यदि उक्त कल्पना का खण्डनकर मन्त्रभागों का वेदत्व सिद्ध हो सकता है, तो उसी तरह ब्राह्मणभागों की वेदता भी निर्विघ्न सिद्ध हो जाती है। अर्थात् जैसे चन्द्र-सूर्य की सृष्टि का वर्णन होने पर भी मन्त्रों का सृष्टि के पश्चात् निर्माण न मानकर यही माना जाता है कि वेद अर्थपूर्वक नहीं होते, किन्तु अर्थ-निरपेक्ष अतीत, अनागत सभी अर्थों का वर्णन करते हैं, तो यही स्थिति ब्राह्मण-भागों की भी है। फिर उनके वेदत्व में क्यों शंका हो ?

चतुर्थ हेतु 'अनीश्वरोक्तत्व' है। किन्तु यह तीसरे से ही गतार्थ है। यदि उपर्युक्त हेतु का अर्थ यह लगाया जाय कि 'ईश्वर-रचित न होने से ब्राह्मण-भाग वेद नहीं है', तो सनातनियों को यह हेतु स्वीकृत ही नहीं है, क्योंकि वे तो मन्त्रों को भी ईश्वर-रचित नहीं मानते। अतः ब्राह्मण का ईश्वररचित न होना उन्हें मान्य ही है, परन्तु यह ईश्वर-रचित न होना वेदत्व का बाधक नहीं है। नैयायिक आदि तो जैसे मन्त्र को ईश्वररचित मानते हैं, वैसे ब्राह्मण को भी ईश्वररचित ही मानते हैं।

'कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्' (कात्यायन-भिन्न ऋषियों ने ब्राह्मण-ग्रन्थ को वेद नहीं माना; अतः वे वेद नहीं है) इस चतुर्थ हेतु का उपन्यास करना बड़े साहस की बात है, क्योंकि "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस रूप से आपस्तम्ब महर्षि ने यज्ञपरिभाषा-सूत्रों में स्पष्ट ही ब्राह्मण को वेद माना है। इसके अतिरिक्त सर्ववैदिक-शिरोधार्य पूर्व-

मीमांसादर्शन में "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, शेषे ब्राह्मणशब्दः" इन दो सूत्रों से स्पष्ट कहा है कि यज्ञ-क्रिया के स्मरण करानेवाले वेद-भाग को 'मन्त्र' कहा जाता है और उससे अवशिष्ट वेदभाग को ब्राह्मण' कहा जाता है। यदि ब्राह्मण वेद का भाग न होता, तो उसको मन्त्र की अपेक्षा शेष (अवशिष्ट) कैसे कहा जाता? जैसे रामायण को महाभारत की अपेक्षा शेष नहीं कहा जाता, वैसे ही यदि ब्राह्मण वेद से स्वतन्त्र ग्रन्थ होता, तो उन्हें वेदैकदेश मन्त्रों का शेष न कहा जाता। इसलिए यह बात सिद्ध होती है कि वेद के मन्त्र और ब्राह्मण दो भेद हैं। शबरस्वामी भी यही कहते हैं कि मन्त्र का लक्षण कह देने पर ब्राह्मण लक्षण के कथन की आवश्यकता नहीं रहती। जब मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद हैं, तो जिसमें मन्त्र का लक्षण न घटता हो, उसी वेदभाग को ब्राह्मण समझ सकते हैं—यह परिशेषन्याय से सिद्ध है।

जैमिनि महर्षि पूर्वोक्त दोनों सूत्रों से सम्पूर्ण वेद का लक्षण बतलाकर उक्त वेद के ऋक्-साम-यजुर्मन्त्रभाग के लक्षणों को तीन सूत्रों से कहते हैं—"तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।" अर्थात् ऋक् उसे कहते हैं, जिसमें पाद (चरण) व्यवस्था होती है। "गीतिषु सामाख्या"। उक्त दोनों भागों से अन्य भाग को यजुः कहते हैं। यदि मन्त्र-भाग ही वेद होता, तो मन्त्र के लक्षण कहने के बाद ही ऋगादि का लक्षण कहते। मन्त्र और ऋगादि के लक्षणों के बीच ब्राह्मण का लक्षण कहना वेदैकदेश मन्त्र के समान ही ब्राह्मण को भी वेदैकदेश सिद्ध करना है। अतएव "स्वर्गकामो यजेत", "न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्यादि धर्माधर्म का बोध करानेवाले विधि निषेध ब्राह्मणभाग में ही आते हैं। अपौरुषेय वेद होने से

ही इनका प्रामाण्य मानकर धर्माधर्म की व्यवस्था की जाती है। मन्त्रों में प्रायः विधि-निषेध हैं ही नहीं। अतः उनसे धर्माधर्म का ज्ञान हो ही नहीं सकता। अतएव मन्त्र भी ब्राह्मण-वचनों से ही भिन्न-भिन्न कार्यों में विनियुक्त होते हैं।

वैशेषिक-दर्शन के महर्षि कणाद कहते हैं—"बुद्धिपूर्वा वाक्य-कृतिर्वेदे" अर्थात् लौकिक वाक्यों के समान ही वैदिक वाक्यों की रचना किसी स्वतन्त्र पुरुष द्वारा की हुई है और उस रचना को अस्मदादि कोई पुरुष नहीं कर सकता, क्योंकि हम लोग वेद-वाक्यों के बिना यह नहीं जान सकते कि याग स्वर्ग का कारण-है या नहीं, तो 'स्वर्गकामो यजेत' जैसे वाक्यों की रचना कैसे कर सकते हैं? अतः कोई निर्दोष, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र पुरुष वेद का कर्ता है। "ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिर्लिङ्गम्" अर्थात् जैसे लोक में पिता अपने पुत्र का चैत्र आदि नाम रखता है, वैसे ही ब्राह्मण नामक वेदभाग में "उद्भिदा यजेत", "अभिजिता यजेत", "बलभिदा यजेत", "विश्वजिता यजेत" आदि वाक्यों से उन-उन यज्ञों के उद्भिदादि नाम रखे गये हैं। नामकरण स्वतन्त्र का काम है। हम लोग अलौकिक वस्तु को जान ही नहीं सकते, तो नामकरण कैसे कर सकते हैं? इससे सिद्ध होता है कि उद्भिदादि नाम रखने-वाला परमेश्वर ही वेद का कर्ता है। इन दोनों सूत्रों से स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि महर्षि कणाद को ब्राह्मण-भागों में वेदसंज्ञा इष्ट है।

कहा जा सकता है कि 'पहले सूत्र में 'वेद' और दूसरे सूत्र में ब्राह्मण' शब्द आने से यही मालूम पडता है कि वेद से ब्राह्मण पृथक् ही हैं' परन्तु यह कथन ठीक नहीं, कारण इस प्रकार

में महर्षि ने संसार के मूल कारण धर्माधर्म की परीक्षा की है। धर्म-अधर्म वेद से ही ज्ञात होते हैं। कणाद-मत में वेदों का स्वतःप्रामाण्य नहीं है, किन्तु आप्तोक्त होने से ही वेदों का प्रामाण्य होता है। यथार्थज्ञानवान् वक्ता को ही आप्त कहते हैं। अर्थात् यथार्थ ज्ञान होने से जिस वाक्य की रचना होती है, वही वाक्य प्रमाण होता है। इसी रीति से प्रथम वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए मुनि ने पहले परमेश्वर के यथार्थ ज्ञान को सिद्ध किया। उस यथार्थ ज्ञान की सिद्धि मन्त्र-ब्राह्मण-रूप सम्पूर्ण वेद की रचना से ही सिद्ध होती है। प्रथम सूत्र में वेदशब्द सामान्यरूप से कहा और दूसरे सूत्र में विशेष रूप से ब्राह्मण का नाम लिया। क्योंकि ब्राह्मणभाग में प्रायः नाम आते हैं। इसी कारण नाम रखने के अनुसार भी उक्त यथार्थ ज्ञान सिद्ध करने के लिए ब्राह्मण शब्द कहा। अतः दोनों सूत्रों से ब्राह्मण का वेद होना सिद्ध होता है। भारत में चारों पुरुषार्थों का वर्णन है और मोक्ष-धर्म में मोक्ष का निरूपण है। इस तरह महाभारत से पृथक् मोक्षधर्म का नाम लेने से जैसे यह सिद्ध नहीं होता कि मोक्षधर्म महाभारत का प्रकरण नहीं है, वैसे ही वेद-सामान्य की रचना से और वेद के ब्राह्मण-भागस्थ नामों के रखने से परमेश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होती है। अतः इस कथन से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि ब्राह्मण वेद का भाग नहीं है।

सभी आस्तिक धर्माधर्म में वेद का ही प्रामाण्य अङ्गीकार करते हैं, और कोई भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं। फिर धर्माधर्म-परीक्षा प्रकट करके वेद से अन्य का प्रमाण रूप से नाम लेना भी सङ्गत नहीं है। ब्राह्मणभागों के वचनों का उन्होंने स्पष्ट ही

Scanned by CamScanner

प्रमाण दिया है। अतः ब्राह्मण भागों को वेद मानना उनको मान्य ही है। 'कात्यायन से अन्य ऋषियों ने ब्राह्मण को वेद नहीं माना' यह कहने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे कात्यायन को झूठा या वञ्चक मानते हैं। किन्तु जबतक 'ब्राह्मण वेद नहीं हैं' इस विषय में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया जाता—'ब्राह्मण वेद नहीं हैं' ऐसा किसी भी पुरुष का वचन दिखलाया नहीं जा तबतक 'ब्राह्मण वेद नहीं है'—यह कहना कितना साहस है, यह कोई भी समझ सकता है। वस्तुतस्तु कात्यायन के "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस सिद्धान्त को ही सभी महर्षियों ने माना है।

"मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्" यह पञ्चम हेतु भी अकिञ्चित्कर है। जब ब्राह्मणभाग में मनुष्य-बुद्धिरचितत्व सिद्ध हो जाय, तभी उस हेतु से ब्राह्मणों का अवेदत्व सिद्ध किया जा सकता है। जब मनुष्यरचितत्व ही असिद्ध है, तब अवेदत्व की आशा भी दुराशामात्र है। महर्षि गौतम के न्यायदर्शन में "तदप्रामाण्य-मनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः" इस सूत्र से और वात्स्यायन ने अपने भाष्य में 'स्थूणानिखनन' न्याय से वेदों के अप्रामाण्य की शंका की है। उस अवसर पर 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत", "अग्निहोत्रं जुहुयात्", "उदिते होतव्यम्", "अनुदिते होतव्यम्" "त्रिःप्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इत्यादि ब्राह्मणभाग के ही उदाहरण दिये हैं। यदि ब्राह्मण वेद न होते, तो वेद के अप्रामाण्य दिखलाने के लिए ब्राह्मण का अप्रामाण्य दिखलाना स्पष्ट ही कर्ण-स्पर्श से कटिचालन के समान असङ्गत होता। लोक में कोई भी बुद्धिमान् "मैत्र की बात पर विश्वास मत करो" इस बात की सिद्धि के लिए चैत्र-

Scanned by CamScanner

वाक्य को मिथ्या नहीं सिद्ध करता। भाष्यकार कहते हैं—पुत्रेष्टि समाप्त होने पर भी पुत्रजन्म नहीं होता। दृष्टार्थ वाक्य के मिथ्या होने पर "अग्निहोत्रं जुहुयात्" यह अदृष्टार्थक वाक्य भी मिथ्या सिद्ध होता है। इसी तरह विहित व्याघात, पुनरुक्त दोषों से भी वेद का प्रामाण्य नहीं है। उदित होम करें, अनुदित होम करें और समयाध्युषित होम करें इत्यादि पक्षों का विधान और "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति', श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति" इत्यादि वचनों से उन पक्षों में दोष भी दिखलाये गये हैं। इन कारणों से वेदों के अप्रामाण्य की शंका की गयी है। "विध्यर्थवादानुवाद-वचनविनियोगात्" इस वचन से भी वाक्यविभाग का वर्णन करते हुए ब्राह्मण के ही अनेक भेद दिखाये गये हैं।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि न्यायसूत्रकार और न्याय भाष्यकार ने यह पूर्वपक्ष दिखलाया है। सिद्धान्त में समाधान करने के लिए ही पुत्रेष्टि करने पर भी जहाँ पुत्रोत्पत्ति नहीं होती, वहाँ कर्ता, क्रिया और साधनों की विगुणता की कल्पना करनी चाहिए। जैसे किसी वैज्ञानिक द्वारा आविष्कृत यन्त्र के निर्माण या सञ्चालन में वैज्ञानिक की निर्दिष्ट पद्धति के विपरीत एक छिद्र या कीली की कमी-बेशी आदि त्रुटियों के कारण प्रयत्न विफल होता है, ठीक वैसे ही वैदिक विधि के अनुसार पुत्रेष्टि करने पर ही पुत्र हो सकता है, अन्यथा नहीं। पुत्रेष्टि ठीक होने पर भी यदि पत्नी वन्ध्या और पति निर्वीर्य हो, तो भी पुत्रोत्पत्ति असम्भव है। अतः कर्ता, साधन, क्रिया आदि के वैगुण्य के कारण ही

फल में गड़बड़ी हो सकती है। अन्यथा अनादि-अपौरुषेय शास्त्र-सिद्ध साध्य-साधनभाव के विघटन में कोई भी कारण नहीं है। अतः अनृतदोष जब दृष्टार्थ वेदवाक्य में नहीं है, तब अदृष्टार्थ वेदवाक्यों में भी अनृतरूप दोष नहीं है। 'निन्दा का तात्पर्य निन्द्य की निन्दा में न होकर विधेय की स्तुति में होता है' मीमांसकों के इस सिद्धान्त के अनुसार उदित-अनुदित होम की निन्दाओं का तात्पर्य निन्दा में नहीं, किन्तु दूसरे पक्षों की स्तुति में है। इसका प्रयोजन यही है कि जिस परम्परा में जो पक्ष चला आ रहा है, उसी पक्ष में निष्ठा दृढ़ हो। ऐसा न हो कि एक पक्ष छोड़कर दूसरे पक्ष में प्रवृत्त हो जायँ। इन्हीं सब युक्तियों से अनृत, व्याघातादि दोनों का समाधान किया गया है। यह बात अन्यत्र प्रपञ्चित है।

जो यह कहा जाता है कि 'जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में मनुष्यों के नामोल्लेखपूर्वक इतिहास का उल्लेख है, वैसे मन्त्रों में नहीं है', वह भी ठीक नहीं; क्योंकि जैसे सृष्टि-प्रलय का कथन होने पर भी मन्त्र के वेदत्व में कोई क्षति नहीं होती, वैसे ही ब्राह्मणों में लौकिक इतिहास होने से भी कोई क्षति नहीं है। वेद सब विद्याओं के स्थान हैं, अतः सुगमता के लिए लौकिक आख्यायिकाओं के समान याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा आदि कल्पित नामों द्वारा ही ब्रह्मविद्या आदि विद्याओं का उपदेश वेद में है। जैसे सृष्टि-प्रलयादि प्रवाह-रूप से अनादि वेदों के अनुसार होते रहते हैं, वैसे ही ब्राह्मणभाग में इतिहासादि के वर्णन होने पर भी इस आक्षेप का अवसर नहीं है कि ऐतिहासिक पदार्थों की उत्पत्ति के पश्चात् ब्राह्मणभाग की रचना हुई। किन्तु यही सिद्ध होता है

कि ऐतिहासिक पदार्थों की उत्पत्ति ही अनादि ब्राह्मणभागों के अनन्तर (अनुसार) होती है। अतएव ब्राह्मणग्रन्थों से पृथक् भारत, रामायण, भागवतादि इतिहास पुराण हैं, यह भी सिद्ध है। अतएव वात्स्यायन ने ब्राह्मण को प्रमाण देकर इतिहास-पुराणों का प्रामाण्य सिद्ध किया है। यदि ब्राह्मण-ग्रन्थ ही पुराणादि होते, तो उनका प्रामाण्य ब्राह्मण से ही कैसे समर्थित किया जाता? 'गोपथब्राह्मण' (प्रपाठक २) के "एवमिमे सर्वे वेदाः विनिर्मिताः सकल्पास्सरहस्यास्सब्राह्मणास्सोपनिषत्कास्सान्वाख्यानास्सपुराणाः सस्वराः ससंस्कारास्सनिरुक्तास्सानुशासनास्सानुमार्जनास्सवाकोवाक्यास्तेषां पद्मभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं पद्म इत्येवमाचक्षते" इस ब्राह्मण में स्पष्ट ही ब्राह्मण से अतिरिक्त इतिहास-पुराण का वर्णन है। यदि "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक वचनों को ही पुराण और "देवा असुराः संयता आसन्" इत्यादि पुरातत्त्वप्रतिपादक अंश को इतिहास माना जाय, तब तो 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' इत्यादि मन्त्रभाग को भी इतिहास कहा जायगा। "अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवां (न्) ऋषिरस्मि विप्रः अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृज्येहं कविरुशनापश्यतामा" (मैं प्रथम मनु और सूर्य हो जाता हूँ तथा इस समय ब्राह्मण ऋषि हूँ, काक्षीवान् मेरा नाम है) इत्यादि मन्त्रों में सृष्टि के समय का इतिहास वर्णित है।

कहा जाता है कि "ब्राह्मणानि" यह संज्ञी शब्द है, इतिहासादि उसकी संज्ञा है, एवं ब्राह्मण को ही इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा आदि जानना चाहिए।" परन्तु यह भी निराकरणीय है, जबतक कोई प्रमाण न हो, तबतक कौन संज्ञाशब्द है और कौन संज्ञिशब्द, यह निर्णय कैसे होगा? व्याकरण-महाभाष्य

Scanned by CamScanner

के प्रथमाह्निक में कहा है—"सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः बहुधा भिन्नाः एकशतमध्वर्युशाखा सहस्रवर्त्मा साम एकविंशतिका बाह्वृच्यम् नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः।' (सात द्वीप-वाली पृथिवी, तीन लोक तथा अंगरहस्यसहित चार वेद, जिसके अनेक भेद हैं। अर्थात् यजुः की १०१ शाखाएँ, साम की १००० शाखाएँ, ऋक् की २१ तथा अथर्व की ९ शाखाएँ हैं। वाक्योप-वाक्य इतिहास, पुराण, वैद्यक शब्दों के प्रयोग करने का विषय है) इस वचन में वैद्यक के साथ इतिहास-पुराण आने से स्मृति-रूप ही ब्राह्मण से अतिरिक्त रामायण, भारत, भागवतादि ही समझना ठीक है।

जो "प्रमाणं शब्दो यथा लोके विभागश्च त्रिविधः" इस वात्स्या-यनभाष्य का यह अर्थ लगाया है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ लौकिक ही है, वैदिक नहीं', यह अत्यन्त अनर्गल कल्पना है। यदि 'यथा लोके' शब्दों पर ध्यान दिया जाता, तो ऐसा भ्रम कभी न होता। इसका स्पष्ट अर्थ है कि जैसे लोक में शब्द प्रमाण है, वैसे ही वेद में भी। 'ब्राह्मणरूप वेद में वाक्यों का त्रिविध विभाग है' यही वात्स्यायनभाष्य का स्पष्ट तात्पर्य है। वैदिक उदाहरणों को दिखाकर कहा गया है कि लोक में भी इसी तरह के विधि आदि होते हैं।

कहा जाता है कि 'ब्राह्मणभाग में मन्त्रों का प्रतीक रखकर उनका व्याख्यान किया जाता है, इसीलिए ब्राह्मण वेदों के व्याख्यानरूप ही हैं।' किन्तु यह भी ठीक नहीं, यदि ब्राह्मण वेदव्याख्यानरूप होते, तो उनका कर्त्ता अवश्य स्मर्यमाण

Scanned by CamScanner

होता। परन्तु मन्त्रों के समान ही सम्प्रदायाविच्छेद और अस्मर्यमाणकर्तृकत्व होने से उनकी भी अपौरुषेयता ही सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त जैसे भाष्यों में व्याख्यान और व्याख्यातव्य दोनों एक भाष्यकार के होते हैं—"पश्वादिभिश्चाविशेषात्" इस अपने ही सूत्रानुकारी वचन का बहुत शब्दों में व्याख्यान किया है—वैसे ही मन्त्र और ब्राह्मण में व्याख्यान-व्याख्यातव्यभाव होने पर भी दोनों अपौरुषेय ही हैं। भाष्य के समान ही ईश्वर-प्रणीत ब्राह्मणात्मक वेद में भी व्याख्यान-व्याख्यातव्यभाव हो सकता है।

कहा जाता है कि 'जैसे भाष्य अष्टाध्यायी-पदवाच्य नहीं हो सकते, वैसे ही संहिता-व्याख्यानरूप ब्राह्मण 'संहिता'पदवाक्य नहीं हो सकते।' परन्तु यह इष्ट ही है, ब्राह्मणभाग संहिता से भिन्न होने पर भी वेद, आम्नाय, श्रुति आदि पदों से कहा जा सकता है। अतएव मनु ने भी उपनिषदों को (जो अधिकतर ब्राह्मणभाग में आती हैं) 'श्रुति'पद से कहा है। यथा—

"एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतिः॥"

कहा जाता है कि 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्रों का व्याख्यानरूप ब्राह्मणमन्त्रों के पश्चात् ही होना चाहिए। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणभागों की अनादिता और वेदत्व कैसे कहा जा सकता है?' परन्तु यह केवल अज्ञान है, अर्थात् पौर्वापर्य से आगे-पीछे होनेमात्र से प्राचीनता-अर्वाचीनता का भेद नहीं निकाला जा सकता। अन्यथा संहिता में भी एक मन्त्र के अनन्तर दूसरे मन्त्र को देखकर या पिछले मन्त्र का सम्बन्ध अगले मन्त्र से

Scanned by CamScanner

देखकर कोई मन्त्रों में भी आगा-पीछा देखकर इनकी भी अनादिता, सादिता या प्रथम मन्त्र की प्राचीनता, उसकी अपेक्षा द्वितीय, तृतीयादि मन्त्रों की अर्वाचीनता सिद्ध कर सकता है। यदि मन्त्रों में आगे-पीछे पाठमात्र से पूर्वकाल और उत्तर-काल में उत्पत्ति आदि की कल्पना नहीं हो सकती, तो इसी तरह मन्त्र-ब्राह्मणों में व्याख्यान-व्याख्येयभाव होनेमात्र से उनमें प्राचीनता, अर्वाचीनता आदि की कल्पना निराधार ही है।

कहा जाता है कि 'जैसे ब्राह्मणभाग में संहिता के मन्त्रों का उल्लेख है, वैसे ही संहिता के मन्त्रों का व्याख्यान करने के लिए व्याख्येय मन्त्रों का उल्लेख नहीं होता। अतः ब्राह्मणभाग से संहिताओं में वैलक्षण्य क्यों न माना जाय?' इसका उत्तर यही है कि सनातनधर्मी को इस विलक्षणता के मानने में कोई आपत्ति नहीं है। व्याख्येयरूप होना या व्याख्यानरूप होना दोनों में से एक भी वेद होने में कारण नहीं। जब व्याख्येयरूप होना वेद होने में कारण नहीं, तब व्याख्यानरूप होना वेद न होने का कारण क्यों होगा?

कहा जाता है कि 'यह अनुमान हो सकता है कि जो ग्रन्थ व्याख्यानरूप है, वह वेद नहीं है; जैसे ऋक् संहिता का भाष्य। इसी तरह ब्राह्मण भी वेदों के व्याख्यानरूप हैं, अतः वे वेद नहीं हैं।' परन्तु इस अनुमान के प्रतिरोध में दूसरा अनुमान उपस्थित होता है—'जो ग्रन्थ अपौरुषेय है, अतः वेद ही है। पिछला अनुमान अप्रयोजक और अनैकान्तिक है, यह पीछे कहा जा चुका है। अन्यथा व्याख्येयरूप होने से अष्टाध्यायी आदि की तरह संहिता का भी अवेदत्व क्यों न सिद्ध किया जाय? भाष्यकार ने वैदिक

उदाहरणों में मन्त्रों को ही दिया है, ब्राह्मणभाग को नहीं, इतने से ही ब्राह्मणभाग की अवेदता सिद्ध नहीं होती। मन्त्र ब्राह्मण के एकात्मक होने से ही उन-उन संहिताओं को तदात्मक ही मानकर वे निर्देश संगत हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि 'वेदों के व्याख्यान-रूप होने से ब्राह्मण वेद नहीं हैं, जैसे ऋक्-संहिता-भाष्य।' परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त अनुमान के विरुद्ध 'अपौरुषेय वाक्य होने से ब्राह्मण वेद हैं, जैसे सहस्रशीर्षा आदि वाक्य" यह सत्प्रतिपक्ष है। कहा जा सकता है कि 'जब दोनों अनुमान परस्पर विरुद्ध हैं, तब तो ब्राह्मणभाग की अपौरुषेयता भी नहीं सिद्ध हो सकेगी।' किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ तो केवल वादी के अवेदत्व-साधक अनुमान को ही दूषित करना है। व्याख्यानरूपत्व या व्याख्येयरूपत्व पौरुषेयत्व या अपौरुषेयत्व का प्रयोजक नहीं है। व्याख्येय होने पर भी गौतम-दर्शन आदि अवेद ही हैं, किन्तु अपौरुषेय-वाक्यत्व वेदत्व का प्रयोजक है—यह वादी को भी सम्मत है। इसी दृष्टि से वादि-सम्मत मन्त्र में वेदत्व सिद्ध होता है। अतः ब्राह्मण का वेदत्व-साधक अनुमान निर्दोष ही है।

यह कहा जाता है कि 'ब्राह्मण-भाग का वेदत्व इसलिए नहीं है कि महाभाष्यकार ने वैदिक शब्दों के उदाहरण में "शन्नो देवीरभीष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतये" चारों वेदों के चार मन्त्रों का ही उदाहरण दिया है। यदि ब्राह्मण-ग्रन्थों की भी वेदसंज्ञा होती, तो उनका भी उदाहरण महाभाष्यकार अवश्य देते। अतः यह सिद्ध होता है कि महा-

Scanned by CamScanner

भाष्यकार मन्त्र-भाग को ही वेद मानते हैं। तभी चारों वेदों के प्रथम मन्त्रों के प्रतीक उद्धृत करते हैं।' किन्तु, यह व्यामोह-मात्र है। केवल ब्राह्मणभाग का उदाहरण न देनेमात्र से उनका अवेदत्व सिद्ध नहीं हो सकता। अन्यथा महाभाष्यकार के उदाहृत चार मन्त्रों के अतिरिक्त संहिताभाग के अन्य मन्त्रों का भी अवेदत्व सिद्ध हो जायगा। यदि कहा जाय कि 'संहिताओं के आदिम मन्त्रों के उदाहृत होने से ही अन्य सभी मन्त्रों का भी वेदत्व सिद्ध हो जायगा, तब तो सभी ब्राह्मणभाग का तत्तत्संहिताओं के उत्तर भागरूप होने से उनका भी वेदत्व सिद्ध ही है। संहिता के आदिम मन्त्रों के उदाहरण से ही ब्राह्मण और उपनिषद्-सहित सभी संहिता का प्रदर्शन सिद्ध हो सकता है।

इसपर यह भी कह सकते हैं कि 'फिर तो 'ब्राह्मण' को भी 'संहिता' पद से व्यवहृत होना चाहिए। पर, यह युक्त नहीं,' कारण, वेदपद का व्यवहार यद्यपि मन्त्र-ब्राह्मण दोनों में होता है, तथापि 'संहिता' पद का व्यवहार ब्राह्मण में एवं ब्राह्मण पद का व्यवहार संहिता में नहीं होता, क्योंकि प्रामाणिक व्यवहार से शक्ति का बोध होता है। जैसे 'अष्टाध्यायी व्याकरण है' यह कहने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि 'स्त्रीप्रत्यय तद्धित है या तद्धित स्त्रीप्रत्यय है।' ऐसे ही प्रामाणिक व्यवहार के अनुसार मन्त्र-भाग में ही संहिता का व्यवहार होता है, ब्राह्मण-भाग में नहीं। फिर भी वेद मन्त्र-ब्राह्मण दोनों ही हैं।

जो यह कहा गया है कि 'महाभाष्यकार ने जो "गौः, अश्वः' इत्यादि लौकिक उदाहरण दिये हैं, वह ब्राह्मणग्रन्थों में ही संगत होता है; क्योंकि उनमें ही ऐसे शब्दों के पाठ का व्यवहार देखा

जाता है। अतः ब्राह्मण लौकिक ही हैं, वेद नहीं।' किन्तु यह कथन भी असंगत है, क्योंकि शुक्ल-यजुःसंहिता के चौबीसवें अध्याय में बहुत से पशु-पक्षियों के नाम आते हैं। सर्प, मृग, व्याघ्र, सिंह, मूषक, शश, नकुल, न्यङ्कु, पृषत, रुरु, गौरमृग, महिष, गवय, उष्ट्र, भृङ्ग, मेष, मर्कट, मनुष्य, कृमि, कीट, तित्तिरि, हंस, बलाका, उलूक, मयूर, कपोत, कोकिला आदि लौकिक नाम संहिता में भी आते हैं। तब क्या इतने से ही संहिता लौकिक हो जायगी, वेद न मानी जायगी?

समाजी आग्रह करते हैं कि 'महाभाष्यकार ने जिन चार संहिताओं के 'अग्निमीळे' आदि मन्त्रों का उद्धरण दिया है, वे ही वेद हैं।' परन्तु इस आग्रह से उनकी अथर्वसंहिता ही अवेद ठहरेगी, क्योंकि "शन्नोदेवीरभिष्टये" यह मन्त्र शौनकीय अथर्व-संहिता का आदि मन्त्र नहीं है। यह मन्त्र जिस संहिता का है वह पैप्पलादी संहिता है। उसको समाजी शाखा मानते हैं, वेद नहीं।

कहा जाता है कि 'द्वितीया ब्राह्मणे (२।३।६०), चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (२।३।६२), पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु (४।३।१०५) इन अष्टाध्यायी-सूत्रों से पाणिनि ने वेद और ब्राह्मण का भेद ही कहा है यदि ब्राह्मण और वेद एक ही होते, तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' सूत्र से ही द्वितीया हो सकती थी, फिर द्वितीय सूत्र व्यर्थ ही होता। अतः मालूम पड़ता है कि ब्राह्मण वेद नहीं है। अतएव वेद में द्वितीया-विधान के लिए "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" सूत्र सार्थक होता है। पुराण अर्थात् प्राचीन ब्रह्मादि ऋषियों से प्रोक्त ब्राह्मण-कल्प ग्रन्थ वेद के व्याख्यारूप ही हैं। अतएव इनकी पुराण-

Scanned by CamScanner

इतिहास संज्ञा है।' किन्तु यह भी निरर्थक है। क्योंकि ब्राह्मण-शब्द का सम्पूर्ण वेद अर्थ नहीं है किन्तु वेदैकदेश ब्राह्मणभाग-मात्र अर्थ है। अतएव "ग्रामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः" इस ब्राह्मण-वाक्य में ही 'द्वितीया ब्राह्मणे' सूत्र से द्वितीया विभक्ति होती है। इसका अर्थ यह है कि व्यवहृ एवं पणि के समान अर्थवाले 'दिवु' धातु से कर्म में द्वितीया होती है। यदि यह सूत्र न होता, तो जैसे "शतस्य दीव्यति" इत्यादि स्थलों में 'दिवस्तदर्थस्य (२।३।५८) सूत्र से षष्ठी होती है, वैसे ही "ग्रामस्य तदहः" यहाँ पर षष्ठी प्राप्त थी। उसे बाधकर "द्वितीया ब्राह्मणे' सूत्र से द्वितीया विभक्ति होती है। यहाँ ब्राह्मणरूप वैदेकदेश में ही द्वितीया विवक्षित है। श्रुति, छन्द, आम्नाय, निगम-पदवाच्य मन्त्र-ब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेद में ऐसे स्थल में द्वितीया दृष्ट नहीं है, "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" इस सूत्र से सम्पूर्ण वेद में चतुर्थी के अर्थ में कहीं षष्ठी का विधान युक्त है। "पुरुषमृगश्चन्द्रमसः, पुरुषमृगश्चन्द्र-मसे" ये दोनों ही प्रयोग होते हैं। यह मन्त्र का उदाहरण है। ब्राह्मण का उदाहरण है— "या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते।" यहाँ 'तस्याः' के स्थान में चतुर्थी हुई है। "यां मलवद्वाससं सम्भ-वन्ति यस्ततो जायते सोऽभिशस्तो यामरण्ये तस्यै स्तेनो यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्यप्रगल्भो या स्नाति तस्या अप्सुमारुको याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा या प्रलिखते तस्यै खलति रपस्मारी याऽङ्क्ते तस्यै काणो यादतो धावते तस्यै श्यावदन् या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी या कृणत्ति तस्यै क्लीबो या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुको या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको जायते अहल्यायै जारमनाय्यै तन्तुः" इत्यादि महाभाष्यकार ने बाहुल्येन ब्राह्मण का उदाहरण दिया है। इस तरह मन्त्र

Scanned by CamScanner

और ब्राह्मण दोनों को ही ग्रहण करने के लिए छन्दस्-ग्रहण सार्थक है। फिर 'यदि ब्राह्मण'-शब्द का वेद अर्थ होता' इत्यादि कहना सर्वथा व्यर्थ है।

समाजियों के कथनानुसार तो मन्त्र-संहिता भी वेद न ठहरेगी, क्योंकि "मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्" (३।२।७१), "अवे यजः" (३।२।७२), "विजुपे छन्दसि" (३।२।७३) इस प्रकार क्रमिक सूत्रपाठ है। यहाँ भी ७१ वें सूत्र से 'मन्त्र' की अनुवृत्ति हो ही सकती थी, फिर "विजुपे छन्दसि" में छन्दोग्रहण क्यों किया गया है? जैसे "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र में ब्राह्मण के उपादान के अनन्तर 'छन्दसि' कहने से ब्राह्मण की अवेदता सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है, क्या वैसे ही मन्त्र के अनन्तर 'छन्दसि' कथन से मन्त्रों की अवेदता सिद्ध न होगी? अतः सूत्रों से स्पष्टतया यही सिद्ध होता है कि 'मन्त्र-ब्राह्मण' शब्द से वेद का मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग ही गृहीत होता है। अन्यथा मन्त्रभाग का अवेदत्व ही सिद्ध होगा। "अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि" (८।२७०) इस सूत्र में पाणिनि 'छन्द'पद का उपादानकर "भुवश्च महाव्याहृतेः" (८।२।७१) इस सूत्र से रुत्व का वैकल्पिक विधान करते हैं। छन्द से पृथक् महाव्याहृति का ग्रहण करने से महाव्याहृति भी वेद से पृथक् सिद्ध होगी, क्योंकि छन्दस् शब्द से काम चल ही सकता था। अतः मानना पड़ेगा जैसे सामान्य शब्द के सम्बन्ध से विशेष शब्द का ग्रहण व्यर्थ नहीं होता, वैसे ही विशेष शब्द के सम्बन्ध से भी सामान्य शब्द व्यर्थ नहीं होता। अतएव ब्राह्मण शब्द के सम्बन्ध से छन्दस् शब्द व्यर्थ नहीं हो सकता।

Scanned by CamScanner

फिर भी शंका होती है 'यदि ब्राह्मणभाग वेद होता, तो "छन्दो-ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" (४।२।६६) इस पाणिनि-सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण क्यों है ? वेद-वाचक छन्दशब्द से ब्राह्मण का ग्रहण हो ही जाता, फिर तो 'छन्दांसि' इसी तरह सूत्र होना चाहिए था।' परन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि मन्त्रों के समान ब्राह्मणभाग की वेदता होने पर भी यहाँ ब्राह्मणशब्द का इसीलिए ग्रहण है कि सब ब्राह्मणों का ग्रहण न होकर प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रोक्त, अध्यापित ब्राह्मणों का ही ग्रहण हो, जिससे नवीन ऋषियों द्वारा प्रोक्त ब्राह्मणों में यह सूत्र न लागू हो। अतएव "याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि" इत्यादि स्थलों में "छन्दो-ब्राह्मणानि" इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

महाभाष्यकार "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यस्तुल्यकालत्वात्" इस वार्तिक से 'णिनि' का प्रतिषेधकर 'याज्ञवल्क्यानि' शब्द सिद्ध करते हैं। प्रवाहरूप से सभी ऋषि अनादि हैं, अतः सभी का तुल्य ही काल है। किसीको प्राचीन, किसीको अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार ने वार्तिक आवश्यक समझा है। प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी एक-कल्प में प्रादुर्भाव का पौर्वापर्य हो ही सकता है, उसी पौर्वापर्य को लेकर प्रथम प्रादुर्भूत को पुराण और पश्चाद् आविर्भूत को नवीन कहा जा सकता है। तभी तो "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" इस सूत्र में पुराणशब्द का ग्रहण पाणिनि ने आवश्यक समझा। हर दृष्टि से "याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि" इत्यादि "छन्दो-ब्राह्मणानि" इस सूत्र के विषय न हों, एतद्भिन्न पुराणप्रोक्त ब्राह्मण ही गृहीत हों, एतदर्थ (ब्राह्मणविशेष के ग्रहणार्थ) ही

Scanned by CamScanner

"छन्दोब्राह्मणानि" सूत्र में ब्राह्मण शब्द का ग्रहण है। यदि ब्राह्मणविशेष का परिग्रह अभीष्ट न होता, तो 'पुराणप्रोक्तेषु' इत्यादि सूत्र की प्रवृत्ति ही व्यर्थ हो जाती।

'कात्यायन से अन्य किसी ऋषि ने ब्राह्मण को वेद नहीं माना' यह कहना भी असंगत है। यदि अन्य वचन न भी हों, तो भी परम आप्त श्रौतसूत्रकार कात्यायन का वचन ही पर्याप्त है। यदि इसका किसी आर्ष-वचन से विरोध होता, तो कुछ विचार करने का अवकाश भी होता। किसीके अपने दिमागी फितूर के आधार पर किसी ऋषि के वचन को अप्रमाणित नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत अनेक महर्षियों के निम्नलिखित वचनों से भी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही वेदत्व सिद्ध होता है।

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह निम्नलिखित ग्रन्थों में आता है—बौधायन गृह्यसूत्र (२।६।३), बौधायन धर्मसूत्र (२।९।७), आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (२४।१।३१), सत्याषाढ श्रौत-सूत्र (१।१।७), कात्यायन-परिशिष्ट प्रतिज्ञासूत्र (२)। 'वेदं च समाप्य स्नायात्' (पारस्कर गृह्यसूत्र, उपनयन-प्रकरण)। वहीं—'एवं विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' (विधि और तर्क ब्राह्मण हैं, विधेय मन्त्र है। कौषीतकी सूत्र का भी यही मत है। 'चरणव्यूह' में लिखा है—

"त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्र ब्राह्मणयोः सह।
यजुर्वेदः स विज्ञेयो शेषाः शाखान्तराः स्मृताः॥"

(जिसमें मन्त्र-ब्राह्मण के साथ त्रिगुण या संहिता, पद, क्रम पढ़ा जाता है, वही यजुर्वेद है; शेष शाखान्तर हैं)। कौशिकसूत्र

Scanned by CamScanner

(अथर्ववेदीय) में—"आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानिच ।" शुक्ल-यजुर्वेद-प्रातिशाख्य (१।१।२) में "स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः (१।१) सूत्र में कहा है—"ब्राह्मणेऽपि स्वरविधानात् ब्राह्मण-भागस्य मन्त्रत्वम् ।" 'प्रातिशाख्य प्रतिज्ञासूत्र-परिशिष्ट' में कहा है—"ब्राह्मणे तूदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वरौ" (८ सूत्र)। उक्त सूत्र में ब्राह्मण में भी स्वरविधान है, अतः ब्राह्मण भी छन्द है। कारण, स्वर नियम "स्वरसंस्कारयोः" इत्यादि वचन से वेद में ही है और वे स्वर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचितरूप हैं। 'सायण' भी मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं—मन्त्रब्राह्मणत्वं तावद् वेदस्यादुष्टं लक्षणम् ।"

'षट्गुरु-शिष्य' में कहा है—

"मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः ।"

कौटल्य भी 'ब्राह्मण' को 'आम्नाय' मानता है। "मन्त्रब्राह्मण-योर्वेदनाम प्रोक्तमृगादिषु" (४।२७१) इस शुक्र-वचन के अनुसार भी मन्त्र-ब्राह्मण वेद हैं।

पूर्वमीमांसा में लिखा है—"तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" (२।१।३२), "शेषे ब्राह्मणशब्दः" (२।१।३३)। "शेषे=मन्त्रभागादवशिष्टे वेदैकदेशे ब्राह्मणशब्द इत्युक्तम्। अत्रोभयोर्वेदत्वानङ्गीकारे शेषशब्द-वैयर्थ्यम्। (मन्त्र से अवशिष्ट वेदभाग को जैमिनि भी ब्राह्मण मानते हैं। जो लोग शेष का अंग अर्थकर उसका अवशिष्ट अथ नहीं मानते, उनके यहाँ 'शेषे यजुः' शब्द के अनुसार यजुर्मन्त्रों की भी अवेदता हो जायगी)। "विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्दयात्" — "अत्र विधिः ब्राह्मणम्, तेन विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यं सिद्धम्" (पूर्वमीमांसा २।१।३०) उपर्युक्त सूत्र में विधि का अर्थ ब्राह्मण ही है। "आम्ना-

Scanned by CamScanner

यस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् (१।२।१)। इसमें 'आम्नाय' शब्द का अर्थ ब्राह्मण है। "शेषे ब्राह्मण शब्दः"(२।१।३३) इस जैमिनीसूत्र के भाष्य में शास्त्रतात्पर्यवित् शबर स्वामी का भी यही मत है—'मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः'।" 'मन्त्रब्राह्मणयो (वेद)-नामधेयम्" यह भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में कहा है।

"वेदशब्देन ऋग्यजुःसामानि ब्राह्मणसहितानीत्युच्यन्ते" यह मेधातिथिका वचन है। मनु ने कहा है—"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।"(२।६)। यहाँ अखिल विशेषण ब्राह्मण का वेदत्वप्रतिपादक है। "वेदो-मन्त्रब्राह्मणाख्यो ग्रन्थराशिः मस्करितैः" (सं० भा० १।१ सु० वृ० वा० २।४)। मनु के अनेक वचनों से ब्राह्मण का वेदत्व सिद्ध होता है। यथा—"धर्मं जिज्ञासामानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।" यहाँ श्रुति शब्द से ब्राह्मण का ही ग्रहण है, क्योंकि उन्हींमें धर्म का प्रतिपादन है। यागादि रूप धर्म का बोध विधिरूप ब्राह्मण से ही होता है। इसी तरह—

"तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥"

(मनुः २।१६५) यह भी वचन है।

मेदिनीकोश में कहा है—"ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्।" त्रिकाण्डी कोश में "श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः" कहा है। 'अमरकोश' में कहा है—'ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्'। एवञ्च अमर आदि कोशों के अनुसार श्रुति, आम्नाय आदि वेद के ही नाम प्रसिद्ध है।

भगवान् बादरायण "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र द्वारा ब्रह्म का लक्षण कहते हैं। इस सूत्र से विचारणीय 'यतो वा इमानि

Scanned by CamScanner

भूतानि जायन्ते' इत्यादि वाक्य ब्राह्मणवाक्य ही हैं। 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र से वे ब्रह्म को शास्त्रप्रमाणक बतलाते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि शास्त्रपद से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद ही विवक्षित है।

एक समाजी सज्जन ने 'अभिनव-विचार' नाम से एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण की वेदसंज्ञा विधान करनेवाले आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधायन आदि श्रौतसूत्रकार कृष्ण यजुःशाखा से ही सम्बद्ध हैं। ऋक्, शुक्लयजुः एवं साम तथा अथर्वसम्बन्धी आश्वलायन, शांखायन, कात्यायन, लाट्यायन आदि ने अपने श्रौतसूत्रों में इस प्रकार का कोई सूत्र नहीं लिखा, जिससे मन्त्र-ब्राह्मण दोनों की वेदसंज्ञा सिद्ध हो।" किन्तु कृष्णयजुःसम्बन्धी सूत्रों में ही ऐसे सूत्र क्यों हैं और अन्य वेदसम्बन्धी सूत्रों में ऐसे सूत्र क्यों नहीं हैं, इसका कारण ढूँढ़ने पर यही विदित होता है कि ऋक्, साम आदि संहिताओं में ब्राह्मणभाग का सम्बन्ध नहीं है। शुक्लयजुः में भी ब्राह्मण का संसर्ग नहीं है, अतः उनके वेद होने में किसीको सन्देह ही नहीं था। परन्तु कृष्णयजुःसंहिताओं में साथ ही ब्राह्मण भाग का भी पाठ है। अतएव उनका वेद होना पहले प्रसिद्ध नहीं था। अतएव तत्सम्बन्धी सूत्रकारों ने "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्यादि रूप से अपनी संहिताओं को वेद सिद्ध करने के लिए सूत्र लिखा है। जिन संहिताओं में ब्राह्मणसंसर्गशून्य केवल मन्त्र ही पठित थे, उनके वेद होने में किसीको सन्देह नहीं था। अतः उन्हें ऐसे सूत्र निर्माण करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।"

परन्तु उनके ये विचार निराधार एवं असंगत हैं। कारण,

Scanned by CamScanner

पहले आर्यसमाज के प्रवर्त्तक श्रीस्वामी दयानन्दजी ने अपनी 'ऋग्वेद-भाष्यभूमिका' में लिखा है कि 'कात्यायनभिन्नैर्ऋत्विर्भिर्वेद-संज्ञाया अस्वीकृतत्वात्' अर्थात् कात्यायन से भिन्न ऋषियों ने ब्राह्मण की वेदसंज्ञा स्वीकार नहीं की। इससे स्पष्ट है कि समाजियों के गुरु श्रीस्वामी दयानन्दजी ने यह माना है कि कात्यायन मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। 'कात्यायन प्रतिज्ञा-परिशिष्ट' में कात्यायन ने स्पष्ट ही 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस सूत्र का उल्लेख किया है। जो इस सूत्र को कात्यायन का नहीं मानते, यदि उनके अभिमत कात्यायन-सूत्र को ही कोई कात्यायन से भिन्न व्यक्ति द्वारा निर्मित कहे, तो उनके पास क्या समाधान है? किस ग्रन्थ का कौन निर्माता है—इसका ज्ञान परम्परा एवं पुस्तकस्थ नामोल्लेख से ही होता है। यदि उसपर विश्वास न किया जाय, तो 'सत्यार्थ-प्रकाश' श्रीस्वामी दयानन्दजी द्वारा निर्मित है, यह भी कैसे सिद्ध होगा? पुस्तकस्थ नामोल्लेख एवं वैदिक याज्ञिक परम्परा से प्रसिद्ध है कि कात्यायन-परिशिष्ट कात्यायन का ही है। तभी तो स्वामी श्रीदयानन्दजी को कहना पड़ा कि कात्यायन से भिन्न ऋषियों ने ब्राह्मण की वेदसंज्ञा नहीं मानी। परन्तु जब समाजियों के सामने आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधायन आदि के सूत्र रखे गये, तब उचित था कि वे श्रीस्वामी दयानन्द की भूल मान लेते और अनेक ऋषियों से उक्त होने के कारण ब्राह्मणभाग को वेद मानते। परन्तु उन्होंने स्वामी-जी की बात को भी झूठ मान लिया—श्रीस्वामी दयानन्द की जो बात सत्य थी 'कात्यायन ने ब्राह्मण को वेद माना है', उसे भी झूठ ही मान लिया। अर्थात् सनातनीसम्मत और श्रीदयानन्द-

Scanned by CamScanner

सम्मत "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" सूत्र को भी अस्वीकृत कर दिया।

इसके अतिरिक्त इसी लेख में अन्यत्र दिखाया गया है कि 'ऋग्वेदीय कौषीतकी सूत्र एवं अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र भी ब्राह्मण को वेद कहता है। कणाद, गौतम, पाणिनि, पतञ्जलि भी ब्राह्मण को वेद कहते हैं। क्या वे भी कृष्णयजुःसम्बन्धी हैं? पूर्वोत्तर-मीमांसा सम्पूर्ण वेद की मीमांसा है। उनके रचयिता जैमिनि और व्यास भी ब्राह्मण को वेद मानते हैं। शबर स्वामी साम की सहस्रशाखाओं के विद्वान् थे, यह मीमांसकों में प्रसिद्धि है। भगवान् शङ्कराचार्य जिन्हें "तथा चाहुः शास्त्रतात्पर्यविदः शबरस्वामिनः' कहते हैं, वे तथा यजुर्वेदी भगवान् आद्य शङ्कराचार्य भी ब्राह्मण को वेद कहते हैं। जिस शुक्रनीति को स्वामी दयानन्दजी ने प्रमाण माना, उसने भी ब्राह्मण को वेद माना है। 'चरणव्यूह' आदि ने भी यही बात मानी है। फिर कृष्णयजुःसम्बन्धी सूत्रकारों ने ही ब्राह्मण को वेद माना है, यह कहना कितना साहस है? मनु भगवान् भी ब्राह्मण को वेद मानते हैं।

उक्त समाजी सज्जन ने यह भी कहने का साहस किया है कि 'इन सूत्रों के लिखे होने पर भी बहुत दिनों तक लोगों ने ब्राह्मण को वेद नहीं माना। तभी तो हरदत्त एवं धूर्तस्वामी ने कहा है—"कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्" (कुछ लोगों ने मन्त्रों को ही वेद माना है)।' परन्तु यह अनर्गल प्रलाप ही है, क्योंकि पूर्वोत्तर-मीमांसा के प्रत्येक अधिकरण में उत्तर पक्ष के प्रथम पूर्वपक्ष ही उठाया गया है, तो क्या यह कहा जा

Scanned by CamScanner

सकता है कि पूर्वपक्ष की बातें भी आस्तिक शिष्टसम्मत हैं? वेदप्रामाण्यसाधक अधिकरण में पूर्वपक्ष रूप से वेद का अप्रामाण्य भी बतलाया गया है, तो क्या वह भी शिष्टसम्मत पक्ष है? अतएव "कैश्चित्" यह शब्द ही बोधित करता है कि जिस सूत्र को परमादरणीय एवं प्रामाणिक मानकर हरदत्त, धूर्त्तस्वामी आदि व्याख्या कर रहे हैं, तद्भिन्न कुछ अश्रौत, अनभिज्ञ लोगों का ही संकेत "कैश्चित्" शब्द से किया गया है।

ये ही समाजी सज्जन यह भी कहते हैं कि "जिन-जिन श्रौतसूत्रों में "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" यह सूत्र पढ़ा है, सर्वत्र परिभाषा-प्रकरण में ही पढ़ा है। परिभाषा की संज्ञाएँ तभी विहित होती हैं, जब कि वे लोकप्रसिद्ध नहीं होतीं। साथ ही वे संज्ञाएँ प्रस्थानान्तर में ग्राह्य नहीं होतीं जैसे—पाणिनि की गुण-वृद्धि-संज्ञाएँ। इसी तरह ब्राह्मण की वेदसंज्ञा भी लोकप्रसिद्ध नहीं थी, तभी उसको 'वेद' यह पारिभाषिक संज्ञा विहित हुई है। वह कृष्णयजुःशाखियों में ही मान्य होगी, अन्यत्र नहीं।" किन्तु यह भी कहना असंगत है; क्योंकि पाणिनि की टि, घु आदि संज्ञाएँ संज्ञा या परिभाषा-प्रकरण में नहीं हैं, तो भी संज्ञा हैं ही। जहाँ वृद्धि, गुण आदि शब्द अन्य अर्थ में प्रसिद्ध होते हैं, वहीं पारिभाषिक संज्ञा संकुचित होती है। परन्तु वेदशब्द केवल मन्त्र अर्थ में कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु धात्वर्थानुसार उसका अर्थ 'ज्ञान' होता है। 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' आदि स्थलों में वेदशब्द का कुश-मुष्टिविशेष अर्थ होता है।' मन्त्र-ब्राह्मण वेद कहलाते हैं, यह वैदिकों की ही संज्ञा है। जैसे कोश द्वारा सास्नादिमद्

Scanned by CamScanner

व्यक्ति का नाम 'गो' होता है, वैसे ही मन्त्र-ब्राह्मण का वेद नामकरण है। जैसे कोशादि द्वारा अनादिसिद्ध नाम-नामी के सम्बन्ध का बोध होता है, वैसे ही "मन्त्रब्राह्मणयोः' इत्यादि सूत्र के द्वारा अनादिसिद्ध नाम-नामी के सम्बन्ध का ही बोध होता है। यदि इस मन्त्र से विहित होने के कारण ब्राह्मणभाग की वेदसंज्ञा कृष्णयजुः में ही ग्राह्य होगी, तब तो इसी सूत्र में विहित होने के कारण मन्त्र की भी वेदसंज्ञा कृष्णयजुः में ही ग्राह्य होगी। फिर तो इतरत्र मन्त्रों की वेदसंज्ञा भी नहीं सिद्ध होगी। यदि इससे केवल ब्राह्मण की ही वेदसंज्ञा विहित होती, तब कुछ कहा भी जा सकता था। यहाँ तो जो चोद्य-परिहार ब्राह्मण के सम्बन्ध में होगा, वही का वही मन्त्रभाग पर भी लागू होगा।

वस्तुतः अपौरुषेय वाक्य ही वेद हैं और यह अपौरुषेयता अविच्छिन्न-पारम्पर्य एवं अस्मर्यमाण-कर्तृकत्व से निश्चित होती है। वह अविच्छिन्न-पारम्पर्य एवं अस्मर्यमाण-कर्तृकत्व जैसे मन्त्र में है, वैसे ही ब्राह्मण में भी है। अतएव 'तुल्यं साम्प्रदायिकम्' इस सूत्र से अर्थवाद की भी साम्प्रदायिकता (अविच्छिन्न-पारम्पर्य) कही गयी है। अस्मर्यमाण-कर्तृकता भी मन्त्र-ब्राह्मण दोनों की तुल्य हैं। कौथुम, आध्यन्दिन आदि समाख्याओं का जो समाधान है, वही काठक, तैत्तिरीयक आदि समाख्याओं का भी समाधान है।

अपिच, समाजियों का यह स्वभाव है कि जो उनके विपरीत वचन पड़ा, उसे ही क्षेपक कह देते हैं। बड़े से बड़े आर्षवचन को अप्रमाण कह देना उनके बायें हाथ का खेल है। यदि आप-

Scanned by CamScanner

स्तम्ब, बौधायन आदि ऋषि आदरणीय हैं, तो उनके वचन के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण को वेद मानना ही चाहिए। यदि वे ऋषि नहीं हैं, उनका कथन गलत है, यदि कृष्णयजुर्वेद वेद नहीं है, तो उनके कथनानुसार भी उसे वेद क्यों माना जायगा? इसी तरह मन्त्र-ब्राह्मण के लक्षण में अतिव्याप्ति, अव्याप्ति आदि दोषप्रदर्शन भी व्यर्थ है, क्योंकि भाष्यकार ने अनेक लक्षणों को दिखलाकर अन्त में 'वैदिकों के यहाँ मन्त्रत्वेन प्रसिद्धि' ही मन्त्रत्व का मूल लक्षण माना है। इसी दृष्टि से सर्वानुक्रम-सूत्रकार ने भी वैदिकों की प्रसिद्धि के आधार पर ही काण्व, माध्यन्दिनी संहिता के मन्त्रों एवं ब्राह्मणों का निर्णय किया है। यदि सर्वानुक्रम प्रामाणिक नहीं है, तो काशी से प्रकाशित 'शिक्षासंग्रह' या 'वासिष्ठी शिक्षा' भी कैसे प्रामाणिक मानी जायगी? शुक्लयजुःसंहिता में भी 'वसन्तायकपिञ्जलानालभेत" इत्यादि मन्त्र विधायक माने जाते हैं। वे मन्त्रधर्म से पढ़े जाते हैं, अतः मन्त्रत्वेन उनकी प्रसिद्धि है। तत्सम्बन्धी ब्राह्मणान्तर न होने के कारण विधायक होने से वे ही ब्राह्मण भी माने जाते हैं। मन्त्रों में उदात्त, अनुदात्त स्वरित स्वरों का प्रयोग होता है, पर ब्राह्मण में तो उदात्त और स्वरअनुदात्त का ही प्रयोग होता है। इसी अभिप्राय से उनका मन्त्रत्व-ब्राह्मणत्व दोनों ही संगत हो जाता है। मन्त्रधर्म से पाठ होने से वे मन्त्र हैं, विधायक होने में ब्राह्मण हैं।

वे ही समाजी सज्जन कहते हैं कि "यज्ञकर्मों में कृष्णयजुः के सम्प्रदाय की ही प्रधानता है, इसलिए कृष्णयजुःशाखियों में प्रसिद्ध मन्त्र-ब्राह्मण का लक्षण शुक्लयजुःशाखीय याज्ञिकों ने भी

Scanned by CamScanner

ग्रहण किया है। अतएव प्रतिज्ञ-परिशिष्ट में कात्यायन के नाम से किसीने 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" सूत्र लिख दिया है।' परन्तु यह निरर्गल प्रलाप है, 'यज्ञकर्मों में कृष्णयजुः की प्रधानता है' इस कथन का क्या अर्थ है? जैमिनि के अनुसार तो वेदभाग में यज्ञादि कर्म ही प्राधान्येन प्रतिपादित हैं—"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्।" क्या शुक्लयजुःवालों ने कृष्णयजुःवालों से यज्ञ सीखा है? यदि नहीं, तो उनका अनुकरण उन्होंने क्यों किया?

वस्तुतः यह कहा जा चुका है कि श्रौतसूत्रकार पूर्वमीमांसा की रीति से सर्वशाखाओं का उपसंहार करके ही सूत्र-निर्माण करते हैं। अतएव कितने ही मन्त्र, जो शुक्लजुः में नहीं हैं, कृष्ण-यजुः से लिये जाते हैं। परन्तु मीमांसकम्मन्य समाजी सज्जन को अपनी धुन में और कुछ सूझता ही नहीं। इतना ही नहीं, उक्त समाजी सज्जन मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी को याज्ञिकमूर्धन्य लिखते हैं और उनके मत को स्वमतपोषक मानते हैं। परन्तु शबरस्वामी मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं, इस बात की उपेक्षा कर देते हैं। जब "वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत" वाक्य को मन्त्र माननेवाले शबरस्वामी भी मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को वेद मान रहे हैं, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि कृष्णयजुः से संबद्ध मन्त्रों में ब्राह्मण की मिलावट माननेवाले लोग ही अपनी संहिताओं को वेद सिद्ध करने के लिए ही मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। यह भी कहना निरर्थक है कि 'ऋक्, साम, यजुः संज्ञा मन्त्रों की ही होती है, ब्राह्मणों कीन हीं', क्योंकि यद्यपि ऋक् आदि पदों से मन्त्रों का ही ग्रहण किया जाता है, तथापि ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि शब्दों से

मन्त्र-ब्राह्मण दोनों ही गृहीत होते हैं, यह पीछे कहा ही जा चुका है।

यह भी कहना असंगत है कि "कृष्णयजुःशाखियों का लक्षण उन्हींके यहाँ ग्राह्य होगा, अन्यत्र नहीं।' क्योंकि यह कहा जा चुका है कि यह परिभाषा कृष्णयजुःशाखियों की ही नहीं, किन्तु मनु, व्यास, जैमिनि, कणाद, गौतम, पाणिनि, पतञ्जलि आदि सभीको मान्य है। यदि किसी वस्तु का लक्षण करने से ही यह समझा जाय कि वह वस्तु पहले से प्रसिद्ध नहीं थी, तब तो यह भी कहना पड़ेगा कि "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इस सूत्र के पहले धर्म भी प्रसिद्ध नहीं था। "जन्माद्यस्य यतः" इस ब्रह्मलक्षण-निर्देशक सूत्र के पहले ब्रह्म भी प्रसिद्ध नहीं था। ब्राह्मण, क्षत्रियादि के लक्षणों के पहले ब्राह्मण, क्षत्रियादि ही प्रसिद्ध नहीं थे। यदि हाँ, तो "सिद्धे शब्देऽर्थे तत्सम्बन्धः" आदि महाभाष्य के वाक्यों की क्या गति होगी? यदि आपस्तम्बादि मत के अनुसार मनु, व्यास आदि ब्राह्मण को वेद मानते हैं, तो फिर कुछ कुतार्किकों के ब्राह्मण को वेद न मानने का महत्त्व ही क्या रहा? ऐसे ही समाजी 'केवल चार संहिताओं को वेद मानते हैं, इतर वैदिक शाखाओं की संहिताओं को वेद नहीं मानते और कहते हैं कि वेद अलग हैं और शाखाएँ अलग।' परन्तु वे यह नहीं समझते कि जिन्हें वे वेद मानते हैं, वे माध्यन्दिनी, कौथुमी आदि संहिताएँ भी शाखाएँ ही हैं। काठकम्, कालापकम् के समान ही कौथुमम्, माध्यन्दिनीयम् आदि शब्द भी हैं। ११३१ शाखाओं में ही ये भी शाखाएँ ही हैं।

Scanned by CamScanner

कुछ लोग शाखाओं को इसलिए वेद से भिन्न कहते हैं कि 'वेदों से भिन्न शाखाओं का उल्लेख मिलता है।' परन्तु यह पृथक् उल्लेख ब्राह्मण-वशिष्ठ न्याय से ही समझना चाहिए। जैसे वेद या छन्द-निर्देश करने के साथ ब्राह्मण का निर्देश ब्राह्मण-वशिष्ठ न्याय से होता है, वैसे ही शाखाओं का भी पृथक् उल्लेख होता है। स्वशाखा एवं तत्संबद्ध विभिन्न वेदों की शाखाओं को चार वेद कहा जाता है, तद्भिन्न शाखा कही जाती हैं, यही "चत्वारो वेदाः सशाखाः" इत्यादि वाक्यों का अभिप्राय है। चरणव्यूह ने तो यजुर्वेद से भिन्न सभीको शाखा कह दिया है—

"त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह।
यजुर्वेदः स विज्ञेयः शेषाः शाखान्तराः स्मृताः॥"

महाभाष्यकार ने "सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गास्सरहस्याः बहुधा भिन्नाः एकशतमध्वयुशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधा आथर्वणो वेदः" इत्यादि वाक्य में "चत्वारो वेदाः" "बहुधा भिन्ना" कहकर स्पष्ट कर दिया है कि चारों वेद ही बहुधा भेदों से भिन्न है। उन्हीं भेदों को "एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा साम" इससे स्पष्ट किया है। विभिन्न शाखाओं के रूप में वेदों का बहुधा भेदभिन्न होना महाभाष्यकार को अभीष्ट ही है। अतएव जैमिनि ने काठक आदि समाख्याओं के द्वारा वेदों में पौरुषेयत्व की शंकाकर समाधान किया है–"समाख्या प्रवचनात्।" यह विषय अन्यत्र स्पष्ट है। अतएव "तेन प्रोक्तम्" के भाष्य में कहा गया है "न हि छन्दांसि क्रियन्ते।" काठकं "कालापकम्" आदि वचनों से से पाणिनि, पतञ्जलि आदि भी काठक आदि शाखाओं को

Scanned by CamScanner

छन्द मानते हैं। साथ ही उन्हें कठादि द्वारा कृत न मानकर उनके द्वारा प्रोक्त (की हुई) प्रवचन मानते हैं।

महाभाष्यकार आदि ने शाखाओं का भेद वर्णन किया है, यह पीछे बताया जा चुका है—"शाखानाम वेदैकदेशः प्रागुक्तशाखास्वन्यतमाः।" वेद के एकदेश को ही शाखा कहा जाता है। उन्हीं में माध्यन्दिनी, कौथुमी आदि हैं। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि से स्वशाखोपलक्षित समस्त वेदराशि का अध्ययन विहित है। इसीलिए 'चारों, तीनों, दो या एक वेद का अध्ययन-कर समावर्तन संस्कार कराना चाहिए', यह मन्वादि की उक्ति है—"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। वेदं समाप्य स्नायात्।" कहा जाता है कि शबरस्वामी साम की सहस्र शाखाएं जानते थे—"सहस्रशाखाः साम्नोऽर्थतो वेद शबरः इति प्रसिद्धिः।" समग्र वेद के अध्ययन के बिना कर्म सम्पन्न नहीं होता। अतएव दर्शपूर्णमास में आनेवाले निम्नोक्त मन्त्रसमूह माध्यन्दिनी शाखा में न होने पर भी काण्व से लिये जाते हैं—"यस्ते प्राणः पशुषु प्रविष्टः आप्यायतां ध्रुवातविद्या ततोऽसि तन्तुरसि।" इसीलिए सब शाखाओं के कर्मों का उपसंहार किया जाता है। सभी कल्पसूत्रकारों ने शाखाओं का उपसंहारकर सूत्र लिखे हैं। इसीलिए 'ममाग्ने वर्चः" इस कात्यायनसूत्र में कर्काचार्य का कहना है कि 'पन्द्रह शाखाओं का उपसंहार करके कात्यायन ने सूत्र लिखा है।'

"समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दाः अवयवेष्वपि वर्तन्ते इति महाभाष्योक्तरीत्या स्वाध्यायो वेदः इत्यादिशब्दाः अवयवभूतासु शाखास्वपि प्रवर्त्तिताः उत्तराचार्यैः।"—अर्थात् समुदाय में शक्त शब्द अवयवों में भी प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए एक-एक शाखा में भी वेदशब्द

Scanned by CamScanner

की प्रवृत्ति होती है। अतएव—

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥"

इस मनुवचन में वेद के साथ ही कल्प का अध्यापन आवश्यक कहा गया है। क्योंकि कल्प के अध्ययन से स्वशाखा की अपेक्षा अन्य शाखाओं में स्थित जो अधिक मन्त्र हैं, उनका एवं अपेक्षित ब्राह्मणग्रन्थ का भी अध्यापन हो जायगा। इससे सकल-शाखासमन्वित वेद का अध्ययन भी कथंचित् सम्पन्न समझा जायगा। 'पितृ-पितामहादि क्रम से या आचार्य-परम्परा से जिस कुल में जिस शाखा का अध्ययन चलता है, वही शाखा उसकी स्वशाखा एवं स्वाध्याय कहा जाता है'—यह 'मन्त्रभ्रान्तिहर' में कात्यायन ने कहा है।

मन्त्रों का आविर्भाव करना मन्त्र का दर्शन नहीं है, क्योंकि यह "यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इस श्वेताश्वतर श्रुति के विरुद्ध है। इसमें स्पष्ट कहा गया है कि जो परमेश्वर ब्रह्मा का निर्माण करता है और ब्रह्मा के हृदय में वेद को प्रेषित करता है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर वेद का निर्माता नहीं है, अपितु नित्यसिद्ध वेद को ब्रह्मा के हृदय में प्रेषित करता है। अतः विनियोग में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव या कार्य-कारण भाव का ही यहाँ 'दर्शन' है। "तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यं स्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि" (कवियों ऋषियों ने मन्त्रों में जिन कर्मों का दर्शन किया, वे त्रेता में बहुधा संतत थे) इससे मालूम पड़ता है मन्त्रों का कर्म-सम्बन्ध ही ऋषियों द्वारा दृष्ट हुआ है। इस समय शुक्लयजुः की माध्यन्दिनी एवं काण्वीया दो

संहिताएँ मिलती हैं। "वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा गन्धर्वानि" (१।५।१) यह अनुष्टुप् वाजपेय में अश्वयोजन के लिए विनियुक्त है। उक्त आनुपूर्वी दोनों ही संहिताओं में नहीं मिलती, फिर भी शुक्लयजुः के रूप से कही गयी है। इसी तरह "ओषधे त्रायस्व, स्वधिते मा हिंसीः घृतेन यज्ञं प्रतिदेवयद्भ्यः" ये दोनों पाठ सूत्र-भाष्यादि में आते हैं। शुक्ल पञ्चदशशाखीय रूप से प्रसिद्ध है। परन्तु दोनों संहिताओं में यह पाठ नहीं मिलता। इसी तरह अनेक भाष्यों में शाखान्तरीय मन्त्र एवं ब्राह्मण उद्धृत हैं।

पिछले प्रकरण में 'अनन्ता वै वेदाः' के अनुसार कहा गया है कि वेद अनन्त है। उनका जीवग्राह्य भाग ग्यारह सौ तैंतीस शाखाएँ हैं। उन्हीं का अंश उपलब्ध मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद है। समाजी उनमें केवल चार पुस्तकों को वेद मान लेते है, शेष संहिताओं एवं सभी ब्राह्मणभाग को अवेद घोषित करते हैं। जैसे किसी अन्धेने हाथी के कान को ही हाथी समझ लिया था, वैसे ही समाजियों ने वेदैकदेश को ही संपूर्ण वेद समझ लिया है। वस्तुतः जैसे कान ही हाथी नहीं है, वैसे ही चार संहिताएँ ही वेद नहीं है। किन्तु वेद अनन्त हैं। उन्हींका एक स्वल्पांश चार संहिताएँ हैं। चार वेदों का अर्थ चार संहिताएँ नहीं हैं। किन्तु ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन चार जातियों के वेदों को चार वेद कहा जाता है। उनमें एक-एक वेद के अनेक भेद हैं। उन्हीं में से जीवग्राह्य वेदों की गणना को महाभाष्यकार आदि ने बतलाया है। अस्तु,

इसी तरह "अग्निहोत्रं जुहोति", "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादि विधिनिषेध-वाक्यों को ही 'चोदना' कहा गया है। यह भी ब्राह्मण-

Scanned by CamScanner

भाग ही है। 'कुर्याः, क्रियेत, कर्तव्यम्, भवेत्, स्यात्' इत्यादि ही विधिलक्षण है। (मीमांसासूत्र ४।३।३)। मन्त्रों में विधि की सत्ता ही नहीं है। उनमें तो अधिकांश प्रार्थनाएँ ही हैं। विधि तो ब्राह्मण भाग में ही है। यदि ब्राह्मण वेद न होगा, तो धर्म की वेदमूलकता कैसे सिद्ध होगी ? 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (२।१३) इस मनुवाक्य में भी श्रुतिपद से वेद ही गृहीत है। अतः वेद में धर्मविधि अनिवार्य ही है, इससे भी ब्राह्मण की वेदता सिद्ध है।

मीमांसा-दर्शन साक्षात् वेद का ही व्यवस्थापक है। उसका "अथातो धर्मजिज्ञासा" पहला सूत्र है और "अन्वाहार्ये च दर्शनात्" यह अन्तिम सूत्र है। इसमें १२ अध्याय हैं। ३, ६ और १० वें अध्यायों में आठ-आठ पाद हैं, इतरों में चार-चार पाद। इस तरह ६० पाद और प्रायः ९०० अधिकरण हैं। सभीमें प्रायः ब्राह्मण-वाक्यों को ही उदाहृत करके विचार किया गया है। इसमें मन्त्र-भाग के वाक्य बहुत ही कम विचारित हैं। पौरुषेय वाक्यों की मीमांसा न होकर अपौरुषेय वेदवाक्यार्थ का ही विचार है। यदि ब्राह्मणभाग वेद न हो, तो "मीमांसा नाम वेदविचारः" यह परिभाषा ही असंगत हो जायगी। उत्तर-मीमांसा में भी ब्राह्मणभाग ही प्रमाणित एवं उदाहृत हैं। "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (१।२।१) इस सूत्र में अर्थवादात्मक ब्राह्मणभाग को आम्नाय मानकर ही उसके आनर्थक्य की शंका की गयी है। "विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात्०" (जै० सू० १।२।१९) इस सूत्र के भाष्य में "औदुम्बरो यूपो भवति" तथा "हेतुर्वा स्यात्०" (जै० सू० १।२।२६) इस सूत्र के भाष्य में 'शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते'

Scanned by CamScanner

यह ब्राह्मणभाग ही उदाहृत हुआ है। उक्त सूत्र में ब्राह्मण की वेदता कही गयी है। "उक्तं हि समाम्नायैदमर्थ्यम्०" (जै० सू० १।४।१) में विध्यर्थवादयुक्त ब्राह्मण को ही समाम्नाय कहा गया है। "तत्सामर्थ्यं समाम्नाये" (१।४।१७) में "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्" इस ब्राह्मण को समाम्नाय कहा गया है। "श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था" (३।६।२०) सूत्र में 'आग्नेयं पशुमालभेत' इस ब्राह्मणवाक्य को श्रुति माना है। 'कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात्०' (६।१।५) यहाँ ब्राह्मण-वाक्यों को ही श्रुति कहा है। 'वेदे हि त्रयाणां निर्देशो भवति। वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्' (६।१।३३ सूत्र-भाष्य) यहाँ ब्राह्मण-वचन वेद माना गया है। "विधौ तु वेदसंयोगात्०" (६।७।२९) यहाँ 'माषान्मे पचत' इस ब्राह्मणवाक्य को वेद माना गया है। 'आम्नायवचनं तद्वत्' (११।२।४१) सूत्र में 'यदेवाध्वर्युः करोति' इस ब्राह्मणवाक्य को आम्नाय माना है। "सत्रे गृहपतिरसंयोगाद्धौत्रवदाम्नायवचनाच्च' (१२।४।३०) में 'यो वै सत्रे बहूनां यजमानानां गृहपतिः' इत्यादि ब्राह्मणवचन को आम्नाय माना है। "दोषस्त्विष्टिलौकिके०" (३।४।२८) सूत्र में पौण्डरीक में अश्वसहस्र-दक्षिणा, ज्योतिष्टोम में गौ और अश्व दक्षिणा कही गयी है और यह मन्त्रभाग में न होकर ब्राह्मणभाग में ही है।

श्रीस्वामी दयानन्दजी ब्राह्मणभाग के वेदत्व का निषेध करते हैं—यह भी ब्राह्मण का वेदत्व ही सिद्ध करता है, क्योंकि जिस भागी के मन्त्र और ब्राह्मण दो भाग हैं, उनमें यदि एक अवेद है, तो दूसरा भी अवश्य ही अवेद होगा। यह नहीं होता कि आम्र का एक भाग आम्र हो और दूसरा भाग कुछ

Scanned by CamScanner

और हो। अपिच—यह भी प्रश्न होगा कि प्राप्तिपूर्वक ही निषेध होता है। यदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में वेदत्व अप्राप्त था, तो निषेध में प्रवृत्ति ही क्यों? यदि ऐसा ही होता, तब तो मन्वादि स्मृतियों के भी वेदत्व का निराकरण करना चाहिए था। यदि वह प्राप्त था, तो कहाँसे? यदि लोक-व्यवहार से कहें, तो भी विचार करना होगा कि वह व्यवहार प्राचीन है अथवा अर्वाचीन? अर्वाचीन कहना तो असंगत ही है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं। उसकी प्राचीनता पूर्वोक्त युक्तियों एवं प्रमाणों से सिद्ध ही है। इस तरह यदि वह परम्पराप्राप्त प्राचीन व्यवहार है, तो फिर ब्राह्मणभाग का वेदत्व खण्डित कैसे हो सकेगा।

इसपर कहा जाता है कि 'आपस्तम्ब, कात्यायन आदि श्रौतसूत्रकारों ने ब्राह्मणों में वेदसंज्ञा चलायी', तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि उन लोगों ने वेदसंज्ञा का विधान नहीं किया, अपितु उन्होंने यही कहा है कि अनादिकाल से मन्त्र-ब्राह्मण की वेदसंज्ञा है। अन्यथा मन्त्र में भी अप्राचीनता और अर्वाचीनता ही सिद्ध होगी, क्योंकि उसी सूत्र में तो मन्त्र की भी वेदसंज्ञा कही गयी है। 'मन्त्र वेद हैं' इस तरह का जो भी प्रमाणवचन मिलेगा, उसमें भी इसी तरह शंका होगी कि इस विधान से पहले मन्त्रों की वेदसंज्ञा थी या नहीं थी।

'सत्यार्थप्रकाश' (२५ पृष्ठ) में श्रीस्वामी दयानन्दजी का कहना है कि 'कुलीन शूद्र हो, तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़कर सब शास्त्र पढ़ायें।' फिर ४४ वें पृष्ठ में वे कहते हैं 'कि ईश्वर-प्रमाण से शूद्रों का भी वेदाधिकार है।' पहले शूद्रों का मन्त्रभाग में

Scanned by CamScanner

अधिकार निषिद्ध किया और फिर यहाँ शूद्रों के वेदाध्ययन का अधिकार बतलाया गया। इससे भी सिद्ध हुआ कि मन्त्रभाग से भिन्न ब्राह्मणभाग भी उन्हें वेदत्वेन अभीष्ट है।

उनका अन्तिम हेतु है—'मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्'। अर्थात् मनुष्यबुद्धि-रचित होने से ब्राह्मण वेद नहीं है। परन्तु वह कौन-सी मनुष्य-बुद्धि है जो ब्राह्मणभाग में है, मन्त्र-भाग में नहीं है, यह उन्होंने नहीं बताया। अतः यह हेतु ही साध्यसम है—हेत्वाभास है। कहा जाता है 'ऋग्वेदादि के साथ वेदशब्द या संहिता-शब्द प्रयुक्त होता है, शतपथ आदि के साथ प्रयुक्त नहीं होता; अतः ब्राह्मण वेद नहीं हैं।' पर यह भी ठीक नहीं। इस तरह तो आयुर्वेद, सर्पवेद, पिशाचवेद, सुश्रुत-संहिता, चरकसंहिता आदि के साथ भी वेद और संहिता शब्दों का प्रयोग है। तब क्या उन्हें भी वेद माना जायगा? "तस्माद्यज्ञात्सर्व-हुत ऋचः" इत्यादि मन्त्र में, ऋक् आदि में वेदशब्द नहीं आया है, तो क्या वह ऋक् आदि वेद न होंगे? प्राचीनकाल में ऋगादि वेदों की शाकल्य, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी आदि शाखानामों से ही ख्याति थी, वेदशब्द का प्रयोग नहीं था। तो क्या इतने से ही वे सब वेद नहीं थे? प्राचीन लोग मन्त्र के समान ही ब्राह्मणभाग को भी वेद कहते थे। अतः उनकी वेदता स्पष्ट ही है।

इसके अतिरिक्त 'छान्दस' आदि जैसे मन्त्र में होते हैं, वैसे ही ब्राह्मणभाग में भी होते हैं। कहा जा सकता है कि 'छान्दस कार्य तो पाणिनि-सूत्रों, इतिहास पुराणों तथा काव्यों में भी हुए हैं'। पर यह कहना ठीक नहीं, पाणिनि-

Scanned by CamScanner

सूत्रों के सम्बन्ध में तो 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति" यह परिभाषा स्पष्ट है। "छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति" यह भी भाष्यकार की उक्ति है। अतः वे सब वेद नहीं हैं, यह स्पष्ट है। इस तरह "छन्दोवत् ब्राह्मणानि भवन्ति" ऐसी कोई परिभाषा नहीं है। किन्तु साक्षात् वेद होने से ही ब्राह्मणभाग में छान्दस प्रयोग होते हैं। ब्राह्मण-भाग में इतिहास-पुराण के समान छान्दस प्रयोग क्वाचित्क नहीं है। किन्तु 'मन्त्रे' इसे छोड़कर 'छन्दसि निगमे' इत्यादि से विहित सभी आदेश ब्राह्मणभाग में होते हैं। वस्तुतः ब्राह्मणभाग से सनातनधर्म के अनेक सिद्धान्त सिद्ध होते हैं। इसलिए द्वेषवशात् ही लोग ब्राह्मणभाग को अवेद कहने का साहस कहते हैं।

श्रीस्वामीजी दयानन्द ने ही ऋग्वेद-भाष्यभूमिका (पृ० ७९) में लिखा है—"छन्द, निगम, मन्त्र, वेद, श्रुतिशब्द पर्याय-वाचक ही हैं। "छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्। मन्त्रे घस्० (पाणिनि-सूत्र २।४।८०), छन्दसि लुङ्०, (पा० ३।४।६), वा षपूर्वस्य निगमे, (पा० ६।४।९) अत्रापि (?) छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति। एवं छन्द आदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवा-स्तीति विज्ञायते।" उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामी दयानन्दजी छन्द, वेद, निगम, मन्त्र, श्रुति को पर्यायवाचक ही मानते हैं। फिर "मन्त्रे श्वेतवह०" (३।२।७१) इस सूत्र में मन्त्र-भाग का ग्रहण है ही, पुनः "विजुपे छन्दसि" (३।२।७३) सूत्र में छन्दोग्रहण का क्या अर्थ रह जाता है? यदि छन्द से पृथक् "द्वितीया ब्राह्मणे" में ब्राह्मणग्रहण से ब्राह्मण वेद से भिन्न है,

Scanned by CamScanner

तब तो छन्द से पृथक् मन्त्रग्रहण से मन्त्रभाग को भी वेद से भिन्न ही कहना पड़ेगा।

इसी तरह ऋग्वेदभाष्यभूमिका ने ब्राह्मणभाग वेद नहीं है इसमें "ऋषिभिरुक्तत्वात्" यह हेतु दिया गया है। "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" (४।३।१०५) इस सूत्र के अनुसार "प्राचीनैर्ब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्थाः" ऐसी व्याख्याकर ब्राह्मणभाग के ऋषि-प्रोक्त होने से वेदभिन्नता सिद्ध की गयी है। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणभाग के समान ही मन्त्रभाग के भी ऋषिप्रोक्त होने से मन्त्र की भी वेदभिन्नता सिद्ध होती है। "ये एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च" (न्यायदर्शन ४।१।६२) इस रूप से उपर्युक्त वचन से स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो ऋषि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही भागों के द्रष्टा और प्रवक्ता हैं, वे ही पुराण थे। 'प्रोक्त' होना और बात है तथा 'कृत' होना और बात। ऋषिप्रोक्त जैसे मन्त्र हैं, वैसे ही ब्राह्मण हैं। ऋषिकृत न तो मन्त्र हैं न ब्राह्मण ही।

'सत्यार्थ-प्रकाश' (१२५।२६ पृष्ठ) में श्रीस्वामी दयानन्दजी ने स्वयं माना है कि 'ऋषियों ने परमात्मस्वरूप में समाधि लगाया (थी) तब मन्त्र प्राप्त हुए। तब यदि ब्राह्मण ऋषिप्रोक्त हैं, तो भी ब्राह्मणभाग की अपौरुषेयता एवं वेदता में कोई बाधा नहीं पड़ती। इतना ही क्यों? यदि कोई ऋषि मन्त्रकृत रूप से प्रमाणित हो, तो भी क्या श्रीदयानन्दजी मन्त्रों को ऋषिकृत मान लेंगे? सिद्धान्ततः तो मन्त्र ऋषिकृत ही क्या, ईश्वरकृत भी नहीं। 'सूर्यऋषिर्मन्त्रकृत्' (ऐतरेयब्राह्मण (६।१) यहाँ सूर्यऋषि को 'मन्त्रकृत्' कहा गया है।

Scanned by CamScanner

"यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत" (ऋ० १०।७१।२), "ऋषिः कुत्सो-भवति कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः" (निरुक्त ३ । २ । ५), "ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः" (ऋ० ९ । ११४। २) इत्यादि प्रमाणों से ज्ञात होता है कि धीरों ने वेदलक्षणा वाक् को किया। कुत्सऋषि स्तोमों (मन्त्र-समुदायों) के कर्त्ता हुए। मन्त्रकारों को 'स्तोम' कहा गया है। फिर भी इससे वे मन्त्रकृत् नहीं समझे जाते, क्योंकि "वाचा विरूपनित्यया, अनादिनिधना नित्या, अत एव च नित्यत्वम्" इत्यादि श्रुति-स्मृतियों द्वारा वेद की नित्यता और अपौरुषेयता सिद्ध है। अतः उपर्युक्त वचनों का मन्त्रदर्शन, मन्त्र-प्रवचन या मन्त्रसम्प्रदाय-प्रवर्तन ही अर्थ है। ठीक ये ही सभी बातें ब्राह्मणभाग के सम्बन्ध में भी है। अतएव ऋषिप्रोक्त होने पर भी ब्राह्मण वेद ही हैं, ऋषिप्रणीत नहीं हैं। इसी तरह 'अनीश्वरोक्तत्वात्' यह हेतु भी ब्राह्मणभाग की वेदता का खण्डन नहीं कर सकता। स्वयं स्वामी श्रीदयानन्दजी की पूर्व उक्ति से भी यह विरुद्ध है। उसमें कहा गया है कि 'परमात्मा द्वारा ही ऋषियों को मन्त्र एवं मन्त्रव्याख्यानरूप ब्राह्मण प्राप्त हुए हैं। इससे मन्त्रों के समान ब्राह्मण भी ईश्वरोक्त ही सिद्ध होते हैं। फिर अनीश्वरोक्तत्व हेतु भी असिद्ध ही है।

श्रीदयानन्दजी ने भूमिका में यह भी कहा है कि 'ब्राह्मण वेद-व्याख्यान हैं, उनकी वेदसंज्ञा नहीं' परन्तु यह भी ठीक नहीं। उन्होंने ऋग्वेदभाष्य-भूमिका संस्कृत में लिखकर उसका हिन्दी व्याख्यान भी स्वयं लिखा है। तब क्या यह कहा जायगा कि हिन्दी व्याख्यान ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका नहीं, कुछ और है। महाभाष्य भी तो व्याकरण-सूत्रों का भाष्य है, फिर क्या वह

Scanned by CamScanner

व्याकरण नहीं है ? दयानन्द प्रकाश में कहा गया है कि स्वामीजी ने कहा–'यह विलक्षण सभा है 'जिससे महाभाष्य को व्याकरण नहीं माना जाता।'

जिस तरह ऋषियों द्वारा दृष्ट मन्त्र ऋषिकृत नहीं हैं, इसी तरह ऋषियों द्वारा दृष्ट मन्त्रव्याख्यानरूप ब्राह्मण भी ऋषिकृत नहीं हैं। जैसे मन्त्रों का प्रणेता ईश्वर है, वैसे ब्राह्मणों का भी वही प्रणेता है।

कहा जाता है कि 'ब्राह्मणभाग मन्त्रभाग का भाष्यरूप है। अतः उसका पश्चात् निर्मित होना सिद्ध होता है। वेद के समकालिक न होने से ब्राह्मण वेद नहीं हैं।' परन्तु यह कथन भी व्यर्थ है, क्योंकि इस प्रकार का पौर्वापर्यलक्षण क्रम तो ऋक्, साम, यजुः आदि के मन्त्रों में भी हैं। ऋग्वेद में भी द्वितीय मण्डल प्रथम मण्डल के पश्चात् ही है। फिर तो उसका भी अवेदत्व ही सिद्ध होगा। "अग्निमीळे" इसके उत्तर के सभी मन्त्रों की वही दशा होगी। फिर भी यदि उन सबकी समकालिकता मान्य है, तब तो मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग को भी समकालिक कहा ही जा सकता है।

जो कहते हैं कि 'प्रशंसा के अभिप्राय से ब्राह्मण को यत्र-तत्र वेद कहा गया है', वह भी ठीक नहीं है। वेद के उदाहरण-प्रसंग में ब्राह्मण का उदाहरण प्राचीन आचार्यों ने दिया है। अतः ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा वास्तविक है। यह सर्वथा असंगत है कि मन्त्र का खण्डन या प्रशंसन किया जाय और प्रमाण दिया जाय, ब्राह्मण का। "न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्, अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्, अनुवादोपपत्तेश्च" इत्यादि

न्यायसूत्रों एवं तत्रत्य न्यायभाष्य के वचनों से स्पष्ट ही पुत्रेष्टि-बोधक, उदित-अनुदित-होमबोधक तथा अनुवादबोधक ब्राह्मण-वचनों का दोषपरिहारपूर्वक प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। वात्स्यायन ने स्पष्ट ही मन्त्र और ब्राह्मण को समकक्ष माना है। "विषयव्यवस्थापनाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्। अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः, अन्यश्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणाम्" (४।१।६२—विषयभेद से अपने-अपने विषय में सबका प्रामाण्य है। मन्त्र-ब्राह्मण का अन्य विषय है, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्रों का अन्य विषय है) यहाँ मन्त्र, ब्राह्मण को स्पष्ट ही समकक्ष माना गया है। "यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य विषयः, लोकव्यवहारव्यवस्थापनम् धर्मशास्त्रस्य विषयः, तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थापते इति यथाविषयमेतानि प्रमाणानि इन्द्रियादिवत्" (४।१।६२—मन्त्र-ब्राह्मण का यज्ञ विषय है, लोकवृत्त इतिहास-पुराण का विषय है, यथाविषय सबका प्रामाण्य है)। वहीं "प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते" इस वचन से वात्स्यायन कहते है कि प्रमाणभूत ब्राह्मण के द्वारा इतिहास-पुराण का प्रामाण्य सिद्ध होता है। यदि ब्राह्मण स्वयं इतिहास-पुराण होता, तो अपने में ही स्वयं प्रमाण कैसे हो सकता? क्या परम चतुर भी नट कभी अपने कन्धे पर चढ़ सकता है?

श्रीस्वामी दयानन्दजी ने "प्रमाणं शब्दो यथा लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः" इस कात्यायन (?) भाष्य का उद्धरण देकर ८४ पृष्ठ में कहा है कि "अयमभिप्रायः—ब्राह्मणग्रन्था लौकिका एव, न वैदिकाः" अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थ लौकिक ही हैं, वैदिक नहीं। परन्तु यह केवल छद्म है क्योंकि 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके'

Scanned by CamScanner

(वैदिक शब्द प्रमाण हैं, जैसे लोक में शब्द प्रमाण होते हैं) इतना अंश २।१।६० सूत्र का भाष्य है। उसके आगे "विभागश्च ब्राह्मण-वाक्यानां त्रिविधः" यह अंश २।१।६१ सूत्र का अवतरणिकारूप भाष्य है। फिर उससे ब्राह्मणभाग की लौकिकता कैसे सिद्ध हो सकती है? या तो स्वामी दयानन्दजी ने भाष्य समझा ही नहीं या जान-बूझकर जनता की आँखों में धूलिप्रक्षेप किया हो।

यदि लोक का दृष्टान्त देकर मन्त्रभाग का पोषण किया जाय, तो मन्त्रभाग भी लौकिक हो जायगा? "न भिद्यते लौकिकाद्वाक्याद् वैदिकं वाक्यं प्रेक्षापूर्वकारिप्रणीतत्वेन" (४।१।६०—लौकिक वाक्य से वैदिक वाक्य इस अंश में भिन्न नहीं हैं कि दोनों ही प्रेक्षापूर्वकारि पुरुष द्वारा प्रणीत हैं) क्या इस कथन से मन्त्रभाग वैदिक-मन्त्र भी लौकिक हो जायँगे? यास्क ने भी (१।१६।१-४-७-९) सूत्र सब लौकिक भी दृष्टान्तों के आधार पर मन्त्रों की सार्थकता सिद्ध की है। 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' (वात्स्यायनभाष्य) यहाँ 'यथा' शब्द उपमावाचक है। लौकिक-वाक्यप्रामाण्य की उपमा से ब्राह्मणरूप वैदिक वाक्य का प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। "विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्" इस सूत्र में गौतम ने ब्राह्मणभाग के तीन प्रकार बतलाये हैं। "विधिर्विधायकः" (२।१।६३), "स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः" (२।१।६४), "विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः" (२।१।६५) इत्यादि सूत्रों से उनके लक्षण कहे हैं। भाष्यकार ने "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, सर्वजितो वै देवाः सर्वमयाजयन्, एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्तं पतति" इत्यादि उदाहरण दिये हैं। वात्स्यायन ने ६५ वें सूत्र में पूर्वोक्त ब्राह्मणवाक्यों की सार्थकता के लिए भी लौकिक उदाहरण

Scanned by CamScanner

दिये हैं। "लोकेऽपि विधिरर्थवादोऽनुवाद इति त्रिविधं वाक्यं भवति। 'ओदनं पचेत्' इति विधिः, 'आयुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिभानमन्त्रे प्रतिष्ठितम्' इति अर्थवादः, 'पचतु पचतु भवान्' इत्यभ्यासः"—इस तरह लौकिक वाक्यों का उदाहरण देकर वे "अग्निहोत्रं जुहुयात्" इस ब्राह्मणवाक्य का सामञ्जस्य करते हैं—"यथा लौकिके वाक्ये विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हति" अर्थात् जैसे लौकिक वाक्यों का विभागेन अर्थग्रहण होने से प्रामाण्य है, वैसे ही वैदिक "अग्निहोत्रं जुहुयात्" आदि वाक्यों का भी विभागेन अर्थग्रहण होने से प्रामाण्य है। वात्स्यायन ने जितने लौकिक वाक्यों के उदाहरण दिये हैं, उनमें एक भी ब्राह्मणवाक्य नहीं है। जितने वैदिक वाक्यों के उदाहरण दिये हैं, उनमें सभी ब्राह्मणवाक्यों के उद्धरण दिये हैं। मन्त्रभाग का एक भी उद्धरण भाष्यकार ने नहीं दिया। उपसंहार में अवश्य ही वेदवाक्य नाम से ब्राह्मणों का वेदत्व कहा है।

"मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यम्" यहाँ भी लौकिक आयुर्वेद के दृष्टान्त से वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। क्या इतने से ही वेद लौकिक सिद्ध हो जायँगे? यदि ब्राह्मणभाग वेद न होता, तो वेद के प्रकरण में ब्राह्मणभाग का वर्णन अप्रकृत प्रक्रिया ही कही जाती। इसी तरह ब्राह्मण के प्रकरण में "एवं वेदवाक्यानामपि प्रामाण्यं भवितुमर्हति" इत्यादि कथन सर्वथा असंगत ही होता।

इसी तरह "इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्" इस ऐतिह्यलक्षणबोधक भाष्य के आधार पर श्रीस्वामी दयानन्दजी ने लिखा है—"अनेन प्रमाणेनापीतिहासनामभिर्ब्राह्मणान्येन

गृह्यन्ते नान्यदिति।" पर यहाँ ब्राह्मण का कोई प्रकरण ही नहीं है। फिर भी इस प्रमाण से 'ब्राह्मण इतिहास है, वेद नहीं' यह कहना कितना छल है, स्पष्ट ही है। यह भी कहा जाता है कि 'ब्राह्मण-ग्रन्थों में मनुष्यों के जन्मोल्लेखपूर्वक इतिहास हैं, परन्तु मन्त्रों में ऐसा नहीं है।' लेकिन यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ब्राह्मण-भाग में जो इतिहास हैं, वे तो मन्त्रभाग के इतिहास के विवरण-रूप ही हैं। मन्त्रभाग में भी उर्वशी, पुरूरवा आदि के पर्याप्त इतिहास हैं।

आगे चलकर श्रीस्वामी दयानन्दजी को "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्" इत्यादि मन्त्र में इतिहास की शंका हुई, तो उसका उन्होंने "चक्षुर्वै जमदग्निः" इत्यादि शतपथ-ब्राह्मण के प्रमाण से मन्त्र के जमदग्नि को चक्षुरूप मानकर समाधान किया है। परन्तु यह ठीक नहीं है। कारण, जमदग्नि का चक्षु यह गौण अर्थ है। इससे जमदग्नि का अपलाप नहीं किया जा सकता है। जैसे "योषा वाव गौतम अग्निः" इस प्रमाण से स्त्री को गौण अग्नि कहा गया है। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि योषा (स्त्री) अग्नि ही है, उससे भिन्न योषा नहीं होती। इसी तरह "त्रयो वेदा एत एव, वागेवर्ग्वेदः मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः (शतपथ १४।४।३।१२), "तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" इत्यादि मन्त्र से ऋग् आदि का वाग् आदि ही अर्थ करना पड़ेगा। फिर तो शब्दात्मक ऋग्वेदादि का ही अपलाप सिद्ध हो जायगा। श्रीस्वामी दयानन्द ने ही परमेश्वर से वेदों की उत्पत्ति का इतिहास "तस्माद्यज्ञात्" इत्यादि मन्त्र में दिखलाया है। वस्तुतः ब्राह्मणभाग की यह शैली ही है। वे एक शब्द के कई

Scanned by CamScanner

प्रकार के अर्थ बतलाते हैं—यह निरुक्तकार भी मानते हैं, "बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति, अग्निर्वैश्वानरः संवत्सरो वैश्वानरः, ब्राह्मणो वैश्वानरः" (७।२४।६)। ब्राह्मणभाग में "आयुर्वै घृतम्" कहा गया है, तो क्या घृत को आयु का पर्यायवाचक मान लिया जाय? यदि नहीं, तो जमदग्नि भी चक्षु का पर्यायवाचक नहीं हो सकता; किन्तु जमदग्नि का चक्षु में श्रेष्ठत्वेन आरोप है।

श्रीस्वामी दयानन्दजी ने मन्त्रों से इतिहास निकालने के लिए "त्र्यायुषं जमदग्नेः" इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह किया है कि 'हे ईश्वर, जमदग्निसंज्ञक चक्षु एवं कश्यपनामक प्राण की त्रिगुण अर्थात् तीन सौ वर्ष की आयु हो। देवों में अर्थात् विद्वानों में जो विद्याप्रभावयुक्त त्रिगुण आयु होती है, वही त्रिगुण आयु हमारी हो।' किन्तु यह अर्थ असंगत ही है। श्रीस्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्र में कहा है कि विद्वान् की तीन सौ वर्ष की आयु होती है। फिर उनके अनुयायी सोचें कि श्रीस्वामी दयानन्दजी विद्वान् थे या नहीं? यदि थे, तो वे तीन सौ वर्ष तक क्यों न जीवित रहे? यदि विद्वान् न थे, तो उनकी व्याख्या, उनके सिद्धान्त कैसे ठीक हो सकते है? मन्त्र में जिन विद्वानों की आयु तीन सौ वर्ष कही गयी है, वे इस मन्त्र से पहले उत्पन्न हुए या पश्चात्? यदि पहले, तब तो मन्त्र भी इतिहास हुआ।

श्रीस्वामी दयानन्दजी ने स्वयं लिखा है—"इतिहास जिसका हो, वह उसके जन्म के पश्चात् ही लिखा जाता है। वह ग्रन्थ भी उसके जन्म के पश्चात् का होता है" (सत्यार्थ-

Scanned by CamScanner

प्रकाश १२७ पृष्ठ)। "अग्ने देवेषु प्रवोचः" (ऋ० १ । २७ । ४) इस मन्त्र के भाष्य में श्रीस्वामी दयानन्दजी ने लिखा है— "हे अनन्तविद्यामय, जगदीश्वर देवेषु सृष्ट्यादौ जातेषु पुण्यात्मसु अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्सु मनुष्येषु प्रवोचः प्रोक्तवान् ।" (हे ईश्वर, सृष्टि के आदि में उत्पन्न पुण्यात्मा अग्नि, आदित्यादि मनुष्यों से आपने कहा था)। यदि श्री स्वामी दयानन्दजी का यह अर्थ शुद्ध है, तब तो मन्त्र में इतिहास आ ही गया। यदि अशुद्ध है, तब ऐसे व्यक्ति के कथनानुसार यह कैसे माना जाय कि मन्त्र में इतिहास नहीं है। इस तरह जैसे इन मन्त्रों की वेदता सिद्ध होगी, वैसे ही ब्राह्मणभाग की भी वेदता सिद्ध होगी। ऋग्वेदभाष्यभूमिका, ३१५ पृष्ठ में श्रीस्वामी दयानन्दजी ने लिखा है—"ननु इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति गङ्गादिनदीनां वेदे प्रतिपादनं कृतमस्ति, त्वया न मन्यते। अत्रोच्यते—मन्यते। तासां नदीसंज्ञेति, ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति, ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति तावत्तासां मान्यं करोमि।" यहाँ भी प्रश्न होगा कि गंगादि अनित्य नदियों के होने के बाद यदि यह मन्त्र बना, तब तो वह इतिहास हुआ ही। यदि पहले ही, तब तो इसी तरह जमदग्नि आदि के प्रकट होने से पहले भी तत्प्रतिपादक मन्त्रों का निर्माण हो सकता है। फिर उनके अर्थपरिवर्तन की क्या आवश्यकता है? फिर तो यही समाधान ब्राह्मण-भाग में भी हो ही सकता है?

ऋग्वेदभाष्यभूमिका (८२-८३ पृष्ठ) में आगे श्रीदयानन्दजी ने लिखा है—"तमितिहासश्च पुराणश्च गाथाश्च नाराशंसी च अनुव्यचलन् (अथर्व १५ । ३ । १), इतिहासस्य सपुराणस्य प्रियं धाम भवति य एवं वेद' (अ० १५ । ३ । ४) एतैः प्रमाणैः

ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न श्रीमद्भागवतादीनाम् ।" अर्थात् उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर इतिहास-पुराण शब्द से ब्राह्मण-ग्रन्थों का ही ग्रहण है, श्रीमद्भागवतादि पुराणों का नहीं।" यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि उपर्युक्त मन्त्रों में इतिहास-पुराण शब्द से ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण है, तो यह भी बतलाना चाहिए कि क्या ये मन्त्र ब्राह्मणनिर्माण के पश्चात् प्रणीत हुए या उनसे पहले ? इसका जो उत्तर आर्यसमाजी दे सकते हैं, वही ब्राह्मणभाग के इतिहास का भी उत्तर है। यदि आर्यसमाजी इतिहास होने से ब्राह्मणभाग को वेद नहीं मानते, तब तो यह मन्त्र भी इतिहास ही है। फिर यही वेद किस प्रकार हुआ ? यदि यह इतिहास नहीं, तो ब्राह्मणभाग भी इतिहास नहीं हो सकता।

आश्वलायन-गृह्यसूत्र में "ऋचो यजूंषि सामार्थर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि इतिहासपुराणानि" इस वचन से पुराणेतिहास ब्राह्मण से पृथक् निर्दिष्ट है। तैत्तिरीयारण्यक (२ प्र० ६ अनु०) में "ब्राह्मणानि इतिहासपुराणानि" यहाँ भी ब्राह्मणों से पृथक् इतिहास पुराण का वर्णन है।

इसी तरह "कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञाया अस्वीकृतत्वात्" (ऋग्वेदभाष्यभूमिका) यह हेतु भी अल्पज्ञता-सूचक ही है। क्योंकि आपस्तम्ब, सत्याषाढ, कौषीतकी, गौतम, वात्स्यायन, पाणिनि, पतञ्जलि, जैमिनि, व्यास आदि अगणित महर्षियों ने ब्राह्मणभाग को वेद माना है। फिर कात्यायन से भिन्न ऋषियों ने ब्राह्मण की वेदसंज्ञा नहीं मानी—यह कथन कितना निरर्थक है, यह स्पष्ट ही है। "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, शेषे ब्राह्मणशब्दः" इत्यादि से

Scanned by CamScanner

स्पष्ट ही मन्त्रभाग से अवशिष्ट वेदभाग को ब्राह्मण कहा गया है। 'नलचम्पू' का शेष उत्तरमीमांसा नहीं कही जा सकती। यदि मन्त्र से अवशिष्ट भाग वेद नहीं, तो मन्त्रभाग भी वेद कैसे होगा?

आजकल कुछ लोग शेष का अर्थ अङ्ग करते हैं अर्थात् मन्त्ररूपी वेदों का अङ्ग (सहायक) भाग ब्राह्मण है। परन्तु वही ऋक् एवं साम का लक्षणकर "शेषे यजुःशब्दः" जैमिनि-सूत्र है। यदि वहाँ शेष शब्द का अवशिष्ट ही अर्थ है, तो यहाँ शेष शब्द का अग अर्थ कैसे हो गया? यदि पिछले सूत्र में वेद का लक्षणकर 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' कहा होता; तब तो किसी तरह ब्राह्मण की अवेदता कही जा सकती थी। परन्तु यहाँ तो वेद के मन्त्र-ब्राह्मण दोनों भागों के पृथक्-पृथक् लक्षण बतलाये गये हैं। यदि द्वितीयभाग वेद नहीं, तो प्रथमभाग वेद कैसे होगा? भगवान् शङ्कराचार्य जिन्हें शास्त्रतात्पर्यविदः कहते हैं, जिनकी प्रसिद्धि है कि वे साम की सहस्रशाखाओं को सांगोपांग सार्थ जानते थे, वे शबरस्वामी २।१।३३ में साफ कहते हैं "मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च वेदः तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मण लक्षणम-वचनीयम्, मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिद्धम्। आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणा-नि च।" यह अथर्ववेद कौशिकसूत्र है—"मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्या-चक्षते।" "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" यह बोधायनसूत्र है। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्", आपस्तम्ब श्रौतसूत्र है। "मन्त्रब्राह्मण-योर्नामधेयं वेदः" यह सत्याषाढ श्रौतसूत्र है। इसी तरह षड्गुरु-शिष्य, सायण आदि का भी यही मत है। शुक्रनीति को भी यही अभिमत है—यह अन्यत्र दिखाया जा चुका है। यास्क का भी मत कहा ही गया है। उव्वट आदि का भी यही मत है।

Scanned by CamScanner

इतना ही नहीं, 'निरुक्तालोचन में श्रीसत्यव्रत सामश्रमीजी ने भी ब्राह्मण को वेद माना है। उन्होंने "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रापुः··· वेदञ्च" इत्यादि सूत्र में कहा है कि "यतोऽत्र मन्त्रान् सम्प्रापुः इति कथनानन्तरमेव पुनरुक्तं वेदञ्च इति, अतो ज्ञायते नेह वेद-शब्देन मन्त्राणां बोधोऽपि तु तदतिरिक्तभागानां ब्राह्मणानामेव।" सामश्रमीजी समाजियों के ही पण्डित थे। पूर्वोक्त सूत्र में 'मन्त्रान्, वेदान्' इन दोनों शब्दों के पौनरुक्त्य-दोषवारणार्थ वेदशब्द का ब्राह्मण अर्थ मानना ही युक्त है।

"उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥"

इस वचन (२।१५) से महाराज मनु ने 'उदिते जुहोति' इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण को स्पष्ट ही वैदिकी श्रुति कहा है। इसपर आगे भी विवेचन किया जायगा।

"राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।"

यह मनुवचन (७।९७) भी ब्राह्मण को वैदिकी श्रुति कहता है, क्योंकि यह विषय मन्त्र में न होकर ब्राह्मण में ही है। श्रीस्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में कहा है—"यह मनुस्मृति जो सृष्टि के आदि में हुई है, प्रमाण है। इससे सिद्ध है कि सृष्टि के आदिकाल से ही ब्राह्मण में वेदत्व का व्यवहार है। श्रीयास्क भी मनु को सृष्ट्यादिभव मानते हैं—"विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्" (३।४।२)। श्रीस्वामीजी के मत में भी मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोक क्षेपक नहीं हैं।

Scanned by CamScanner

'शुक्रनीति' ने भी "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम प्रोक्तमृगादिषु" (४।२७१) से ब्राह्मण को वेद माना है। शुक्रनीति को श्रीस्वामी दयानन्दजी ने प्रमाण माना है, यह कहा ही जा चुका है। "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" (६।१।१) इस वैशेषिक सूत्र के भाष्य में 'स्वर्गकामो यजेत' इस ब्राह्मणवाक्य को ही वेदनाम से कहा गया है। 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इस वेदान्तसूत्र में भी श्रुतिप्रमाणरूप से ब्राह्मणभाग ही गृहीत है। 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' (मनु० २।१०) से भी श्रुति को वेद ही माना गया है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनु० २।६) से धर्म श्रुति से गम्य प्रतिपादित है। मीमांसादर्शन में 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (१।१।२) से धर्म को चोदनागम्य कहा गया है।

वेदशब्द यद्यपि मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय का वाचक है, तथापि 'समुदाय' शब्द अवयववाचक भी होता है—"समुदाये हि वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते" पूर्वपञ्चालाः, उत्तरपञ्चालाः, घृतं भुक्तम्, तैलं भुक्तम्" (३।३।९)। ब्रह्मसूत्र के शाङ्करभाष्य में भी यही बात कही गयी है—"समुदायेषु शब्दा प्रवृत्ताः अवयवेष्वपि वर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिषु।" अर्थात् जैसे कपड़े का अंश जलने पर भी कपड़ा जलने का व्यवहार होता है, वैसे ही वेद, स्वाध्याय, छन्दशब्द केवल मन्त्रभाग के भी वाचक होते हैं। इसी तरह मन्त्र-ब्राह्मण दोनों ही के वाचक होते हुए भी वे केवल ब्राह्मणभाग के भी वाचक होते हैं। वक्ता के विवक्षा-भेद से ये सभी अर्थ सम्पन्न होते हैं। "छन्दोब्राह्मणानि च" यहाँ पाणिनि ने छन्दःशब्द से मन्त्रभागमात्र कहा है। इसी तरह "मन्त्रे श्वेतवह" (२।२।७१), "विजुपे छन्दसि" (३।२।७३) यहाँ छन्दःशब्द केवल ब्राह्मणभाग के अर्थ में कहा है;

Scanned by CamScanner

क्योंकि मन्त्रभाग की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति हो ही जाती है। अतः उसके लिए छन्दःशब्द व्यर्थ ही होता। "एवं जुष्टार्पिते च छन्दसि" (६।१।२०९), 'नित्यं मन्त्रे (६।१।२१०) यहाँ भी छन्दःशब्द केवल ब्राह्मणभाग का ही वाचक है, क्योंकि 'नित्यं मन्त्रे' इस सूत्र में मन्त्रभाग साक्षात् गृहीत है। यदि "छन्दोब्राह्मणानि च" यहाँ छन्दश्शब्द के पृथक् ग्रहण से ब्राह्मणभाग वेद न हो, तब तो पूर्व-प्रदर्शित स्थलों में आर्यसमाजियों के मतानुसार मन्त्रभाग का भी वेदत्व खण्डित हो जायगा।

जिस प्रकार "तनादिकृञ्भ्य उः" (३।१।७९) यहाँ यद्यपि तनादि धातु में कृञ् धातु का भी पाठ है, फिर भी सूत्र में पृथक् कृञ् का ग्रहण वैशिष्ट्यबोधन के लिए मान्य है, उसी तरह पूर्वसूत्र में छन्दःशब्द से ब्राह्मण का ग्रहण होने पर भी ब्राह्मणशब्द वैशिष्ट्यद्योतनार्थ है। काशिकादि में निम्नोक्त प्रकार के समाधान किये गये हैं—'ब्राह्मणग्रहणं ब्राह्मणविशेषग्रहणार्थम्।' ब्राह्मणग्रहण ब्राह्मणविशेष के ग्रहणार्थ है, जिससे "याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि" का वारण हो जाता है। कैयट ने कहा है—"गोबलीव र्दन्यायेन छन्दःशब्देन मन्त्राणां ग्रहणम्। यथा जुष्टार्पिते च छन्दसि इति सूत्रे छन्दःपदेन ब्राह्मणानां ग्रहणम्, नित्यं मन्त्रे इति मन्त्र-ग्रहणात् छन्दोग्रहणेनैव ब्राह्मणानां ग्रहणे सिद्धे ब्राह्मणविशेषप्रतिपत्त्यर्थं पुनः ब्राह्मणग्रहणम्। तेन याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि इति तद्विषयता न भवति। तेन ब्राह्मणवशिष्ठोन्यायेन वैशिष्ट्यद्योतनार्थं पुनर्ब्राह्मणग्रह-णम्। न हि ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इत्युक्तौ कश्चिद्वशिष्ठस्या-ब्राह्मणत्वं प्रत्येति।" अर्थात् गोबलीवर्द न्याय से यहाँ छन्दशब्द से मन्त्र का ग्रहण है। जैसे "जुष्टार्पिते छन्दसि" यहाँ छन्दशब्द से

Scanned by CamScanner

केवल ब्राह्मण का ग्रहण है, क्योंकि 'नित्यं मन्त्रे' इस सूत्र में मंत्र ग्रहण है ही। इसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए। "छन्दो-ब्राह्मणानि च" यहाँ छन्दःशब्द से यद्यपि ब्राह्मण का भी ग्रहण हो ही जाता, फिर भी ब्राह्मणग्रहण ब्राह्मणविशेष के ग्रहणार्थ ही है, जिससे 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि' में इसकी प्रवृत्ति न हो। 'ब्राह्मण आये हैं, वशिष्ठ भी आये हैं' यह कहने से जैसे वशिष्ठ की अब्राह्मणता सिद्ध नहीं होती, वैसे ही छन्द से भिन्न ब्राह्मणग्रहण से भी ब्राह्मण की अवेदता सिद्ध नहीं होती। 'गोपथब्राह्मण' में 'सर्वे वेदा निर्मिताः सब्राह्मणाः' यहाँ भी स्पष्टतया विशिष्टता के लिए ही ब्राह्मण का पृथक् कथन है।

"सहोवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थ-मितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्" (छान्दोग्य ७।१।२) इत्यादि स्थलों में वेदशब्द से मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग दोनों गृहीत होते हैं। जैसे गोपथ में वेदशब्द केवल मन्त्रभाग का बोधक है, वैसे ही वेदशब्द केवल ब्राह्मणभाग का भी बोधक होता है। जैसे—"तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रापुः उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरेरग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च" (निरुक्त, १।२०।२) यहाँ ब्राह्मणभाग का ही वाचक वेदशब्द है, क्योंकि मन्त्रभाग का नाम तो आ ही गया है। श्रीसत्यव्रत साम-श्रमी ने भी 'निरुक्तालोचन' ने यही कहा है। 'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (नि० १।२।७) यहाँ भी मन्त्र से पृथक् गृहीत वेदशब्द ब्राह्मण का ही वाचक है, क्योंकि कर्मसम्पादन के मन्त्र ब्राह्मणभाग में समाम्नात हैं, मन्त्रभाग में नहीं। मन्त्र-भाग में तो कर्म, उपासना और ज्ञानसंपादक मन्त्र हैं। जैसे

Scanned by CamScanner

त्रिपुत्र 'त्रिपुत्र' ही कहा जाता है, एकपुत्र नहीं, वैसे ही कर्ममात्र-सम्पादक मन्त्र ब्राह्मणभाग में ही हैं। कर्मादित्रयसम्पादक मन्त्र मन्त्रभाग में हैं। ब्राह्मणभाग में तो यज्ञोपयोगी केवल कर्मकाण्ड-सम्पादक मन्त्रों का ही समाम्नात है। "ओषधे त्रायस्वैनम्" (यजु० ४।१) यह मन्त्र 'आम्नायवचनात्' (१।१६।६) यहाँ आम्नाय माना गया है; "तथैव एतद् रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः" यह ब्राह्मण भी "आम्नायवचनाद् एतद् भवति" (नि० ७।२४।३) इत्यादि से आम्नाय माना गया है।

सम्पूर्ण वेद ही धर्म का मूल है। धर्मजिज्ञासुओं के यहाँ श्रुति ही परम प्रमाण है—"वेदोऽखिलं धर्ममूलम्', 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'। 'वेदो धर्ममूलम्' (गोतमः) "यो हि पूर्वमुत्पन्नः सोऽनन्तरमुत्पत्स्यमानस्य ग्राहको भवति, सृष्टेर्वेदप्रभवत्वात्।" —जो प्रथम उत्पन्न होता है, वही पश्चात् उत्पन्न वस्तुओं का ग्राहक होता है। सृष्टि का वेद से ही आविर्भाव होता है। "शब्द इति चेन्नातः प्रभवत्वात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्"। अनाप्तों की उक्तियों में स्वप्रत्ययान्तर की अपेक्षा होती है, आप्तों की उक्तियों में पर की अपेक्षा होती है, परन्तु वैदिक विधि-वाक्यों में किसी की भी अपेक्षा नहीं होती। जो ज्ञान कारणगुणप्रमाणान्तर संवाद एवं अर्थक्रिया की अपेक्षा न करता हो, कारणदोष एवं बाधक-दोष से रहित हो तथा अज्ञात एवं अबाधित अर्थ का बोधक हो, वही प्रमाण होता है। यही प्रमाणों का स्वतःप्रमाणत्व भी है—"कारणगुणसंवाद्यर्थक्रियाज्ञानानधीनत्वे सति कारणदोषबाधकदोष-वर्जितत्वे सति चानधिगताबाधितार्थबोधजनकत्वम् प्रामाण्यस्वतस्त्वम्।" एवं बाधकज्ञान, कारण-दोष तथा विसंवादि-ज्ञान के अधीन

Scanned by CamScanner

होना अप्रामाण्य का परतस्त्व है—"बाधकज्ञानकारणदोषविसंवादिज्ञानाधीनत्वादप्रामाण्यस्य परतस्त्वम्।" ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि परमेश्वर से निःश्वासन्याय से आविर्भूत होते हैं, अतः वे अकृत्रिम एवं अपौरुषेय हैं। "श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः"—श्रुति, वेद, आम्नाय आदि पर्याय शब्द हैं। (अमरकोष) "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः, पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैव निःश्वसितानि" (बृ० ३२।४।१०)।" पुराणादि, विद्या उपनिषद् आदि आठ प्रकार के ब्राह्मण होते हैं। "तस्योपनिषदमिति" (प० ५ अ० ४ ब्र०) 'तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषमेष सत्यम्। शांकरभाष्ये एवमष्टविधं ब्राह्मणम्। एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सब्राह्मणाः।"—यहाँ वेद से पृथक् ब्राह्मण शब्द का ग्रहण ब्राह्मण-वशिष्ठ न्याय से है।

"विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः" (२।५) पारस्कर गृह्यसूत्र के इस वचन से विधि-विधेय तर्क को वेद कहा गया है। विधि ब्राह्मण-भाग में ही है, वेद में ब्रह्मसम्प्रदाय और सूर्यसम्प्रदाय ये दो सम्प्रदाय हैं। विष्णु से प्राप्त वेद को विभक्त करके ब्रह्मा ने आधा आदित्य में रख दिया, आधा अपने वशिष्ठादि पुत्रों को दिया ब्रह्मपरम्परा ही विद्यमान थी। याज्ञवल्क्य ने विवादवशाद् भगवत्त्रयीमय आदित्य को तप से सन्तुष्टकर उनसे चारों वेद प्राप्त किये। गुरु की आज्ञा से शाखा-प्रशाखादि भेद से परम्परया उनका विस्तार किया, यही सूर्य-सम्प्रदाय है।

"स तथेति प्रतिज्ञाय प्रविश्यादित्यवाजिनः।
कर्णेऽपठत्ततो वेदांश्चतुरोऽपि च तन्मुखात्॥"

Scanned by CamScanner

स्कन्दपुराण ना० ख० २७८) इससे भी उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है। 'जाबालसंहिता' में कहा है:—

"ब्रह्मणः सम्प्रदायोऽयं व्याससन्दर्शितोऽभवत् ।
विभक्तस्यैव वेदस्य सम्प्रदायो द्विधा मतः ॥
ब्रह्मणः सम्प्रदायस्तु आदित्यस्य तथा मतः ।
अयातयामसंज्ञोऽयं प्रतिकर्मप्रकाशकः ॥"

आदित्य-सम्प्रदाय सर्वकर्मप्रकाशक अयातयाम है। अतः शुक्ल कहा गया है। तद्भिन्न कृष्ण कहा जाता है। आदित्य-सम्प्रदाय शुक्ल कहा जाता है, ब्रह्म-सम्प्रदाय कृष्ण कहा जाता है। मन्त्र-ब्राह्मण का मिश्रत्व कृष्णत्व का तथा अमिश्रितत्व शुक्लत्व का कारण है। यह भी कहा जाता है कि कृष्णयजु में अध्वर्यु एवं होता आदि सम्बन्धी मन्त्र अव्यवस्थित रूप से पठित हैं, इसीलिए वह भ्रामक होने से कृष्ण कहलाता है। शुक्ल यजुर्वेद में व्यवस्थितरूप से सब मन्त्र पठित हैं, इसीलिए वह शुक्ल कहलाता है। यथा—

"आध्वर्य्यवं क्वचिद्धौत्रं क्वचिदित्यव्यवस्थया ।
बुद्धिमालिन्यहेतुत्वाद्यजुः कृष्णमितीरितम् ॥
याज्ञवल्क्यस्ततः सूर्यमाराध्यास्मादधीतवान् ।
व्यवस्थितप्रकरणं यजुः शुक्लं तदीर्यते ॥"

काण्वसंहिता सायण ने कहा है—"अथवा एतत् सखिलं सशुक्रियं मध्याह्ने शुक्लवर्णेन सूर्येण वा दत्तं तच्छुक्लयजुः परिसंख्यातम् ।" (अथवा शुक्लवर्ण सूर्य से दत्त होने से भी शुक्लता का व्यवहार होता है)। "अथवा वेदोपक्रमणे चतुर्दशीयुक्त-

Scanned by CamScanner

पूर्णिमाग्रहणात् तैत्तिरीयकैर्वेदोपक्रमणे औदयिकपर्वग्रहणात् अर्थात् कृष्णप्रतिपद्विद्धपौर्णमासी ग्रहणात् कृष्णयजुरितिः ।" अर्थात् चतुर्दशीयुक्त पूर्णिमा में वेदोपक्रमण करनेवाले शुक्ल, प्रतिपद्विद्ध पूर्णिमा में वेदोपक्रमण करनेवाले कृष्ण कहे जाते हैं। अथवा याज्ञवल्क्य द्वारा वमन किये हुए होने के कारण कृष्ण एवं आदित्य से प्राप्त किये जाने के कारण शुक्ल कहलाते हैं— "वान्त्या च भक्षणेनापि (?) कृष्णान्यासन् यजूंष्यपि । आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ।"

यातयामता कृष्णता है और अयातयामता शुक्लता, यह भी मत है। "अयातयामानि तु भानुगुप्तान्यन्यानि जातानि तु नीरसानि यजूंषि तेषामथ याज्ञवल्क्यो ह्ययातयामानि रवेरवाप ।"—अर्थात् भानुगुप्त यजुः अयातयाम थे, अन्य नीरस हो गये थे, इसीलिए याज्ञवल्क्य ने सूर्य से प्राप्त किया था। "वान्त्योच्छिष्टत्वं यातयामत्वम्" (वमन से प्राप्त होने से उच्छिष्टता ही यातयामता है) यह निरुक्त की दृष्टि है।

सत्वप्रधानाच्छुक्लाख्यो यातयामत्ववर्जितात् ।
कृष्णस्तुतित्तिरेर्भक्षात्तमसाय्यातयामतः ॥
अतः शुक्लस्य यजुषो नोपकुर्यान्न चोत्सृजेत् ।
तदुपाकर्म चोत्सर्गः किन्त्वध्ययनतो व्रजेत् ।
कृष्णस्य तद्यातयामनिवृत्यर्थं हि चोच्यते ॥"

सत्वप्रधान एवं यातयामवर्जित होने से शुक्लता है। तितिरि-भक्षित एवं तामस यातयाम होने से कृष्णता होती है। उसी यातयामता की निवृत्ति के लिए कृष्ण में उपाकर्म एवं उत्सर्ग

Scanned by CamScanner

होता है। 'कात्यायनसूत्र-मन्त्रप्रकाशिका' में कहा है कि निरुक्त (२।३।१)में "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्तेनेदं पूर्णपुरुषेण सर्वम् इत्यपि निगमो भवति" यहाँ श्वेताश्वतरकण्डिका भी निगम या वेदरूप से कही गयी है।

श्रीस्वामी दयानन्दजी ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका (७९ पृष्ठ) में छन्द, वेद, निगम, श्रुति आदि को पर्यायवाचक कहा है। इसी प्रकार "व्याकरणेऽपि मन्त्रे घस०, छन्दसि लुङ्, वा सपूर्वस्य निगमे, अत्रापि छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति। छन्द आदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्ति इति विज्ञायते" (ऋत्रू० भाष्य भू० ८० पृष्ठ) इत्यादि वचन से श्रीस्वामी दयानन्द ने कहा है कि जो छन्द, मन्त्र निगम श्रुति में भेद मानते हैं, उनका मत ठीक नहीं है। उपनिषद्भाग ब्राह्मणान्तर्गत ही है। इसी तरह ३।१।७ सूत्र के महाभाष्य में "शृणोत ग्रावाणः" (१।३।१२।१) यह कृष्णयजुर्वेद भी वेद माना गया है। "भद्रं वद दक्षिणतः यह ऋचा निरुक्त ६।१५।१) में उद्धृत है, परन्तु यह वर्तमान शाखाओं में वह नहीं मिलती। इससे जो आर्यसमाजी कहते हैं कि "शाखान्तर वेद नहीं है' वह खण्डित हो गया।

श्रीस्वामी दयानन्दजी ने शौनकीयशाखा को 'अथर्ववेद-संहिता' माना है। उसका पहला मन्त्र है—"ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि", "शंनो देवीः" यह मन्त्र नहीं है। महाभाष्यकार ने अथर्वसंहिता के रूप में जिसका उद्धरण दिया है, वह तो श्रीस्वामी दयानन्दजी की संहिता से भिन्न ही है। इस दृष्टि से भाष्यकार-सम्मत संहिता को भी वेद मानना पड़ेगा। श्रीदयानन्दजी की दृष्टि से तो वह वेद ही न होगी।

Scanned by CamScanner

महाभाष्य के पस्पशाह्निक में "वेदे खल्वपि"—यह कहकर "पयोव्रतो ब्राह्मणो, यवागूव्रतो राजन्यः इत्यादि बैल्वः, खादिरो वा यूपः स्यात् अग्नौ कपालान्यधिश्रित्य···इमा इत्यादि ब्राह्मणकण्डिका" उद्धृत हैं। श्री स्वामी दयानन्दजी की 'संस्कारविधि' में (७६ पृ०) में 'पयोव्रतः इस वचन को 'शतपथ' वचन माना है। 'बैल्वः खादिरो वा' इसे ऐतरेय-ब्राह्मण का वचन कहा है। महाभाष्यकार की दृष्टि से यह वेदवचन है। इस तरह सुतरां महाभाष्यकार के मत में ब्राह्मणभाग भी वेद है। उसी आह्निक में "आचारे पुनर्ऋषिः (वेदः) नियमं वेदयते तेऽसुरा हेलयः" इत्यादि इस ब्राह्मण को वेदनाम से महाभाष्यकार ने उद्धृत किया है। इसी तरह "शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन" इस वार्तिक के वेदोदाहरण में "योऽग्निष्टोमेन यजते" यह ब्राह्मणकाण्डिक ही उद्धृत किया है। इसी तरह द्वितीय प्रत्याहाराह्निक में 'ऋलृक्' सूत्र में "अनुकरणं शिष्टाशिष्टप्रतिषिद्धेषु (यथा लौकिकवैदिकेषु)" यहाँ वैदिकोदाहरण के रूप से एवं "विश्वसृजः सत्राण्यध्यासत" यह ब्राह्मण ही उद्धृत किया है। लौकिकोदाहरण के रूप में महाभाष्यकार या किसी अन्य प्राचीन आचार्य ने ब्राह्मणभाग को उद्धृत नहीं किया। उसी आह्निक के १।१।१ सूत्र में "यथा लौकिकवैदिकेषु" इस वार्तिक के वैदिकोदाहरण में "वेदेऽपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्च" इस रूप से ब्राह्मणभाग का ही उदाहरण दिया है। "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" (१।१।५६) सूत्र के भाष्य में "वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतिका तृणान्यभिषुणुयादित्युच्यते" यह भी उदाहरण ब्राह्मणभाग का ही दिया है, मन्त्रभाग का नहीं। "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग०" (५।२।९४) इस सूत्र में "सन्मात्रे चर्षि-

दर्शनात्" इस वार्तिक के विवरण में महाभाष्यकार ने कहा है : "सन्मात्रे च पुनर्ऋषिः (वेदः)। मतुप दर्शयति मतुपम्। यवमतीभिरद्भिर्यूपं प्रोक्षति" यह भी ब्राह्मणभाग का ही उदाहरण दिया गया है। 'ऋषि'पद से वेद ही गृहीत होता है, कारण "तस्मादेतद्ऋषिणाभ्यनूक्तम्" (१४।१।१।२५) यह शतपथश्रुति है। "सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे" (१।१।१६) इसी सूत्र में 'आर्ष, शब्द वैदिकवाचक है। "एकः पूर्वपरयोः" (६।१।८४) सूत्र के भाष्य में "वेदे खल्वपि, वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेतेति" यहाँ ब्राह्मण को वेदरूप से माना गया है। "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" (२।३।६२) इस वार्तिक के उदाहरण में भाष्यकार ने "या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते" इत्यादि ब्राह्मणभाग ही उदाहृत किया है। "छन्दसि निष्टर्क्य०" (३।१।१२३) सूत्र के भाष्य में "निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः" यहाँ भी ब्राह्मण ही छन्दस का उदाहरण दिया गया है।

महर्षि पाणिनि भी ब्राह्मणभाग को वेद ही मानते हैं। "द्वितीया ब्राह्मणे" (२।३।६) यह सूत्र केवल ब्राह्मणभाग के लिए है, मन्त्र, ब्राह्मण दोनों भागों के लिए नहीं। "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" यह सूत्र तो मन्त्र-ब्राह्मण दोनों भागों के लिए हैं। "द्वितीया ब्राह्मणे" से ब्राह्मण प्रकृत है, अतः छन्दोग्रहण व्यर्थ होगा, यह समाजियों का कहना व्यर्थ है। छन्दः शब्द का ग्रहण न हो, तब तो ब्राह्मण ही प्रकृत होने से ब्राह्मण में ही सूत्र प्रवृत्त होगा, मन्त्रभाग में नहीं। अतः दोनों के ग्रहणार्थ यहाँ छन्द का ग्रहण युक्त है। यदि 'मन्त्रे' इतना ही होता, तो ब्राह्मण में सूत्र की प्रवृत्ति न होगी। जहाँ विधि पाणिनि को मन्त्र में अभीष्ट होती

Scanned by CamScanner

है, वहाँ वे 'मन्त्रे' ऐसा बोलते हैं। जहाँ ब्राह्मणभाग में विधि इष्ट होती है, वहाँ 'ब्राह्मणे' बोलते हैं और जहाँ दोनों में विधियाँ अभीष्ट हों, वहाँ 'छन्दसि, निगमे, वेदे' आदि कहते हैं। कहीं छन्दःपद से केवल मन्त्रभाग कहा जाता है, तो कहीं केवल ब्राह्मणभाग ही अभिहित होता है। "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र में केवल ब्राह्मणभाग में द्वितीया होती है, मन्त्रभाग में नहीं। अतएव 'छन्दसि' यह न कहकर 'ब्राह्मणे' कहा गया है। "मन्त्रे श्वेतवह०" (३।२।७१) यह सूत्र मन्त्रभाग में 'ण्विन्' करता है, ब्राह्मणभाग में नहीं। अतएव 'मन्त्रे' यह कहा गया है। "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" यह सूत्र दोनों भागों में कार्य करता है। "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" यहाँ छन्दःशब्द से केवल मन्त्र ही बोधित होता है। "जुष्टार्पिते च छन्दसि" (६।१।२०९) यहाँ जुष्ट शब्द को छन्द में विकल्प से आद्युदात्त होता है। "नित्यं मन्त्रे" (६।१।२१०) इस पूर्वाव्यवहित सूत्र से मन्त्रभाग में नित्य आद्युदात्तत्व होता है। अतः "जुष्टार्पिते च च्छन्दसि" यहाँ छन्दःशब्द से केवल ब्राह्मणभाग का ही बोध होता है।

कहा जाता है कि 'ब्राह्मण को वेद न मानकर ब्राह्मण का उदाहरण भाष्यकार ने दिया है।' किन्तु यह तुच्छ है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं। 'छन्दसि' इत्यादि से जो विधियाँ होती हैं, वे मन्त्र-ब्राह्मण दोनों में होती है, मन्त्रमात्र में नहीं। "सुपां सुलुक्" (७।१।२९) इस छान्दस सूत्र से 'सविता प्रथमेह न' (यजुः २९।६) मन्त्र में ङि का लोप होता है। इसी तरह "यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः" (शतपथ १४।६।८।३) इस ब्राह्मण-भाग में

Scanned by CamScanner

अक्षि शब्द का ङि का लुक् होता है। दोनों स्थलों में छान्दसत्वात् "नङि सम्बुद्धयोः" से नलोपाभाव होता है।

"प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्। (७।२।८८) इस सूत्र के आकार के प्रत्युदाहरण में "यथा भाषा (लोक) भिन्ने मन्त्रभागे युवं सुराममश्विना (यजुः २०।७६) इत्यादि मन्त्र का उदाहरण है, वैसे ही ब्राह्मणभाग के उदाहरण में भी 'युवाम्' इस लौकिक प्रयोग से भिन्न 'युवम्' ऐसा प्रयोग होता है। "युवं वै ब्रह्माणौ भिषजौ" (शतपथ ८।२।१), "युवमिदं निष्कुरुतम्" (ऐतरेय २.२८) में उक्त प्रयोग से स्पष्ट है कि ब्राह्मणभाग वेदवत् नहीं, किन्तु वेद ही है। पाणिनि ने ब्राह्मणभाग को कहीं वेदवत् नहीं, वेद ही माना है। 'ब्राह्मणे' या 'मन्त्रे' ऐसा कहने पर दोनों में समान विधि नहीं होती, क्योंकि ये दोनों नाम भागमात्र के एवं ऐकदेशिक ही हैं। अतः ऐकदेशिक नामग्रहण से ऐकदेशिक ही कार्य होता है; सार्वदेशिक नहीं। ऋक् आदि चारों वेदों को श्रीस्वामी दयानन्दजी ने भी माना है, और वे भी उनमें समान विधियाँ नहीं मानते। फिर भी उन्हें वेदभिन्न नहीं कहते। यजुः तथा सामवेद में अनुस्वार के 'श ष स ह' वर्णों के पर रहने पर ᳵ कार होता है, परन्तु ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में ऐसा नहीं होता। तो भी क्या यजुर्वेद एवं सामवेद वेद न होंगे ?

"देवसुम्नयोर्यजुषि काठके" (७।४।३८) यह सूत्र यजुर्वेद की कठशाखा में आकार का विधान करता है, परन्तु यह विधि ऋग्वेदीय कठशाखा एवं अन्य वेद में नहीं होती। "प्रकृत्याऽन्तःपायमव्यपरे" (६।१।११५), "यजुष्युरः" (६।१।११७) यह

Scanned by CamScanner

प्रकृतिभाव ऋग्यजुर्भिन्न वेद में नहीं होता। एवं "ऋचि तुनुघमक्षु-तङ्कुत्रोरुष्याणाम्" (६।३।१३३), "ऋचि त्रेरुत्तरः" (वा०) (६।१।३४) इत्यादि स्थलों में ऋगादि शब्द भी साभिप्राय ही है। इसीसे ये विधियाँ ऋग्भिन्न मन्त्र में नहीं होतीं, फिर भी क्या समान विधि न होने से मन्त्रभाग भी वेद नहीं हैं? यदि उक्त स्थलों में ऐसी बात नहीं है, तब तो कहीं मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग में असमानविधि होने पर ब्राह्मणभाग को भी वेदभिन्न नहीं कहा जा सकता। ऐकदेशिक नामकरण से ही दोनों में समान विधि नहीं होती। ऋग्, यजुः आदि नाम मन्त्रभाग के ही ऐकदेशिक हैं, इसीलिए उनमें भिन्न-भिन्न विधियाँ होती हैं। इसी तरह मन्त्र और ब्राह्मण वेद के ऐकदेशिक नाम हैं। अतः उनमें भी कभी भिन्न-भिन्न विधियाँ होती हैं, परन्तु इतने मात्र से किसी भाग को अवेद नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त कथन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि मन्त्र एवं ब्राह्मण के स्वरों में भेद होने पर भी दोनों के वेदत्व में कोई कमी नहीं है।

"तत्तु समन्वयात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।४) से उसी ब्रह्म में शास्त्रपद-वाच्य वेद का समन्वय प्रतिपादित किया गया है। "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् (ब्र०सू० २।१।२७) इत्यादि सूत्रों द्वारा ब्राह्मण-भाग की ही श्रुतियाँ उद्धृत की गयी हैं। भगवान् शंकराचार्य, भट्टपाद, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, मण्डनमिश्र, वाचस्पति मिश्र आदि सभी महामहाविद्वान् मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को ही वेद मानते हैं।

कहा जाता है कि "ब्रह्म वेद से सहचरित होने के कारण सह-

चारोपाधि से ब्राह्मण को वेद मानकर कात्यायन ने उसे वेद कहा है।" परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, जब पूर्वोक्त प्रमाणों से सभी ऋषियों को ही ब्राह्मण और मन्त्र में वेदत्व मान्य ही है, तो फिर सहचारोपाधि की आवश्यकता ही क्या है ?

कहा जाता है कि 'ईश्वरोक्त होने से मन्त्रों का तो प्रामाण्य है, परन्तु ब्राह्मण का मन्त्रानुकूल होने से ही प्रामाण्य मान्य होना चाहिए। कारण ब्राह्मण ईश्वरोक्त नहीं है, परतः प्रामाण्य योग्य हैं।' परन्तु यह भी असंगत ही है, क्योंकि मन्त्रवत् ही ब्राह्मण का भी प्रामाण्य कहा जा चुका है। यदि मन्त्र ईश्वरोक्त हैं, तो ब्राह्मण भी वैसे ही हैं। काठक, कौथुमादि समाख्या का "समाख्या प्रवचनात्" इत्यादि सूत्रों से समाधान हो चुका है। अतएव न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने इतिहास-पुराण का प्रामाण्य व्यवस्थापित करते हुए ब्राह्मण को प्रमाण बतलाया है—"प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते।' अर्थात् प्रमाणभूत ब्राह्मण द्वारा इतिहास-पुराण का प्रामाण्य सिद्ध होता है। यदि ब्राह्मणों का स्वतःप्रामाण्य न होता, तो उनके द्वारा इतिहास-पुराणों का प्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयत्न कैसे किया जाता ? अतः श्रुति, वेद आम्नाय, निगम आदि शब्दों से मन्त्र-भाग से लेकर उपनिषद्पर्यन्त वेदभाग का बोध होता है, ऐसा शास्त्रज्ञों का विचार है।

"परात्तु तच्छ्रुतेः" (२।३।४१), "भेदश्रुतेः" (२।४।१८), "सूचकश्चहि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः" (३।२।४), "तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च" (३।२।७) इन व्याससूत्रों में भी ब्राह्मण को वेद या

श्रुति कहा गया है। वैशेषिकदर्शन के अध्याय १० के अन्त में "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" (ईश्वरोक्त होने से आम्नाय प्रमाण है) इस सूत्र से महर्षि कणाद ने 'आम्नाय' पद से संहिता से लेकर उपनिषद्पर्यन्त समस्त वेद का ग्रहण किया है; क्योंकि तत्समान तन्त्र गौतमीय 'न्याय-दर्शन' में "मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्" (ईश्वरोक्त होने से वह ब्राह्मणभाग प्रमाण होता है। जैसे आयुर्वेद (वैद्यक) शास्त्र प्रत्यक्ष फल होने से प्रमाण होते हैं, वैसे ही यज्ञों के प्रत्यक्ष फल होने से भी वेद प्रमाण है) इस सूत्र से मन्त्र, ब्राह्मण सभी वेद को प्रमाण कहा गया है। न्याय एवं वैशेषिक समान तन्त्र हैं। अतः दोनों का समान ही अर्थ है। दोनों ही मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को ही आम्नाय मानते हैं।

महाराज मनु भी श्रुति को वेद और धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं। यथा—'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।' छठे अध्याय में वे कहते हैं—

"एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥"

यहाँ 'औपनिषदी श्रुति' इस कथन से उपनिषदों का श्रुतित्व सिद्ध होता है। इस तरह यदि उपनिषदों को मनु श्रुति मानते हैं, तो ब्राह्मणों का वेदत्व सुतराम् सिद्ध है। कारण, ब्राह्मण का अन्तिम भाग ही उपनिषद् है। यही कारण है कि उपनिषदें 'वेदान्त' शब्द से निर्दिष्ट होती हैं। अतएव—

"दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः॥"

Scanned by CamScanner

इस मनुवचन (६।९४) में 'वेदान्त' शब्द से उपनिषदों का संग्रह है।

समाजी कहते हैं कि 'ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का ४० वाँ अध्याय है, अतः वही श्रुति है। तद्भिन्न उपनिषदें श्रुति नहीं, किन्तु ऋषियों से प्रणीत आर्ष हैं। उसी दृष्टि से मनु ने उपनिषदों को श्रुति कहा है।' परन्तु यह असंगत है, क्योंकि ऐसी स्थिति में बहुवचन का प्रयोग व्यर्थ होगा। यदि कहें कि 'ईशावास्योपनिषद् में बहुत-सी श्रुतियाँ हैं ही, इसलिए बहुवचन संगत है', तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि 'विविधा' इस विशेषण की व्यर्थता फिर भी बनी ही रहेगी। व्यासदेव ने तो 'ब्रह्मसूत्रों' द्वारा उपनिषदों का ही विचार किया है। "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" (२।१।२७), "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (१।१।५) इत्यादि सूत्रों से उपनिषदों की ही सूचना है।

समाजी यह भी कहते हैं कि 'जैसे ऋषियों का नामोल्लेख-पूर्वक इतिहास ब्राह्मणों में हैं, वैसे संहिता में नहीं है। इसलिए ब्राह्मण वेद नहीं हैं।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, तत्त्वावबोधार्थ काल्पनिक आख्यायिकाओं के रहने पर भी ब्राह्मण की इतिहास-रूपता सिद्ध नहीं होती।

ब्राह्मणभाग के वेदत्व में मन्त्र भी प्रमाण हैं—"स उत्तमां दिशमनुव्यचलत् तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलत्। ऋचां च वै सासाम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद" (अथर्व, का० १५ अनु० १ सू० ६)। अर्थात् परमेश्वर उत्तमा दिशा की ओर चलते हैं। उनके पीछे ऋक्, साम, यजु और ब्रह्म

Scanned by CamScanner

भी चलते हैं। जो उक्त विषय को जानता है, वह ऋचाओं, सामों, यजुओं और ब्रह्म का प्रियस्थान होता है। इन दोनों मन्त्रों में 'ब्रह्म' शब्द से ब्राह्मणभाग का ही ग्रहण है। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मशब्द से मन्त्रों का ग्रहण है, क्योंकि मन्त्रों का ग्रहण तो ऋक्, साम आदि शब्दों से ही हो चुका है। 'ब्रह्म' शब्द ब्राह्मण की श्रौती संज्ञा है। जैसे 'ब्राह्मण' शब्द ब्राह्मणभाग की संज्ञा है, वैसे ही 'ब्रह्म' शब्द ब्राह्मणभाग की संज्ञा है। अतएव मनु के "ब्रह्मच्छन्दस्कृतं चैव" (४।१००) श्लोक की टीका में कुल्लूकभट्ट कहते हैं कि यहाँ ब्रह्म शब्द से ब्राह्मण का ग्रहण है। "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत" (सर्वपूजित परमेश्वर से ऋङ्-मन्त्र, साम मन्त्र, यजुर्मन्त्र उत्पन्न हुए) इस यजुर्वेदीय मन्त्र में स्वामी दयानन्दजी की दृष्टि से 'छन्द' शब्द से 'ब्राह्मण' का ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि स्वामीजी ने 'ऋग्वेदभाष्य-भूमिका' में 'छन्द' शब्द का गायत्री आदि अर्थ नहीं किया है। उन्होंने कहा है—"वेदानां गायत्र्यादिछन्दोऽन्वितत्वात् पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम्।" अर्थात् वेद गायत्री आदि छन्दों से युक्त हैं ही, फिर छन्दःशब्द का ग्रहण चतुर्थ अथर्व वेद की उत्पत्ति बतलाता है। किन्तु इसपर सनातनी कह सकते हैं कि वेदत्रयी में ही अथर्ववेद का अन्तर्भाव हो ही जाता है, अतः यहाँ 'छन्द'शब्द से ब्राह्मणभाग का ही ग्रहण होना ही उचित है।

दयानन्दमतानुसार इस मन्त्र का अर्थ यह है—"सर्वपूज्य परमेश्वर से ऋच् = ऋग्वेद, यजुः = यजुर्वेद, सामानि = सामवेद और

Scanned by CamScanner

छन्दांसि = अथर्ववेद उत्पन्न हुए।'....यहाँ 'जज्ञिरे' और 'अजायत' दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त है—ऐसा जाना जाता है। वैसे ही 'तस्मात्' यह पद भी अनेक बार आया है। इससे यह निश्चय होता है कि ईश्वर से ही वेद की उत्पत्ति होती है। शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञशब्द से विष्णु और विष्णुशब्द से सर्वव्यापक परमेश्वर गृहीत होता है। "यस्माद्दचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्, स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।" अर्थात् जिस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ, जिससे यजुर्वेद प्रादुर्भूत हुआ, जिससे सामवेद और अथर्ववेद उत्पन्न हुए, इसी तरह जिस ईश्वर का अथर्वाङ्गिरस मुख है-मुखवत् मुख्य है, साम लोम के तुल्य है, यजुः जिसका हृदय है, ऋक् जिसके प्राण हैं, जिससे चारों वेद उत्पन्न हुए, वह कौन देव है? इसका यही उत्तर है कि वह स्कम्भ सर्वधारक परमेश्वर है—यह जानो। उस सर्वकारक परमेश्वर से अन्य कोई वेदकर्त्ता नहीं है, यह समझना चाहिए। "एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो, यजुर्वेदोऽथर्वाङ्गिरसः" (शतपथ)। इसका अभिप्राय यही है, कि हे मैत्रेयि, इस महान् परमेश्वर के ही निःश्वासभूत ऋग्वेदादि हैं। निःश्वासवत् सहजरूप से वेद परमेश्वर से निःसृत होते हैं। जैसे शरीर से श्वासोच्छ्वास निकलकर पुनः उसमें प्रविष्ट होते हैं, वैसे ही परमेश्वर से वेदों का आविर्भाव और तिरोभाव होता है।"

उपर्युक्त दयानन्दीय व्याख्यान में ईश्वर को 'वेद का कर्त्ता' माना गया है। नैयायिक आदिकों के समान समाजियों के मत

Scanned by CamScanner

में भी वेद पौरुषेय हैं, जिसका पिछले प्रकरणों में पूर्णरूप से खण्डन किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त इस व्याख्यान में विचारणीय है कि 'ऋच' आदि का 'ऋग्वेद' आदि अर्थ कैसे और क्यों किया जाता है? कारण, ऋक आदि शब्द तो ऋक् आदि मन्त्रों के ही नाम से प्रसिद्ध हैं। यदि मन्त्र के 'ऋचः, यजुः, सामानि' आदि शब्दों का ही ऋग्वेद, यजुर्वेद अर्थ है, तब तो दयानन्द द्वारा प्रमाण रूप में उपस्थापित "एवं वा अरे अस्य" इत्यादि ब्राह्मणवाक्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि क्यों कहा गया है? जैसे वेदशब्द के बिना भी 'तस्याद् यज्ञात्' आदि मन्त्र में 'ऋचः' आदि का ही ऋग्वेद अर्थ हो जाता है, वैसे ही ब्राह्मणवाक्य में भी 'ऋक्' आदि से ऋग्वेद आदि अर्थ हो ही जाता। इस तरह यहाँ जब एक बार भी वेदशब्द का प्रयोग व्यर्थ है, तो तीन-तीन बार वेदशब्द का व्यर्थ उच्चारण तो सर्वथा ही असंगत है।

इसपर कहा जाता है कि 'वेदशब्द का प्रयोग इसलिए है, जिससे यह बोध हो सके कि ऋक् आदि मन्त्र वेद हैं। ऋक्, यजुः, साम आदि वेद हैं, इस प्रकार बोध के लिए ही अनेक बार वेदशब्द का प्रयोग है।' परन्तु यह ठीक नहीं, कारण यदि 'ऋग्वेदः' इत्यादि ब्राह्मणवाक्यस्थ पदों में समास (दो शब्दों के मेल से बना हुआ समस्त पद) माना जाय, तब तो उसमें उद्देश्य-विधेयभाव नहीं बनेगा। अर्थात ऋक् आदि को उद्दिष्ट-कर वेदत्व का विधान नहीं हो सकता। यदि समास न होकर दोनों ही प्रथमा विभक्तिवाले असमस्त पद हों, तो 'राजा पण्डितः' के समान 'ऋक् मन्त्र वेद हैं' यह शाब्दबोध हो सकता है। किन्तु

Scanned by CamScanner

यह बोध भी उसीको होता है, जो उद्दिष्ट राजा आदि को पहले से जानता हो—"प्रथमाविभक्तिप्रकृतित्वेन श्रोतृविदितस्यैव हि नाम्नः स्वार्थे विधेयताया अभेदसम्बन्धावच्छिन्नायाः समर्पकतां क्रोडी-करोति शाब्दी मर्यादा, न त्वन्यादृशस्य।" जो राजा को नहीं जानता, वह राजा का पण्डित होना कैसे जान सकेगा? ऐसे ही स्थलों में ज्ञात विषय को उद्देश्य और अज्ञात विषय को विधेय कहते हैं। ऐसे स्थलों में यह भी अनुभवसिद्ध नियम है कि उद्देश्य और विधेय अलग-अलग होते हैं। जैसे 'राजा पण्डित है'। यदि दोनों का समासकर एक शब्द बना दिया जाय–'राजापण्डित' या पण्डित-राज' कहा जाय, तो उससे यह बोध नहीं होता कि श्रोता जिसे राजा जानता है, वह पण्डित है। इसी तरह अगर 'ऋग्वेद' यह समस्त पद हो, तब तो यह बोध नहीं हो सकता कि ऋक् मन्त्र वेद है। अतएव "वषट्काराच्च भक्षयेत्" (३।५।३१) इस जैमिनि-सूत्र में सिद्धान्त किया गया है कि "वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः" इस वाक्य के समस्त होने के कारण ही लाघव होने पर भी भक्ष को उद्दिष्टकर प्राथम्य का विधान नहीं होता। यदि 'प्रथमः भक्षः होता, तो वैसा होता भी, किन्तु वैसा न होने के कारण ही गौरव स्वीकारकर वषट्कर्त्ता को उद्दिष्ट करके प्रथम भक्ष का विधान है। अर्थात् प्रथम भक्षण करने में वषट्कार ही कारण है। साहित्यिक लोग भी इसे 'विधेयाविमर्श' नामक काव्य-दोष मानकर उसका लक्षण करते हैं:—"अविमृष्टविधेयांशः समासपिहिते विधौ।" अर्थात् समास द्वारा जहाँ विधि आच्छादित हो जाती है, वहाँ विधयाविमर्श दोष होता है। इस तरह 'ऋग्वेद' इस शब्द को यदि समस्त माना जाय, तो 'ऋक्-मन्त्र वेद है' ऐसा

Scanned by CamScanner

अर्थबोध नहीं हो सकेगा। यदि उक्त शब्द को असमस्त मानें, तब 'ऋक् मन्त्र वेद हैं' ऐसा बोध तो हो सकता है। किन्तु 'ऋक् यजुः सामवेदाः' (ऋक्मन्त्र, यजुर्मन्त्र, साममन्त्र वेद हैं) इस तरह एक ही वेदशब्द से काम चल जायगा, फिर तीन बार वेदशब्द का प्रयोग व्यर्थ ही है।

इसके अतिरिक्त उक्त ब्राह्मणवाक्य में ऋगादि के साथ वेद-शब्द के प्रयोग से भले ही ऋक् आदि मन्त्रों को वेद कहा जाय, किन्तु उसमें अथर्वाङ्गिरस के साथ वेदशब्द का प्रयोग नहीं है। फिर अथर्वमन्त्रों को वेद कैसे कहा जायगा? इस तरह दया॰ नन्दीय व्याख्यान के अनुसार जब अथर्वमन्त्रों का वेदत्व ही सिद्ध नहीं होता, तो 'तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः' इस मन्त्र में छन्दःशब्द से अथर्ववेद का ग्रहण भी कैसे किया जा सकता है?

कहा जा सकता है कि 'यदि 'तस्माद् यज्ञात्' इस मन्त्र में छन्दःशब्द से अथर्ववेद का ग्रहण न होगा, तो अथर्ववेद की उत्पत्ति का सूचक अन्य शब्द न होने से मन्त्र में न्यूनतारूप दोष होगा। अतः उक्त न्यूनतादोष के परिहारार्थ ही वेद-सामान्यवाचक छन्दःशब्द से ऋक्, यजु, साम से अवशिष्ट अथर्व का ही ग्रहण किया जाना उचित ही है।' किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो "छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्" (परमेश्वर से ऋक् साम, यजुः, अथर्व इन सभी वेदों की उत्पत्ति हुई) इतने से ही सब काम चल जायगा, 'तस्माद् यज्ञात्' इत्यादि मन्त्र के तीनों पाद व्यर्थ होंगे। जब छन्दःशब्द वेदसामान्य का बोधक होता ही है, तो उसीसे चारों वेदों की उत्पत्ति का बोध हो ही जायगा। इससे न्यूनतादोष की प्रसक्ति भी नहीं होगी।

Scanned by CamScanner

इसपर कहा जाता है कि 'उक्त मन्त्र में तीन चरण इसलिए हैं कि ऋक्, यजुः, साम आदि शब्दों से ऋग्वेद आदि की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति का बोध हो सके। तथाच जैसे 'यस्माद् ऋचोऽपातक्षन्' इस मन्त्र में 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द से वेद का ग्रहण होता है, वैसे ही 'तस्मात्' इत्यादि मन्त्र में छन्दःशब्द अथर्ववेद के ग्रहणार्थ ही मानना उचित है, परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि द्वितीय मन्त्र के दृष्टान्त से ही छन्दशब्द से अथर्व का ग्रहण किया जाता है, तब तो 'छन्द' शब्द के स्थान में 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द ही रखना उचित था। छन्दःशब्द से तो उलटा यह भी भ्रम होता है कि ऋक्, यजुः आदि छन्द अर्थात् वेद से भिन्न ही कोई चीज हैं।

यदि कहें कि 'द्वितीय मन्त्र में 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' कहा है, उसीके प्रमाण से कहा जा सकता है कि सामान्यवाचक शब्द का अथर्ववेद रूप विशिष्ट अर्थ होता है', तो वह भी ठीक नहीं। कारण, तब तो यह भी कहा जा सकता है कि 'छन्दांसि जज्ञिरे' इतने पाठ से ही काम चल सकता था। द्वितीय मन्त्र के अनुसार छन्दःशब्द से ही ऋक्, यजुः, साम आदि अर्थ गृहीत हो सकता है, क्योंकि उसमें "ऋचः अपातक्षन् सामानि यस्य लोमानि" आदि ऋक् आदि के नाम निर्दिष्ट हैं ही।

कहा जाता है कि 'जिन लोगों ने अथर्ववेद को नहीं पढ़ा है, उन्हें विशेष रूप से ऋग्वेदादि का बोध कराने के लिए प्रथम मन्त्र में तीनों चरण सार्थक हैं।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, कारण फिर तो जैसे द्वितीय मन्त्र में अथर्वाङ्गिरस शब्द है,

Scanned by CamScanner

वैसे ही 'तस्मात् यज्ञात्' इस मन्त्र में भी अथर्वाङ्गिरस शब्द ही रखना उचित था। भ्रामक छन्दशब्द का प्रयोग क्यों किया गया ?

समाजी कहते हैं—'यद्यपि यह ठीक है, तथापि परमेश्वर स्वतन्त्र है। अतः छन्दःशब्द का प्रयोग किया है। उसपर पर्यनुयोग नहीं किया जा सकता।' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम मन्त्र के द्वितीय और चतुर्थ चरण में जैसे वेदविशेष का वाचक साम एवं यजुः शब्द कहा गया है, वैसे ही दोनों के मध्य तृतीय चरण में यदि छन्दःशब्द से अथर्ववेद का ग्रहण परमेश्वर को अभीष्ट होता, तो साम एवं यजुः के समान ही वेद-विशेष का वाचक अथर्वाङ्गिरस शब्द ही कहना उचित था, जैसा कि द्वितीय मन्त्र में कहा गया है। परमेश्वर को अपर्यनुयोज्य मानकर परमेश्वरीय वाक्य का असंगत भी अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता का कदापि यह अर्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त वेद, धर्मशास्त्र आदि में जहाँ भी चारों वेदों की गणना की गयी है, वहाँ सर्वत्र अथर्ववेद की गणना अन्त में की गयी है। इसमें कहीं व्यभिचार नहीं है। "यस्माद्दचोऽपातक्षन्" इत्यादि मन्त्र श्रीदयानन्दजी द्वारा ही उद्धृत हैं। "अस्य महतो भूतस्य" इत्यादि ब्राह्मण में भी अथर्व का अन्त में ही उल्लेख है। किन्तु यहाँ तो 'छन्दस्' शब्द मध्य में पठित है। अतः दयानन्दजी का यह कहना सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है कि 'छन्दःशब्द से अथर्ववेद ग्राह्य है।'

यह कहना भी संगत नहीं कि 'न्यूनतादोष के परिहारार्थ यहाँ छन्दःशब्द का अथर्ववेद अर्थ किया जाता है'; क्योंकि

इस तरह तो जहाँ ऋक्, साम, यजुः तीन ही शब्द हों,—छन्दस् या अथर्वाङ्गिरस शब्द न हों, वहाँ न्यूनता-दोष अनिवार्य ही होगा। जैसे—"अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदो विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सताम्" (हे अहे! अहिंसक बुध्न्य जगत् के मूल, सृष्टि के आदि में उत्पन्न आवसथ्य अग्ने! तुम्हें त्रैविद् या त्रयीवेत्ता लोग ऋक्, साम, यजुरूप से जानते हैं। तुम मेरे उस मन्त्र की रक्षा करो, जो कि सत्पुरुषों की नित्य लक्ष्मी है)। इस मन्त्र में अथर्ववेद का वर्णन नहीं है। अतः श्रीस्वामी दयानन्दजी के मतानुसार अवश्य ही यहाँ न्यूनता-दोष होगा। यहाँ छन्दस् आदि कोई शब्द भी नहीं है, जिसका हठात् अथर्व अर्थ किया जा सके। यदि कहा जाय कि 'अथर्व के मन्त्र ऋग्वेद के ही मन्त्र हैं, अतः अथर्व ऋग्वेद के अन्तर्गत है, पृथक् नहीं। अतएव "त्रयो वेदा असृज्यन्त" यह ब्राह्मण-ग्रन्थ, "त्रयं ब्रह्म सनातनम्" मनुस्मृति के अनुसार तीन ही वेद का अस्तित्व सिद्ध होता है। अतएव वेदों का 'त्रयी' यह नाम भी प्रसिद्ध है—"एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्नाः।" अतएव जैमिनि ने "सा ऋक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः" से तीन वेदों का ही लक्षण कहा है। अथर्वाङ्गिरस का पृथक् कोई लक्षण उन्होंने नहीं कहा है। इसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण के "अस्य महतो भूतस्य" इस वाक्य में ऋग्वेद आदि के समान अथर्वाङ्गिरस के साथ वेदशब्द का प्रयोग नहीं है। इस रीति से जब तीन ही वेद सिद्ध होते हैं, तब 'अहे, बुध्निय' इस मन्त्र में अथर्व वेद न कहने पर भी न्यूनतादोष नहीं आता।' तब तो इसी तरह "तस्माद् यज्ञात्" इस मन्त्र में भी छन्दस् शब्द से

Scanned by CamScanner

अथर्व का बोध न हो, तो भी न्यूनतादोष का प्रसंग नहीं होगा। अतः न्यूनतादोष के परिहारार्थ छन्दस् शब्द का अथर्ववेद अर्थ करना सर्वथा असंगत ही है।

फिर छन्दस् शब्द का 'गायत्री' आदि अन्य अर्थ श्रीदयानन्दजी को मान्य नहीं। अतः सुतरां 'छन्दस्' शब्द का ब्राह्मणभाग ही अर्थ सिद्ध होता है। "अहे बुध्निय" इत्यादि मन्त्रों में वेदशब्द का प्रयोग नहीं है, 'ऋचः' इत्यादि ही कहा गया है। "एवं वा अरे" इत्यादि ब्राह्मणवाक्य में बार-बार वेदशब्द का प्रयोग हुआ है। इससे विदित होता है कि ऋक्, साम, यजुः शब्द केवल मन्त्रों के ही वाचक हैं, किन्तु 'ऋग्वेद' आदि शब्द ऋग् आदि मन्त्र और उनसे सम्बद्ध ब्राह्मण दोनों के ही वाचक हैं। अतः जहाँ केवल मन्त्र विवक्षित होते हैं, वहाँ ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि शब्द का प्रयोग न कर 'ऋक् यजुः' आदि का ही प्रयोग किया जाता है। जहाँ मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय विवक्षित होता है, वहाँ 'ऋग्वेद' आदि शब्दों का ही प्रयोग होता है। अतः 'तस्माद्यज्ञात्' इस मन्त्र में 'ऋचः' का ऋग्वेद अर्थ करना असंगत है। इस तरह मन्त्रसंहिताओं को ही ऋग्वेद आदि तथा, संहिताभाष्यों को ही ऋग्वेदभाष्य आदि कहना असंगत और अन्धपरम्परा ही है।

'तस्माद्यज्ञात्' इस मन्त्र में 'छन्दांसि' शब्द से ब्राह्मणभाग का ग्रहण करने पर ही ऋक् और साम के अनन्तर एवं यजुः से पूर्व मंत्र में उसका प्रयोग करना संगत होता है। कारण, मन्त्रों को यज्ञकर्म में लगाना ब्राह्मणभाग का ही काम है। इस तरह ब्राह्मण-

Scanned by CamScanner

भाग मन्त्रभाग से प्रधान और मन्त्रों का उपकारी है। इसीके सूचनार्थ ऋक् साम और यजु के मध्य 'छन्दस्' शब्द से ब्राह्मण भाग का ग्रहण किया गया है। ब्राह्मणभाग सभी वेदों का भाग है, अर्थात् प्रत्येक वेद में ब्राह्मणभाग है। अतएव वेदसामान्य-वाचक छन्दस् शब्द से उसका ग्रहण किया गया है।

यह अर्थ श्रीदयानन्दजी की इस बात को स्वीकार कर किया गया है कि 'छन्दसः' शब्द का गायत्री आदि अर्थ नहीं है। किन्तु वस्तुतः यहाँ छन्दःशब्द का 'गायत्री' आदि ही अर्थ है। अतएव यजुःसंहिता के भाष्यकारों ने वैसी ही व्याख्या की है। श्रीदयानन्दजी का यह कहना निःसार है कि 'वेद गायत्री छन्द से युक्त होते ही हैं', क्योंकि छन्द से रहित भी मन्त्रों का उच्चारण हो ही सकता है। अतएव मन्त्रों से पृथग् गायत्री आदि की सृष्टि कही गयी है। "अग्नेर्गायत्र्यभवत्" (ऋग्वेद १०।११।१३०) इस मन्त्र में अग्नि से गायत्री की उत्पत्ति कही गयी है। ऐसे सभी स्थलों में 'जनि-सृजि' आदि का सम्प्रदाय-प्रवर्तन', 'उच्चारण' आदि अर्थ पीछे कहा ही गया है।

वस्तुतः शतपथ के निम्नलिखित मन्त्र में 'वेद' शब्द का पुनः पुनः कथन ब्राह्मणभाग के वेदत्व में दृढ़तर प्रमाण है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—"स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथक्धूमा विनिश्चरन्त्येयं वा अरे महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि" (शत. का.

१४ अ. ६)। अर्थात् जैसे गीली लकड़ी से युक्त अग्नि से धूम निकलता है, वैसे ही महान् परमेश्वर का निःश्वसित (निःश्वासवत् अनायास प्रादुर्भूत) यह सब कुछ है—जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित, यह लोक, परलोक, सभी भूत परमेश्वर से निःश्वासन्याय से ही आविर्भूत हैं। इस वाक्य को प्रमाण मानकर ही श्रीदयानन्दजीने उद्धृत किया है। किन्तु इसमें तीन बार वेदशब्द के उच्चारण का क्या प्रयोजन है, इसका उत्तर समाजी नहीं दे पाते, यह हम पीछे देख ही आये हैं। उसका सारांश यही है कि यदि ऋग्वेदादि शब्द ऋक् आदि मन्त्रों का ही बोधन करते हों, तब तो 'अहे बुध्निय' इत्यादि मन्त्रों के समान ही यहाँ भी 'ऋचः' इत्यादि ही कहना चाहिए था; 'वेद' शब्द का संयोग नहीं चाहिए था। यदि 'ऋक् आदि मन्त्र वेद हैं' इस तरह ऋगादि मन्त्रों में 'वेद' पद का शक्तिग्रह कराने के लिए वेद शब्द का प्रयोग आवश्यक हो, तो "ऋग्यजुःसाम च वेदाः" (ऋक्, यजुः एवं साम के मन्त्र वेद हैं) इस तरह एक ही वेद शब्द के प्रयोग से काम चल सकता है। फिर भी तीनबार वेद शब्द व्यर्थ ही हैं।

वस्तुतः इस सम्बन्ध में पूर्वमीमांसा के "वेदो वा प्रायदर्शनात्" इस सूत्र में विस्तृत विचार किया गया है। इसी सूत्र में "अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात्सामवेदः" यह अर्थवाद वचन उद्धृत है। यहाँ विचार है कि 'ऋग्वेद' आदि का क्या अर्थ है? इसपर सिद्धान्त है "तस्माद्ग्बहुलो वेदः इत्येवमादि

मध्यमपदलोपिसमासत्वेनैवर्ग्वेदाद्युक्तिः ।" अर्थात् मध्यमपदलोपी समास मानकर ऋग्बहुल वेद ही ऋग्वेद शब्द का अर्थ है। इसकी चार प्रकार से व्याख्याएँ होती हैं—(१) जिस वेद में ऋक् मन्त्रों की बहुतायत हो, वह ऋग्वेद है। (२) ऋचाएँ जिस वेद के भाग हों वह ऋग्वेद है। (३) जिस वेद में यज्ञ के समय ऋचाएँ पढ़ने की आज्ञा है, वह ऋग्वेद है। या (४) जिस वेद में विधिवाक्यों के अनुसार यव, गेहूँ आदि द्रव्यों के साथ ऋचाएँ यज्ञों के काम आती हों, वह ऋग्वेद है। इसी तरह यजुर्वेद, सामवेद शब्दों के भी अर्थ होंगे। यथा—"ऋग्बहुलो वेदः ऋग्वेदः, ऋचः ऋङ्मन्त्रा भागो यस्मिन् वेदे स ऋग्वेद, ऋचः पठनीया यज्ञे यस्य वेदे स ऋग्वेदः, व्रीहियवादिवद्रव्यत्वेन यज्ञे ऋचो विनियुज्यन्ते यस्मिन् वेदे स ऋग्वेदः।" किन्तु 'ऋग्वेद' में इस प्रकार का समास ऋक् एवं वेद दो शब्द हों, तभी सम्भव है। तभी उपर्युक्त अर्थ निकल सकता है। केवल ऋक् आदि से उपर्युक्त अर्थ कथमपि निकल नहीं सकता। अतः ऋक् आदि का मन्त्र ही अर्थ है। यह अर्थ ऋक्, साम, यजुः शब्दों से नहीं निकल सकता, क्योंकि ये शब्द तो केवल मन्त्रों के ही बोधक हैं, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है। ऋक् शब्द के साथ जिस वेदशब्द का समास (मेल) हुआ है, उस वेदशब्द का सम्बन्ध यजुःशब्द से नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा होने पर तो उसका ऋक् के साथ समास ही न हो सकेगा। अतएव उपर्युक्त अर्थ ग्रहण करने के लिए ही तीन बार 'वेद' शब्द का प्रयोग सार्थक होता है।

निष्कर्ष यह है कि जो शब्द-समुदाय ऋग्वेद आदि शब्दों से कहा जाता है, उसके दो भाग होते हैं--एक ऋगादि मन्त्ररूप

Scanned by CamScanner

और दूसरा ब्राह्मण-भाग, जिसमें कि ऋगादि के विनियोजक विधिवाक्य एवं ब्रह्मबोधक उपनिषद आदि होते हैं। इस तरह शतपथ के उक्त वचन में बार-बार वेदशब्द का प्रयोग ब्राह्मण-भाग के वेद होने में ही प्रमाण है।

कहा जाता है कि 'व्रीहि, यवादि के तुल्य ऋक् आदि मन्त्रों को द्रव्य कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि मन्त्रों का महत्त्व लोक तथा शास्त्र में अत्यधिक है।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जैसे "व्रीहिभिर्यजेत' आदि विधि-वाक्यों से यज्ञ में व्रीहि आदि का विनियोग होता है, वैसे ही "ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठेत" इत्यादि विधि-वाक्यों के अनुसार मन्त्रों का भी यज्ञादि में विनियोग होता है। "इषे त्वेति शाखां छिनत्ति" ('इषे त्वा' इस मंत्रसे पलाश की शाखा का छेदन करे) इत्यादि वाक्य ही व्रीहि-जव के समान मन्त्रों का भी यज्ञों में विनियोग बतलाते हैं। "धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः" इस सूत्र से जैमिनि ने भी साम-मन्त्रों को द्रव्य कहा है। "नास्य सामद्रव्येण सम्बन्धो वेदितव्यः" (उच्चत्व गुण का साममन्त्ररूप द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं समझना चाहिए) इन शब्दों से शबरस्वामी भी यही कहते हैं।

इसी तरह "प्रजापतिर्वा इदमेक अग्र आसीत्, स तपोऽतप्यत तस्मात्तपस्तेपानात्त्रयो देवा असृज्यन्त अग्निर्वायुरादित्यः, ते तपोऽतप्यन्त तेभ्यस्तेपानेभ्यः त्रयो वेदा असृज्यन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः" (शत० का० ११ अ० ५) यहाँ भी 'ऋग्वेद' आदि शब्द हैं। यह भी मध्यमपदलोपी समास द्वारा ब्राह्मण-सहित मन्त्र को ऋग्वेद आदि बतलाता है। इसी तरह जहाँ-जहाँ

Scanned by CamScanner

भी ऋग्वेदादि शब्द या उनके पर्याय श्रुति, स्वाध्याय आदि शब्द सुने गये हों, सभी ब्राह्मणभाग की वेदता में प्रमाण हैं। जैसे—"सहोवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि···" (छान्दोग्योपनिषद्), "स्वाध्यायान्मा प्रमदः" (तैत्तिरीय उप०), "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (श० ब्रा०) से स्वाध्याय, निगम आदि सभी शब्दों से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही कहे जाते हैं।

जैसे मन्त्र ऋक्, यजुः आदि के वाचक हैं, वैसे ही 'ब्राह्मण' शब्द भी 'शतपथ' आदि ब्राह्मणों के वाचक हैं। फिर भी ऋगादि शब्द तत्तन्मन्त्रविशेष के ही वाचक हैं, तो 'ऋग्वेद' आदि शब्द समस्त मन्त्र-ब्राह्मण-समूह के वाचक हैं। कहीं इसमें विपर्यास नहीं होता। यदि कहीं ऋगादि शब्दों का मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय में प्रयोग हो, तो भी उसे 'मुख्य' नहीं, किन्तु लाक्षणिक ही समझना चाहिए। इसी तरह यदि कहीं 'ऋग्वेद' आदि शब्द ऋगादि मन्त्र में ही प्रयुक्त हों या वेदादि शब्द ब्राह्मणभाग मात्र में प्रयुक्त हों, वहाँ भी लक्षणा ही समझनी चाहिए। कभी भी उन प्रयोगों को शक्तिमूलक न समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में पूर्वमीमांसा-सूत्र (अ० ३। पा० ३। अधि० १) की 'शास्त्र-दीपिका' के अनुसार निम्नलिखित विचार है—यह विषय 'प्रजापतिरकामयत' (शतपथ १३ कां० ५ अ०) से आरम्भ कर ज्योतिष्टोम-यज्ञ के प्रकरण में कहा गया है। "तस्मादुच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा उच्चैः साम्ना" (उक्त कारण से ऋक् से ऊँचा-कर यजु से मन्द करे, साम से ऊँचा करे। अर्थात् ऋक् एवं साम से उच्चैःस्वर से कर्म करें। यजुः से मन्दस्वर से कर्म करें)। यहाँ संशय होता है कि 'क्या उपसंहार-श्रुति के अनुसार

Scanned by CamScanner

उच्चैस्त्व (ऊँचाई) आदि मन्त्रों के धर्म हैं अर्थात् ऋगादि मन्त्रों में ही ऊँचा करे अथवा वे (उँचाई आदि) वेद के धर्म हैं अर्थात् ऋग्वेद से ऊँचा करे ?, आदि। संशय का कारण यह है कि 'प्रजापतिरकामयत' इत्यादि उपक्रम श्रुति में "अग्नेर्ऋग्वेदः' में ऋग्वेद आदि कहा गया है। उपसंहार में ऋक् आदि ही कहा गया है (ऋक् से ऊँचा करे, आदि)। वेदशब्द किसी एक मन्त्रवाक्य या ब्राह्मणवाक्यका वाचक नहीं है, क्योंकि उतने मात्र में वेदशब्द का प्रयोग नहीं होता। अतएव दो, चार वाक्य पढ़ने से 'वेदानधीत्य वेदो वा' इस विधि की पूर्ति नहीं होती। किन्तु मन्त्र-ब्राह्मण-समुदायरूप ग्रन्थ-विशेष का ही नाम 'वेद' है। 'वेदयतीति वेदः' (जो ज्ञान कराये, वह वेद है) इस व्युत्पत्ति से प्रत्येक वाक्य वेद है—यह कहना मूर्ख-प्रलाप ही है। तथाच ऋक् आदि शब्द मन्त्र के ही वाचक हैं। उपक्रम, उपसंहार की एक-वाक्यता होनी चाहिए। उपक्रम में ऋग्वेद शब्द आया है। उसका अर्थ मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय हैं। उपसंहार में ऋक् आदि शब्द मन्त्रों के ही वाचक हैं। ऐसी स्थिति में विधिवाक्यरूप उपसंहार-श्रुति के अनुसार अर्थवादरूप उपक्रम-श्रुति के 'वेद' शब्द का उक्त समुदायरूप अर्थ न कर 'वेदका भागविशेषरूप मन्त्र' ही अर्थ करना चाहिए। अथवा अर्थवादरूप उपक्रम-श्रुति के अनुसार उपसंहार-श्रुति के ऋगादि पदों का मन्त्ररूप मुख्यार्थ न कर, उक्त मन्त्र-ब्राह्मण-समुदायरूप वेद अर्थ में ही लगाया जाय। उक्त दो प्रकारों को छोड़कर उपक्रम, उपसंहार की एकवाक्यता का दूसरा कोई मार्ग नहीं।

यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' यह उपसंहार-श्रुति यद्यपि पीछे है, तथापि वह विधिरूप होने से प्रधान

Scanned by CamScanner

है। विधि के अर्थ का बोध अन्य प्रमाण से नहीं हो सकता। अतः वह अत्यावश्यक भी है। 'अग्नेर्ऋग्वेदः' इत्यादि उपक्रम-श्रुति तो अर्थवाद होने से विधि का अंग ही है। अतः वह अनुवादक है, विधायक नहीं। जैसे भृत्य को राजा का अनुसरण करना पड़ता है, राजा भृत्य का अनुसरण नहीं करता, वैसे ही अर्थवादरूप उपक्रम-श्रुति विधिरूप उपसंहार-श्रुति का अनुसरण करेगी। अतः उपसंहार-श्रुति के अनुसार 'ऋग्वेदः' यह उपक्रम-श्रुति मन्त्र-ब्राह्मणरूप अपने मुख्यार्थ को छोड़कर केवल ऋगादि मन्त्रों की ही बोधक होगी। जैसेः 'सोमेन यजेत' (सोमयाग करे) यह विधिवाक्य यद्यपि पीछे पठित है, तथापि उसकी प्रक्रिया अपने स्थान पर ही स्थित है। 'दीक्षणीय याग' यद्यपि प्रथम पठित है, तो भी वह अपने काल से हटा दिया जाता है। इसी तरह 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यादि विधिरूप उपसंहार-श्रुति प्रधान है। वह अपने मुख्यार्थ से हट नहीं सकती, किन्तु उसके अनुरोध से उपक्रम-श्रुति ही अपने मुख्यार्थ से हटकर लाक्षणिक अर्थ की बोधक होगी।

इसपर सिद्धान्त पक्ष का कहना है कि 'उपक्रम-श्रुति का ऋग्वेद आदि शब्द जिस समय के होते हैं, उस समय उनका कोई विरोधी नहीं रहता। अतः वे अपने मन्त्र-ब्राह्मण-समुदायरूप मुख्यार्थ का ही निर्विघ्न बोधन कराता है। इस तरह जब यह निश्चय हो जाता है कि वेदशब्द मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय का ही बोधक है, तब उपसंहार-श्रुति के ऋगादि शब्दों का श्रवण होता है। उस समय वे अपने मुख्यार्थ मन्त्र का बोध न कराकर उपक्रम के अनुसार मन्त्र-ब्राह्मणरूप लक्ष्यार्थ का ही

बोध करायेंगे ; क्योंकि केवल मन्त्ररूप मुख्यार्थ का ऋग्वेद इस उपक्रम-श्रुति से विरोध होगा। उपक्रमस्थ ऋग्वेद शब्द का मन्त्र-ब्राह्मण-समुदायरूप मुख्यार्थ प्रथम ही बोधित हो चुका है। यदि उपसंहारस्थ वचन का उपक्रम के अनुकूल अर्थ न होगा, तो उपक्रम-उपसंहार की एकरूपता एवं एकवाक्यता नहीं होगी।

तात्पर्य यह है कि उपक्रम में ही आये हुए मन्त्र-ब्राह्मणवाचक वेदशब्द से प्रथम ही यह निश्चय हो जाता है कि मन्त्र-ब्राह्मण-रूप वेदों के सम्बन्ध में ही किसी धर्म का आगे विधान किया जायगा। किस धर्म का विधान होगा? इतना ही मात्र ज्ञातव्य अवशिष्ट रहता है। उसीका बोध 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इस उपसंहार-श्रुति से होता है। अतः ऊँचाई आदि धर्म ही अपेक्षित हैं। ऋगादि शब्दों के मन्त्ररूप मुख्यार्थ का बोध भी उपक्रमस्थ वेदशब्द से पहले हो ही चुका है। अतः भले ही विधिवाक्य में ऋगादि शब्द हों, तो भी वे विधायक न होकर अनुवादक ही हैं। इसीलिए ऋगादिशब्द मन्त्ररूप मुख्यार्थ के बोधक न होकर लक्षणा से मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय के ही बोधक होंगे। इससे उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता भी भंग न होगी। ऋगादि शब्द से भी मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय का ही बोध होता है, जैसा कि उपक्रम के वेदशब्द से होता है। "य इष्ट्वा पशुना सोमेन यजेत" (पशुयज्ञ करके सोमयाग करे) इस वाक्य से सोमयाग का काल निश्चित हो चुका है, तो ठीक ही है कि उसके अनुसार 'दीक्षणीया' का काल हटा दिया जाय। तस्मात् ऊँचाई आदि धर्म मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायरूप वेद के ही हैं;

Scanned by CamScanner

केवल ऋगादि मन्त्रों के ही नहीं। उपसंहार-श्रुति का भी अर्थ यही होगा कि ऋग्वेद आदि के ब्राह्मणरूप विधिवाक्यों से जिन-जिन कर्मों का विधान है, वे सब उक्त उपसंहार-श्रुति के अनुसार ऊँचे किये जायँ। यजुर्वेद के कर्मों का उपांशु अनुष्ठान किया जाय, केवल मन्त्रमात्र नहीं।

इसी सम्बन्ध के 'श्रुते र्जात धिकारः स्यात्,'' इस जैमिनि सूत्र में विचार किया है। ज्योतिष्टोम प्रसंग की श्रुति है—"उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा उच्चैः साम्ना।" यहाँ संशय है कि उच्चैस्त्वादि धर्म ऋगादि मन्त्रों से ही सम्बन्ध रखते हैं अथवा मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायरूप ऋग्वेद आदि से? पूर्वपक्ष के अनुसार ऋगादि मन्त्रों में ही उच्चैस्त्वादि धर्म का अधिकार है, क्योंकि केवल मन्त्र ही ऋक् आदि शब्दों का मुख्य अर्थ है। उत्तर पक्ष का सूत्र है—"वेदो वा प्रायदर्शनात्" अर्थात् उच्चैस्त्वादि धर्म मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायरूप वेद के ही धर्म हैं। वेद ही विधि का उद्देश्य है। अर्थात् ऋग्वेद आदि से जो विहित है, वह सब उच्चैस्त्वधर्मयुक्त है। क्योंकि 'प्रायः' अर्थात् उपक्रम में वेदशब्द दृष्ट है। 'प्रजापतिरजायत, अग्नेर्ऋग्वेदोः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः" इस प्रकार उपक्रम में वेदशब्द का निर्देशकर उपसंहार में 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' कहा गया है। उपक्रम के अनुसार ही उपसंहार के ऋगादि शब्दों का मुख्य अर्थ भले ही मन्त्र हो, तथापि उसका लक्ष्यार्थ मन्त्रब्राह्मणसमुदाय ही ग्राह्य है।

"लिङ्गाच्च"—अर्थात् ऋक्पद से वेद का बोध अन्यत्र भी देखा गया है। "ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते, यजुर्वेदन तिष्ठति मध्ये अह्नः, सामवेदनास्तमयं महीयते, वेदैऽशून्यैस्त्रिभिरेति

सूर्यः" यहाँ 'ऋग्भिः' इस प्रथम चरण में ऋक् शब्द से ऋग्वेद ही ग्राह्य है, क्योंकि चतुर्थ चरण में 'वेदैः' यह बहुवचन है। यदि ऋक् का ऋग्वेद अर्थ न होता, तो 'वेदैः' न होकर 'वेदाभ्याम्' ऐसा द्विवचन ही होना चाहिए। 'त्रयी विद्या-ख्या च तद्विदि' त्रयीशब्द ऋक्, साम, यजुः' में प्रसिद्ध है। यहाँ 'त्रयी' शब्द की वेदत्रयी में लक्षणा है। तभी त्रयीविद् में 'त्रैविद्य' शब्द का प्रयोग होता है। इसी तरह 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' यहाँ भी ऋक् आदि शब्द से वेद ही लक्षित होता है।

"धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः"(जै० सू०)—ऋक् केउच्चत्व का विधान है, साथ ही साम में उच्चत्व का विधान है।"ऋच्यध्यूढं साम" अर्थात् ऋक् मन्त्रों में साम अध्यूढ होता है। साम अक्षररूप नहीं होता, अपितु गीतिरूप ही होता है। वह भी ऋक्-मन्त्रों ही होता है। इस तरह ऋक्-मन्त्रमें उच्चत्व का विधान हो गया, तो साम में उच्चत्व का विधान व्यर्थ ही होगा; क्योंकि ऋक् की उच्चता से साम की उच्चता अपने आप सिद्धि हो जाती है। अतः 'साम' से ताण्ड्य आदि ब्राह्मणसमुदाय ही अर्थ विवक्षित है। तभी 'उच्चैः साम्ना' यह विधान सार्थक हो सकता है। इस तरह जब साम का मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय अर्थ हो गया, तब तो ऋक्, यजुः शब्दों का भी लक्षणा द्वारा मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय ही अर्थ होना ठीक है।

यदि ब्राह्मणभाग वेद न होता, तो "श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्" (३।३।१) इत्यादि जैमिनि का पूर्वपक्ष-सूत्र सङ्गत ही न होता, 'ऋगादि शब्द से ब्राह्मणभाग का ग्रहण न हो' इसीकेलिए यह सूत्र है। ब्राह्मणभाग का ग्रहण तभी सम्भव होता; जब

Scanned by CamScanner

उसे वेद माना जाता। जब ब्राह्मणभाग वेद है ही नहीं, तब तो उसके ग्रहण का निषेध करने के लिए उक्त सूत्र सर्वथा व्यर्थ ही होगा, क्योंकि 'प्राप्ति होने पर ही निषेध सार्थक होता है।'

इसी तरह "वेदो वा प्रायदर्शनात्" (३।३।२) यह सिद्धान्त-सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है। इस सूत्र में मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायरूप वेद ही 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इस उपसंहारश्रुति के ऋगादि शब्दों का अर्थ बताया गया है। 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' का अर्थ यह होता है कि ऋग्वेद आदि के ब्राह्मणभाग से जिन कर्मों का विधान है, वे सब 'उच्चैः' किये जायँ। क्योंकि 'अग्ने-'र्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः' आदि उपक्रमश्रुति में वेदशब्द का प्रयोग आया है। वेदशब्द का अर्थ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद ही है। उपक्रमरूप मुख्य प्रमाण के अनुसार ही उपसंहार के ऋगादि शब्दों का यद्यपि मन्त्र ही मुख्यार्थ है, तथापि लक्षणया मन्त्र-ब्राह्मणसमूह ही अर्थ किया जाता है। 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' इस सूत्र का अर्थ यह है कि वेद अर्थात् मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद ही 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इस विधि का उद्देश्य है, क्योंकि प्राय अर्थात् उपक्रम में वेदशब्द देखा गया है। "प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति। स तपोऽतप्यत, तस्मात्तेपानात्त्रयो देवा असृज्यन्त, अग्निर्वायुरादित्यः, ते तपोऽतप्यन्त, तेभ्येस्तेपानेभ्यः त्रयो वेदा असृज्यन्त, अग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः' ऐसा उपक्रम करके 'तस्मादुच्चैर्ऋचा क्रियते' ऐसा उपसंहार करने से उपक्रम के समय विरोध उत्पन्न न होने से प्रबल उपक्रम के अनुसार ही उपसंहार का अर्थ करना उचित है।

Scanned by CamScanner

'लिङ्गाच्च (३।३।४३) इस सूत्र से कहा गया है कि ऋक् शब्द से 'वेद' का बोध अन्यत्र भी देखा गया है। जैसे "ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः" अर्थात् सूर्यदेव तीनों वेदों से अशून्य रहकर ही चलते हैं। प्रातःकाल ऋक् से, मध्याह्न में यजुर्वेद से और सायंकाल सामवेद से उनकी स्तुति की जाती है। इस सूत्र में यद्यपि 'ऋग्भिः' यहाँ पर ऋक् शब्द के साथ वेदशब्द नहीं पढ़ा है, तथापि ऋक् शब्द का मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद ही अर्थ है, क्योंकि इसी मन्त्र में कहा है—'वेदैरशून्यैस्त्रिभिः' (तीन वेदों से अशून्य)। यदि ऋक् शब्द का ऋग्वेद अर्थ न हो, तब तो यजुर्वेद, सामवेद ये दो ही वेद हो सकेंगे, फिर 'त्रिभिर्वेदैः' यह लिखना सङ्गत न हो सकेगा। अतः 'ऋग्भिः' का ऋङ्मन्त्र अर्थ न होकर मन्त्रब्राह्मणरूप ऋग्वेद ही अर्थ समझना सर्वथा उचित है।

इसी तरह "त्रयी विद्याख्या च तद्विदि" (३।३।५) इस सूत्र से भी कहा गया है कि यद्यपि त्रयीशब्द से ऋक्, साम, यजुः मन्त्र ही कहे जाते हैं, तथापि त्रैविद्य वही कहा जाता है, जो मन्त्रब्राह्मणात्मक समूहरूप ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद को जानता है, न कि केवल मन्त्रमात्र को जाननेवाला। अतः जैसे त्रयीपद का ऋगादि मन्त्ररूप मुख्य अर्थ बाधित होने से लक्षणा द्वारा 'मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायरूप तीन वेद' अर्थकर उनको जाननेवाले की 'त्रैविद्य' यह आख्या मानी जाती है, वैसे ही प्रकृत में भी उपसंहारस्थ ऋगादिशब्दों से लक्षणया ऋग्वेदादि ही बोधित होते हैं।

Scanned by CamScanner

"धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः"(३।३।४) इस सूत्र द्वारा यह सूचित होता है कि "उच्चैः ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु-यजुषा" इन स्थलों में मन्त्रब्राह्मणसमुदाय ही विवक्षित है, अन्यथा "उच्चैः साम्ना" यह कहना निरर्थक ही हो जाता। स्थिति यह है कि "ऋच्यध्यूढं साम गायति" इस श्रुति के अनुसार ऋङ्-मन्त्रों पर ही 'साम' गाया जाता है। साम अक्षररूप न होकर गानक्रियाविशेषरूप होते हैं। ऐसी स्थिति में "उच्चैः ऋचा क्रियते" इसी श्रुति से साम में उच्चैस्त्व का विधान स्वतःसिद्ध होने से "उच्चै साम्ना" इस श्रुति के द्वारा अलग से साम में उच्चैस्त्व का विधान करना सर्वथा व्यर्थ ही होता। यदि इसके विपरीत सामशब्द से साम-मन्त्र और ताण्ड्यादि ब्राह्मण का समुदाय गृहीत होता है, तो "उच्चैः साम्ना" के द्वारा अतिरिक्त उचैस्त्व विधान ताण्ड्यादि ब्राह्मणभाग में विहित कर्मों के लिए होने से सर्वथा सार्थक हो जाता है। इस तरह जब "उच्चैः साम्ना" के द्वारा किये गये पुनः उच्चैस्त्वविधान की सार्थकता के लिए 'साम' शब्द का मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायरूप अर्थ करना ही है, तब "उच्चैर्ऋचा क्रियते" आदि उपसंहार-श्रुति में पठित ऋग्, यजुः-शब्दों का भी लक्षणा द्वारा मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायरूप अर्थ करना सर्वथा उचित ही है। सूत्रार्थ यह है कि "ऋच्यध्यूढं साम गायति" इस श्रुति के अनुसार गानक्रियाविशेषरूप साम का ऋङ्-मन्त्रों पर ही गान होने से "उच्चैर्ऋचा क्रियते" इस श्रुति के द्वारा ही साम में उच्चैस्त्वधर्म का उपदेश स्वतःसिद्ध है, पुनः "उच्चैः साम्ना" द्वारा साम में उच्चैस्त्व धर्म का उपदेश करना व्यर्थ ही होता। अतः सामशब्द का 'साममन्त्र-ताण्ड्यादिब्राह्मण-

Scanned by CamScanner

समुदाय' अर्थकर ताण्ड्यादि ब्राह्मणभाग में विहित कर्मोंमें उच्चैस्त्व धर्म का उपदेश करने के लिए ही "उच्चैः साम्ना" इस श्रुति का अतिरिक्त उपन्यास है। इसीलिए जैमिनि ने मुक्तकण्ठ से इसी सूत्र में आगे कहा है कि 'द्रव्यरूप साममन्त्र में उच्चैस्त्व रूप धर्म का विधान हो ही नहीं सकता।'

'उच्चैस्त्व आदि वेद के धर्म हैं' इस अधिकरण का विषय "उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना' इन वाक्यों को माना गया है, यह भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है। क्योंकि मीमांसा-दर्शन में वेदवाक्यार्थ का ही विचार किया गया है। "उच्चैर्ऋचा क्रियते" आदि विषय-वाक्य 'शतपथ-ब्राह्मण' के ही वाक्य हैं। यदि ब्राह्मणभाग वेद न हो, तो इसपर मीमांसादर्शन में विचार ही न हो सकता। पौरुषेय वाक्य मीमांसादर्शन के विचारणीय नहीं होते। उसमें तो अधिकांश ब्राह्मणवाक्यों पर ही विचार हुआ है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि ब्राह्मणभाग भी वेद है।

साथ ही इस अधिकरण का संशय और उसकी उपपत्ति, दोनों ही ब्राह्मणभाग के वेद होने पर ही संगत होते हैं। यहाँ संशय यही है कि 'उच्चैस्त्व आदि धर्म मन्त्रों में विहित है अथवा मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायरूप वेद में?' यदि ब्राह्मणभाग वेद नहीं है, केवल मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा है, तो वेद और मन्त्र पर्यायवाची शब्द हुए। ऐसी स्थिति में संशय के द्वितीय पक्ष का उत्थान ही नहीं हो सकेगा।

इस उपर्युक्त संशय की उपपत्ति भी ऐसे होती है कि 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि उपसंहारवाक्य में कहे गये मन्त्रमात्र के

Scanned by CamScanner

वाचक 'ऋक्' आदि के अनुसार उपक्रम-वाक्य में श्रुत वेद-शब्द का केवल मन्त्र ही अर्थ है। अथवा उपक्रम-वाक्य में कहे गये मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय के वाचक वेदशब्द के अनुसार उपसंहार-वाक्य में श्रुत ऋगादि शब्दों का केवल मन्त्र ही अर्थ न कर लक्षणा से मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायरूप ऋग्वेद आदि अर्थ है। यदि ब्राह्मणभाग वेद ही नहीं, तो पूर्वसंशय के उपपादक इस संशय का भी द्वितीय पक्ष उठ ही नहीं सकता, क्योंकि मन्त्र-भागमात्र का वाचक 'वेद'शब्द मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय का वाचक कदापि हो ही नहीं सकेगा।

'उच्चैस्त्व आदि धर्म का विधान केवल मन्त्रों में नहीं होता, किन्तु मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद से विहित कर्मों में होता है' यह सिद्धान्त भी तभी उत्पन्न होगा, जब ब्राह्मणभाग भी 'वेद' हों।

इस अधिकरण के विचार का फल भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है। 'ऋग्वेद आदि चारों वेदों के अन्तर्गत आनेवाले ब्राह्मणों में पठित विधिवाक्यों से यज्ञाङ्गभूत जिन-जिन कर्मों का विधान किया गया है, वे सभी कर्म यथायोग्य उच्चैः या उपांशु किये जायँ, न कि केवल मन्त्रमात्र का पाठ ही उच्चैः या उपांशु किया जाय' यही निर्णय उक्त विचार का फल है। फलितार्थ यह है कि ऋग्वेद आदि मन्त्रातिरिक्त जिस भाग से घटित है, उस भाग से विहित कर्म उच्चैः या उपांशु किये जायँ। वह मन्त्रातिरिक्त वेदभाग ब्राह्मण ही है।

इसी तरह—

"उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥"

इस मनुवचन (२।१५) से भी ब्राह्मणभाग की वेदता सिद्ध होती है। क्योंकि 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' ये वचन ब्राह्मणभाग के ही हैं। 'वैदिकी श्रुतिः' इससे स्पष्ट ही उक्त वचनों को वेद की श्रुति कहा गया है। जैसे वेद के मन्त्र कहे जाते हैं, वैसे ही वेद की श्रुति कही जाती है। जैसे मन्त्रभाग कहने से तान्त्रिक आदि मन्त्रों का भी बोध हो सकता है, तद्वारणार्थ वैदिक मन्त्र कहा जाता है, वैसे ही श्रुतिमात्र कहने से कोई अन्य यौगिकी श्रुति, जनश्रुति आदि भी गृहीत हो सकती है। तद्वारणार्थ 'वैदिकी श्रुति' कहा गया है।

यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस अग्निहोत्र के मन्त्र के बल पर अनुमित अग्निहोत्र-विधायक-वाक्य को ही मनु ने 'वैदिकी श्रुति' कहा है। कारण, अनुमान उसीका होता है, जो कहीं प्रसिद्ध हो। नरशृङ्ग आदि अप्रसिद्ध पदार्थ का अनुमान नहीं होता। जब आर्यसमाजियों के मत में अन्य कोई वेदभाग प्रसिद्ध ही नहीं, तो उसका अनुमान उन आर्यसमाजियों के मत से कैसे हो सकता है? जो मीमांसक चार वेदों की चार-संहिताओं से अतिरिक्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक-समुदाय से उपबृंहित अन्य सभी शाखाओं को वेद मानते हैं, उनके यहाँ तो इस ढङ्ग की श्रुतियों का अनुमान किया जा सकता है, जैसा कि जैमिनि ने स्पष्ट कहा है—"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" (१।३।३)। यह सुस्पष्ट है कि मन्त्रों के द्वारा धर्म का विधान कदापि नहीं होता, बल्कि एकमात्र ब्राह्मणभाग में ही उपलब्ध 'स्वर्गकामो यजेत' आदि विधिवाक्य ही धर्मविधायक होते हैं। इसीलिए मनु के उक्त वचन में मन्त्र का कोई भी अंश

Scanned by CamScanner

उक्त न होकर केवल ब्राह्मणभाग का ही वाक्य उक्त है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनु ने ब्राह्मणभाग में उपलब्ध विधिवाक्यों को ही 'वैदिकी श्रुति' कहकर ब्राह्मणभाग को मुक्तकण्ठ से वेद स्वीकार किया है।

मनु का (२।७) यह भी कहना है—

"यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥"

अर्थात् जिस किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण या ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रमों का जो कोई भी धर्म मनु के द्वारा कहा गया है, वह सारा वेद में अभिहित है। यतः मनु सर्वज्ञ थे, इसलिए उन्होंने लोककल्याण की दृष्टि से उच्छिन्न और विप्रकीर्ण पठ्यमान समस्त वेद के अर्थ का एक जगह उपनिबन्ध कर दिया। इससे भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि महर्षि मनु को ब्राह्मण-भाग में वेदता इष्ट है। कारण, वर्णाश्रम धर्मों का कर्तव्य रूप में विधान करनेवाले वाक्य संहिताओं में नहीं मिलते, केवल ब्राह्मणभाग में ही मिलते हैं। मन्त्रस्थ किन्हीं-किन्हीं पदों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सभी धर्मों का विधान मन्त्रों में ही है। मन्त्रों के किसी-किसी पद की क्लेशपूर्वक खींचातानीकर अर्थ करने से भले ही किसी धर्म का बोध हो जाय, पर मनुस्मृति में कहे गये सभी धर्मों का बोध तो मन्त्रभाग से सर्वथा असम्भव ही है।

उपर्युक्त मनुश्लोक में "यः कश्चित्, कस्यचिद्धर्मः, स सर्वोऽभिहितो' ऐसा उल्लेखकर स्पष्ट कहा गया है कि जो कोई भी

Scanned by CamScanner

जिस किसीका धर्म है, वह सब वेद में अभिहित है, न कि सूचित हैं। अभिधान तभी सम्भव है, जब कि सभी धर्मों का विधेय-रूप में सुस्पष्ट प्रतिपादन हो। यह स्वप्न में भी मन्त्रभाग द्वारा सम्भव नहीं और ब्राह्मणभाग में पदे-पदे देखा जाता है। ऐसी स्थिति में प्रवृत्तिरूप वारि से विहीन मन्त्ररूप मरुकूपिका में असंख्य प्रभेद-कल्लोलमालाओं से परिपूर्ण, तलविहीन धर्मरूप समुद्र का समाना सर्वथा असम्भव होने से यह मानना ही पड़ता है कि 'वेदेऽभिहितः' ऐसा कहकर भगवान् मनु ने ब्राह्मणभाग के वेदत्व का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है।

इसी तरह—

"वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथाऽऽदित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥"

इस अपने श्लोक (२।२८४) में भगवान् मनु ने 'एषा' इस प्रत्यक्ष निर्देश के द्वारा श्रुति के आदि के तीन पादों का अनुकरण करते हुए "वसून् पितॄन् वदन्ति, रुद्रान् पितामहानादित्यान् प्रपितामहान्" इस वाक्य को सुस्पष्ट ही 'सनातनी श्रुति कहा है। यह वाक्य केवल ब्राह्मणभाग में ही मिलता है, मन्त्रभाग में कहीं भी दृष्ट नहीं है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणभाग की वेदता में कौन सन्देह कर सकता है?

"यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत्।
ब्रह्म च्छन्दकृतं चैवं द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥"

मनु का (४।१००) यह श्लोक भी ब्राह्मणभाग की वेदता का

साधक है। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि यथाशास्त्र गाय-त्र्यादि छन्दोयुक्त मन्त्र का नित्य पाठ करें, क्योंकि मन्त्र ही कर्म के अन्तरङ्ग अङ्ग हैं। यदि आपत्तिकाल न हो, तो ब्रह्मयज्ञ को साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न करने की दृष्टि से छन्दस्कृत (मन्त्र) तथा ब्रह्म (ब्राह्मण) दोनों का ही सावधानीपूर्वक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को पाठ करना चाहिए।

यहाँ विचारपूर्वक देखा जाय तो ब्राह्मणभाग की वेदता स्पष्ट है। जल आदि द्रव्यों के समान मन्त्र भी नित्यकर्म के आवश्यक अङ्ग हैं। इसलिए उनके नित्यपाठ का विधान करते हुए अनापत्-काल में ब्राह्मणभाग तथा नित्यकर्म से अतिरिक्त कर्मों में अङ्गत्वेन उपयुक्त मन्त्रों के पाठ का विधान भगवान् मनु ने किया है। पर साथ ही उपाकरण से लेकर उत्सर्ग तक के सभी नियम ब्राह्मणभाग और मन्त्रभाग में समान रूप से उक्त हैं। ऐसी स्थिति में नित्यकर्म के अङ्ग और नित्यकर्म से अतिरिक्त अन्य कर्मों के अङ्ग जितने भी मन्त्र हैं, उनको वेद माननेवाला व्यक्ति मध्य में ब्रह्मशब्द से निर्दिष्ट ब्राह्मणभाग को वेद कैसे न मानेगा ? यह तो नहीं कहा जा सकता कि "ब्रह्म च्छन्दस्कृतं चैव" यहाँ 'छन्दस्कृतम्' का ब्रह्म के साथ अभेदान्वय है, क्योंकि 'चैव' यह समुच्चयबोधक पद सुस्पष्ट दृष्ट है। इसके अतिरिक्त 'छन्दस्कृतम्' इस पद का दो बार उच्चारण भी किया गया है। यदि अभेदान्वयकर ब्रह्मरूप छन्दस्कृत का पाठ ही विधेय होता, तो समुच्चायक 'चैव' पद का तथा 'छन्दस्कृतम्' का द्वितीय बार उच्चारण सर्वथा निरर्थक ही हो जाता।

Scanned by CamScanner

और भी—

"राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।"

इस श्लोक (७।९७) द्वारा 'योद्धा लोग विजित धन में से राजा को उद्धार दें, ऐसी वैदिकी श्रुति है' ऐसा मनु ने कहा है। इस आशय का वाक्य मन्त्रभाग में उपलब्ध न होकर ब्राह्मणभाग में ही "इन्द्रो वै वृत्रं जघान" ऐसा उपक्रमकर "स महान् भूत्वा देवता अब्रवीत् उद्धारं समुद्धरत इति" इस रूप में मिलता है। इससे भी स्पष्ट है कि मनु की ब्राह्मणभाग को वेद मानने में पूरी सम्मति है।

इसी प्रकार—

"नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥"

इस श्लोक (९।६५) में मनु ने कहा है कि 'न उद्वाहसम्बन्धी मन्त्रों में नियोग कहा गया है और न उद्वाहविधायक वाक्यों में ही कहीं विधवा का पुरुषान्तर के साथ पुनर्विवाह कहा गया है। यहाँ विधवा-नियोग, पुनर्विवाह दोनों को अकर्तव्य सिद्ध करने के लिए यही हेतु दिया गया है कि ये दोनों मन्त्रों में या विवाहविधायक वचनों में सर्वथा अनुक्त है। इससे यह सिद्ध है कि भगवान् मनु की दृष्टि में मन्त्र और विवाहविधायक वाक्यों में समान प्रामाण्य है। इसके अतिरिक्त "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्" (जाबाल्युपनिषद्) आदि विवाह-विधायक वाक्य ब्राह्मणभाग में ही प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणभाग में वेदत्व क्यों न स्वीकार किया जाय? पूर्वमीमांसादर्शन में "आम्नायस्य क्रिया-

र्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते।" (जै० सू० १।२।१) इस सूत्र से अर्थवादाधिकरण के पूर्वपक्ष की रचना करते हुए जैमिनि ने कहा है कि "आम्नाय (वेद) का क्रिया (प्रवृत्ति या निवृत्ति) अर्थ होने से ही धर्म में प्रामाण्य है। अर्थात् वेद पुरुषों की धर्म में प्रवृत्ति एवं अधर्म से निवृत्ति कराने के कारण ही सार्थक हैं। अतः प्रवर्तक, निवर्तक विधिवाक्यों से रहित मन्त्र या अर्थवाद आदि प्रवृत्ति या निवृत्ति में कारण न होने से सर्वथा अनर्थक ही हैं। यहाँ स्पष्ट है कि उस सूत्र द्वारा प्रवर्तक विधिवाक्य और निवर्तक निषेधवाक्यों से युक्त वेदभाग का धर्म में प्रामाण्य स्वीकार करते हुए उनसे विरहित मन्त्रों या अर्थवादों का धर्म के विषय में अप्रामाण्य सिद्ध किया गया है। विधिवाक्य, निषेधवाक्य से युक्त वेदभाग एकमात्र ब्राह्मण-भाग ही है। ऐसी स्थिति में उसीका वेद-पर्यायवाची 'आम्नाय' शब्द से निर्देश करते हुए प्रामाण्य स्वीकारकर क्या ब्राह्मण-भाग को जैमिनि ने स्वयं अपने कण्ठ से 'वेद' नहीं कहा है?

यहां कुछ लोग कहते हैं कि 'प्रकृत सूत्र में 'क्रिया'शब्द से प्रवृत्ति या निवृत्ति का ग्रहण न कर 'व्यापार' या 'स्पन्द'मात्र का ही ग्रहण किया गया है। 'अर्थ' शब्द से भी प्रयोजन का ग्रहण न कर 'वाच्य' या अक्षरार्थमात्र का ग्रहण किया गया है। ऐसी स्थिति में किसी न किसी वाच्यार्थ से युक्त मन्त्रभाग में व्यापारवाचक 'ददाति' आदि शब्दों के उपलब्ध होने से प्रकृत सूत्र में आम्नाय पद का अर्थ मन्त्रभाग मात्र ही क्यों न माना जाय?' पर यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह

Scanned by CamScanner

तो लौकिक मिथ्यावाक्य भी, जिनका प्रामाण्य कभी भी इष्ट नहीं है, किसी न किसी क्रिया से युक्त होते ही हैं। फिर क्रियार्थ मात्र होने से किसी वाक्य में प्रामाण्य कैसे आ सकेगा? प्रकृत-सूत्र में क्रियार्थ होने से ही विधि-निषेधात्मक आम्नाय का प्रामाण्य महर्षि जैमिनि ने माना है। ऐसी स्थिति में यहां यह नहीं कहा जा सकता कि क्रिया से व्यापारमात्र और अर्थ से वाच्यार्थ-मात्र ही विवक्षित है। अन्यथा 'क्रियार्थत्वात्' इस हेतु की व्यर्थता स्पष्ट ही है।

इसके अतिरिक्त इसी सूत्र में 'अतदर्थानाम्' आदि कहकर अतदर्थ अर्थात् अक्रियार्थक वाक्यों का अप्रामाण्य कहा गया है। जब अक्रियार्थक लौकिक या वैदिक कोई भी वाक्य सम्भव ही नहीं, तब इस सूत्र में किन वाक्यों को अतदर्थक कहकर अप्रमाण सिद्ध किया गया है? यह तो कहा नहीं जा सकता कि 'मन्त्र एवं अर्थवादभाग का अतदर्थक (अक्रियार्थक) अर्थात् व्यापारमात्र-विरहित मानकर अप्रामाण्य सिद्ध किया गया है, क्योंकि इन सभीमें व्यापार-बोधक 'ददाति' आदि सहस्रों शब्द उपलब्ध हैं ही। जहाँ कहीं किसी विशेष क्रिया का अभाव होता है, वहाँ अप्रयुज्यमान होने पर भी 'अस्ति, भवति' आदि सामान्य क्रियाओं का अध्याहार कर लिया जाता है। कारण, "सर्वं हि वाक्यं क्रियायां परिसमाप्यते" इस सर्ववादिसिद्ध न्याय के अनुसार जहाँ-जहाँ वाक्यत्व है, वहाँ-वहाँ किसी न किसी क्रिया का रहना आव-श्यक होता है। अर्थात् शङ्काकर्ता को जिस ढङ्ग का क्रियार्थत्व

Scanned by CamScanner

अभिप्रेत है, वह वाक्यत्व का व्यापक है। अतः इन सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए क्रिया का प्रवृत्ति या निवृत्ति ही अर्थ करना ही उचित है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस सूत्र से 'अक्रियार्थत्व' हेतु द्वारा मन्त्र एवं अर्थवाद में धर्मविषयक प्रामाण्य पर जो आक्षेप किया गया है, वह तभी हो सकता है, जब कि इनमें वेदत्व हो। अन्यथा लौकिक वाक्यों के समान ही मन्त्रभाग एवं अर्थवादभाग में धर्मविषयक प्रामाण्य की प्रसक्ति है ही नहीं। फिर उसके निरास के लिए इस सूत्र का आरम्भ करना ही अनर्थक होगा। जैसे मन्त्र एवं अर्थवाद में अक्रियार्थता तुल्य है, वैसे ही आम्नायत्व भी तुल्य ही कहना पड़ेगा।

इसका तात्पर्य यह है कि अर्थवादभाग ब्राह्मणभाग के ही अन्तर्गत आता है। यदि ब्राह्मणभाग में वेदत्व नहीं, तो धर्म के विषय में उसका प्रमाण होना सर्वथा असम्भव ही है। उसीके अन्तर्गत अर्थवादभाग भी आता है। ऐसी स्थिति में जब ब्राह्मणभाग की तरह अर्थवाद-भाग वेद ही नहीं तथा वेद न होने से धर्म के विषय में प्रमाण भी नहीं, तब 'अर्थवाद धर्म में प्रमाण नहीं है' इस आशय का आक्षेप करना सर्वथा व्यर्थ ही है। अतः यह मानना पड़ेगा कि जैमिनि की दृष्टि में भी ब्राह्मणभाग का वेदत्व एवं धर्म के विषय में प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है। इसीलिए उसके अन्तर्गत अर्थवादभाग में स्वतःसिद्ध धर्मविषयक प्रामाण्य पर जैमिनि ने यह आक्षेप किया है।

Scanned by CamScanner

"तदर्थशास्त्रात्"—यह ३१ वाँ जैमिनिसूत्र भी ब्राह्मण-भाग के वेदत्व में प्रमाण है। मन्त्राधिकरण का यह पहला पूर्वपक्ष-सूत्र है। इसका सार यह है कि 'उरू प्रथस्व' आदि मन्त्रों को पढ़कर पुरोडाश का प्रसारण आदि जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनका विधान ब्राह्मण-वाक्य से ही होता है। इसलिए मन्त्र न तो विधायक हैं और न उनका अपने अर्थ में तात्पर्य ही है। अर्थात् जैसे नीली-रोग से ग्रस्त पुरुष की आँखों को देखकर लोग समझते हैं कि 'यह व्यक्ति देखता है,' पर जब दूसरे मनुष्य की अंगुली पकड़कर उसे चलते हुए यह देख निश्चय करते हैं कि 'उसमें दर्शन-क्षमता नहीं है', वैसे ही "उरु प्रथस्व" (हे पुरोडाश ! जिस प्रकार विपुलता हो सके, उस प्रकार प्रसारण करो) इत्यादि मन्त्रों का स्वरूप देखने से ज्ञात होता है कि यह किसी क्रिया में पुरुष को नियुक्त करता है, पर जब "उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" ('उरु प्रथस्व' इस मन्त्र से पुरोडाश का प्रथन करे) इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों द्वारा पुरोडाश के प्रसारण आदि कार्यों में उन मन्त्रों को नियुक्त होते देखते हैं, तो यह सुस्पष्ट निश्चय हो जाता है कि मन्त्रों में नियुक्त करने की शक्ति नहीं है। क्योंकि जब स्वयं ही वे क्रियाओं में ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा नियुक्त हो रहे हैं, तो दूसरों को क्या नियुक्त कर सकेंगे ? यदि वे स्वयं ही अपने आप को नियुक्त करें, तब तो नियुक्त करनेवाले ब्राह्मणवाक्य ही व्यर्थ हो जायँगे। इसीलिए मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं होता, बल्कि वे ब्राह्मण-वाक्यों से नियुक्त होकर अपने पाठमात्र द्वारा याग के उपकारक होते हैं।

Scanned by CamScanner

सूत्र का स्पष्ट अर्थ यह है—"तदर्थशास्त्रात् मन्त्रानर्थक्यम्" अर्थात् मन्त्र अर्थप्रकाशनस्वरूप दृष्ट प्रयोजन से रहित हैं, क्योंकि जिस मन्त्र के द्वारा जिस अर्थ का प्रकाशन होता है, ठीक उसी अर्थ में उस मन्त्र का विधान करनेवाला दूसरा शास्त्र (ब्राह्मणवाक्य) उपलब्ध है ।

यहाँ 'शास्त्र' पद से ब्राह्मणवाक्य ही गृहीत हैं। यह 'शास्त्र' पद वेदपरक ही है, न कि पौरुषेय वाक्यपरक। कारण पौरुषेय वाक्य द्वारा वेद का आनर्थक्य प्रतिपादन करना अत्यन्त ही अनुचित होगा। 'उरु प्रथस्व' इत्यादि मन्त्र में पुरोडाश-प्रथनादिकी साधनता शब्दातिरिक्त किसी भी प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकती। इसी तरह प्रमाणान्तरागृहीत अर्थ में पौरुषेय वाक्यों का प्रामाण्य भी कहीं नहीं देखा गया है। सर्वत्र पौरुषेय वाक्य प्रमाणन्तर-संवादोपजीवी ही होते हैं। यदि "उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" आदि ब्राह्मणभाग वेद नहीं, तो उनमें पौरुषेयतापत्ति ही होगी और उनके अर्थ में प्रमाणान्तर-संवाद सम्भव न होने से उक्त ब्राह्मणभाग का अप्रामाण्य ही होगा। जब वे प्रमाण ही नहीं, तो उन्हें शास्त्र भी कैसे कहा जा सकेगा ? लोक में भी जब अप्रामाणिक, वञ्चक-वाक्यों से प्रामाणिक वचनों की अनर्थकता सिद्ध नहीं की जाती, तो शास्त्रों में अप्रामाणिक ब्राह्मणवाक्य से वेदरूप में इष्ट मन्त्रों की अनर्थकता (स्वार्थतात्पर्य शून्यता) कैसे सिद्ध की जा सकती है ?

कहा जा सकता है कि 'जैसे वेदमूलक होने से मन्वादि स्मृतियाँ प्रमाण हैं, वैसे ही वेदरूप मन्त्रमूलक होने से

Scanned by CamScanner

ब्राह्मणवाक्य भी प्रमाण हैं ही। अतः ब्राह्मणवाक्यों द्वारा मन्त्रों का तत्तत् कार्य में विनियोग हो सकता है और उन ब्राह्मण-वाक्यों के बल पर मन्त्रों के आनर्थक्य की शङ्का भी हो सकती है।' किन्तु यह सर्वथा असंगत ही है, क्योंकि जैसे सर्वथा पौरुषेय स्मृति के बल पर मन्त्ररूप वेद की अनर्थकता कहीं देखी नहीं गयी है, वैसे ही यदि ब्राह्मणवाक्य भी पौरुषेय हैं, तो उनके द्वारा मन्त्र की अनर्थकता नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त वे ही मन्त्र ब्राह्मणभाग के मूल हो सकते हैं, जो तत्पर (स्वार्थ में तात्पर्यवाले) हों। जिन मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य ही नहीं—जो सर्वथा अनर्थक हैं, वे किसी ब्राह्मणभाग के मूल कैसे हो सकते हैं? जो मन्त्र ब्राह्मणभाग के मूल होंगे, वे अतत्पर (स्वार्थ में तात्पर्यरहित) कैसे हो सकते हैं? साथ ही जिन मन्त्रों के बल पर जिस ब्राह्मणभाग की वेदमूलकता तथा प्रामाणिकता सिद्ध होती है, उन्हीं मन्त्रों का उसी ब्राह्मणभाग के द्वारा आनर्थक्य प्रतिपादन कहाँतक सम्भव होगा, यह भी विचारणीय है। अतः इस तरह के युक्त्याभासों को दृष्टि में रखने पर सूत्र सर्वथा असंगत ही होगा।

इसके विपरीत सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्राह्मणभाग जब वेदरूप में मान्य है, तब उसका स्वतन्त्र प्रामाण्य है। वह स्वतन्त्र प्रमाण तथा विनियोजक होते हुए स्वार्थ में तात्पर्यवाला होने से 'तत्पर' भी है। उसके द्वारा जैसे यव, व्रीहि आदि द्रव्य विनियोज्य होते हैं, वैसे ही मन्त्ररूप द्रव्य भी विनियोज्य होते ही हैं। विनियोज्य होने से यदि शब्दों का स्वार्थ में तात्पर्य न हो, तो

भी कोई अनुपपत्ति नहीं। अतः मन्त्रों में स्वार्थपरता की कल्पना व्यर्थ है। इस तरह "तदर्थशास्त्रात्" यह सूत्र सहज ही सार्थक हो जाता है।

एतावता श्रीदयानन्दजी का यह कहना सर्वथा असंगत सिद्ध हो जाता है कि "ब्राह्मणभाग का वेदतुल्य प्रामाण्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह ईश्वरोक्त नहीं हैं। इतना है कि वेदों के अनुकूल होने से उनका प्रामाण्य हो सकता है।" क्योंकि जैसे "व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा" (व्रीहि से यजन करे अथवा यव से) व्रीहि-यवादि का विनियोजक यह ब्राह्मणवाक्य व्रीहि-यवादि मूलक नहीं हो सकता, वैसे ही मन्त्रों के विनियोजक ब्राह्मण-वाक्य भी मन्त्रमूलक नहीं हो सकते। यदि ब्राह्मणवाक्य पौरुषेय होते, तो उनके बल पर जैमिनि मन्त्रों की अनर्थकता (स्वार्थतात्पर्यशून्यता) कैसे सिद्ध करते ?

"बुद्धशास्त्रात्" (१।२।३३)—यह जैमिनीय सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण है। सूत्रार्थ यह है कि कर्मानुष्ठान के पहले अध्ययन-काल में ही "अग्नीदग्नीन् विहरेत्" (अग्नीध्र ऋत्विक् अग्नि का विहरण करे) इत्यादि ब्राह्मण-वाक्यों से ऋत्विक् लोग अपने कर्तव्य को जान ही लेते हैं, फिर 'अग्नीदग्नीन् विहर', 'बर्हिस्तृणीहि' इत्यादि मन्त्ररूप शास्त्रों से ज्ञात का ज्ञान कराना व्यर्थ ही है। अतः मन्त्र केवल पाठ द्वारा ही यज्ञ के उपकारक हैं, उनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता।

यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि 'मन्त्रों द्वारा यज्ञानुष्ठान-काल में तत्तत् कर्तव्य का स्मरण कराया जाता है', क्योंकि

Scanned by CamScanner

तत्तद् ब्राह्मणवाक्यों के अभ्यास से ही कर्तव्यों का स्मरण हो ही जाता है। इस तरह मन्त्रों को कर्तव्य का स्मारक मानना भी व्यर्थ ही है। यदि यह कहा जाय कि 'ब्राह्मणवाक्यों के अभ्यास से उत्पन्न संस्कारों को उद्बुद्ध कराना ही मन्त्रों का कार्य है', तो वह भी उचित नहीं। क्योंकि यज्ञानुष्ठान का अवसर ही उन संस्कारों का उद्बोधक हो सकता है, तदर्थ मन्त्रप्रयोग व्यर्थ ही है।

इस सूत्र द्वारा भी ब्राह्मणवाक्यों का आश्रयणकर मन्त्रों की अनर्थकता कही गयी है। जैसे 'बुद्धशास्त्रात्' सूत्र में जैमिनि ने मन्त्रों के लिए 'शास्त्र' पद का प्रयोग किया है, वैसे ही 'तदर्थशास्त्रात्' इस सूत्र में भी ब्राह्मणभाग के वाक्य के लिए 'शास्त्र' पद का प्रयोग किया गया है। एतावता यह सिद्ध होता है कि जैमिनि मन्त्र, ब्राह्मण दोनों को ही अपौरुषेय वेदरूप शास्त्र मानते हैं। यदि ब्राह्मणभागसम्बन्धी प्रेषवाक्य पौरुषेय होते, तो जिस प्रकार मन्त्रादिवाक्यों के बल पर अपौरुषेय वेद के आनर्थक्य की शंका नहीं उठायी जा सकती, उसी प्रकार ब्राह्मणवाक्यों के बल पर भी मन्त्रों के आनर्थक्य की शंका नहीं उठायी जा सकती थी।

"स्वाध्यायवदवचनात्" (१।२।३७)—यह जैमिनीय सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है। इसका अक्षरार्थ यह है कि जैसे "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (वेद का अध्ययन करे) इस ब्राह्मणवाक्य से वेदाक्षर के अध्ययन का विधान है, वैसे ही किसी ब्राह्मणवाक्य से 'मन्त्रों से अर्थ का स्मरण करना चाहिए' ऐसा

Scanned by CamScanner

बिधान न होने से मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य न होना स्वतः-सिद्ध है। अतः मन्त्रों का पाठ ही यज्ञोपयोगी है, अर्थ नहीं।

यहाँ विचारणीय यह है कि 'मन्त्रैरर्थः स्मर्तव्यः' (मन्त्रों से अर्थ का स्मरण करना चाहिए) इत्याकारक ब्राह्मणवाक्य न होने से ही महर्षि ने मन्त्रों में स्वार्थतात्पर्यशून्यता की शंका उठायी है। यदि इस ढङ्ग का कोई ब्राह्मणवाक्य होता, तो अवश्य ही मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य माना जाता। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि यदि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह ब्राह्मणवाक्य न होता, तो वेदाध्ययन का कोई फल भी सिद्ध न होता। फिर तो सुतरां निरर्थक मन्त्रभाग के अध्ययन में किसी की प्रवृत्ति भी कैसे होती। अर्थात् मन्त्रभाग के अध्ययन में प्रवृत्ति एकमात्र ब्राह्मणभाग के बल पर ही होती है।

यद्यपि मन्त्रों के स्वरूप का विचार करने पर उनमें स्वार्थस्मारकता प्रतीत होती है, तथापि ब्राह्मणभाग के वचन का अनुग्रह न होने से ही जैमिनि उसका अपलाप करते हैं। उसीसे विधिवचन का माहात्म्य स्पष्ट है। यदि विधिवचन होता, तो इतर विधिवचनों के समान ही वह भी ब्राह्मणभाग में ही होता। इसके अतिरिक्त यदि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि के द्वारा सफल स्वाध्यायाध्ययन का विधान न होता, तो अपौरुषेय-रूप में मान्य मन्त्रभाग के भी निष्फल अध्ययन में किसी भी समझदार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी। अर्थात् स्पष्ट है कि मन्त्रभाग सर्वदा ही अपनी सार्थकता के लिए स्वविनियोजक ब्राह्मणभाग की अपेक्षा अवश्य रखता है। ऐसी स्थिति में यह सुतरां

Scanned by CamScanner

सिद्ध है कि ब्राह्मणभाग द्वारा विनियोज्य मन्त्रभाग में जब वेदत्व निश्चित रूप से है, तब व्रीहि, यव आदि के समान मन्त्र-भाग के यज्ञों में विनियोजक ब्राह्मणभाग के वेदत्व में किसी भी प्रकार का संशय उठना सर्वथा असम्भव है। यदि ब्राह्मणभाग अवेद एवं सादि हो, तो उसके द्वारा अनादि तथा वेदरूप में सर्वथा मान्य मन्त्रभाग का विनियोजन कैसे सम्भव है? लोक में उत्तम ही हीन के विनियोजक होते हैं, हीन उत्तम के विनियोजक नहीं।

इसी तरह "शेषे ब्राह्मणशब्दः" (२।१।३३)—इस जैमिनीय सूत्र के आरम्भ से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद की मन्त्र और ब्राह्मणरूप दो राशियाँ हैं। यहाँ आर्यसमाजी 'शेष' का 'अंग' अर्थ करते हैं। पर जैसे 'शेषे यजुःशब्दः' इस जैमिनीय सूत्र में 'शेष' शब्द का 'अवशेष' ही अर्थ है, वैसे ही यहाँ भी 'शेष' का अवशेष ही अर्थ समझना चाहिए।

इसी सूत्र पर यह शाबरभाष्य भी है—"अथ किं लक्षणं ब्राह्मणम्? मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः, तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेष-सिद्धत्वाद् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्। मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिम्। यस्यै-तल्लक्षणं न भवति तद् ब्राह्मणम् इति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम्।" जिन शबरस्वामी का भाष्यकार आद्यशंकराचार्य 'शास्त्रतात्पर्यवित्' कहकर स्मरण करते हैं, वे ही उपर्युक्त वचनों द्वारा स्पष्ट कहते हैं कि मन्त्र और ब्राह्मण वेद हैं। उपर्युक्त शाबरभाष्य का अर्थ यह है कि मन्त्र का लक्षण कह देने पर ब्राह्मण का लक्षण परिशेषात् सिद्ध है। जिसमें मन्त्रका लक्षण न घटे, वही ब्राह्मण है। कहा जा सकता है कि 'उक्त सूत्र के बिना भी ब्राह्मण का लक्षण परि-

Scanned by CamScanner

शेष-न्याय से सिद्ध हो जाता।' पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वसाधारण को यह निश्चय नहीं हो सकता कि वेद के मन्त्र और ब्राह्मण दो ही भाग होते हैं, तीसरा नहीं। अतः 'वेद के दो ही भाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण' यह निश्चय कराने के लिए ही उक्त सूत्र सार्थक है।

"धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः" (३।३।४)—यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण है। पिछले प्रसङ्ग में सूत्रार्थ कहा जा चुका है। यहाँ विशेष बात यह है कि इस सूत्र में साम-मन्त्रों को जैमिनि ने 'द्रव्य' कहा है। नैयायिक लोग शब्द को 'आकाश का गुण' मानते हैं, उसका निराकरणकर यहाँ शब्द को द्रव्य माना गया है। अर्थात् यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मन्त्र भी शब्द होने से द्रव्य ही हैं और व्रीहि, यव आदि द्रव्यों के समान वे भी द्रव्यस्वरूपेण ब्राह्मणभाग की आज्ञा से ही यज्ञों में अङ्गरूप से विनियुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी स्वभावतः प्रतीत होता है कि जैसे ब्राह्मणभाग द्वारा तत्-तत् यज्ञों में विनियुक्त होने से ही व्रीहि, यव आदि द्रव्यों में अलौकिक स्वर्ग आदि की साधनता सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं, वैसे ही मन्त्रों में भी अलौकिक स्वर्गादि-साधनता तभी सिद्ध होती है, जब कि वे ब्राह्मणभाग द्वारा तत्तत् यज्ञों में विनियुक्त हों। इसीलिए "विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्" इस जैमिनीय सूत्र पर वार्तिककार ने यह श्लोक उद्धृत किया है—

"यस्माद् व्रीह्यादिवन्मन्त्राः करणत्वेन कर्मणाम्।
ब्राह्मणेन नियुज्यन्ते तस्मात्ते न विधायकाः॥"

Scanned by CamScanner

श्लोक का सार यह है कि किसी कर्म के विधान करने की शक्ति मन्त्रों में नहीं होती, क्योंकि व्रीहि, यव आदि द्रव्यों के तुल्य मन्त्र भी ब्राह्मणभाग की आज्ञा से ही कारण रूप में विनियुक्त होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि ब्राह्मणभाग वेद न होता, तो मन्त्रभाग भले ही अपौरुषेय हों, पर उनकी धर्ममूलकता तो नष्ट ही हो जाती। कारण एकमात्र ब्राह्मणभाग से ही यह ज्ञात होता है कि 'मन्त्र यज्ञों में उपयोगी हैं।' जैसे अपने को स्वर्गादि का साधन बनाने के लिए व्रीहि, यव आदि ब्राह्मणभाग की अपेक्षा रखते हैं, वैसे ही मन्त्र भी अपने में स्वर्गादिसाधनता सिद्ध करने के लिए एकमात्र ब्राह्मणभाग की ही अपेक्षा रखते हैं। इस तरह मन्त्रभाग से भी अधिक ब्राह्मण का महत्त्व स्पष्ट हो जाने से यह सुतरां सिद्ध है कि मन्त्रों को वेद मानकर ब्राह्मणभाग को वेद न मानना स्वर्णमुद्रा ग्रहणकर चिन्तामणि को समुद्र में फेंक देने के समान ही है।

ब्राह्मणभाग के वेदत्व में "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (१।१।२) यह जैमिनीय सूत्र भी प्रमाण है। इस सूत्र से धर्म का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि 'धर्म में विधिवाक्य ही प्रमाण होते हैं।' 'प्रवर्तक वेदवाक्यों से ही जिसका बोध होता हो और जो बलवान् अनिष्ट का साधन न हो, वही धर्म है।' मन्त्र से पुरुष-प्रवृत्ति नहीं होती। सूत्रस्थ 'चोदना' शब्द का 'वैदिक विधिवाक्य' ही अर्थ है, क्योंकि वही यज्ञादि वैदिक कर्मों में पुरुष की चोदना (प्रवृत्ति) कराता है। विधिवाक्य ब्राह्मणभाग में ही होता है। यदि

Scanned by CamScanner

श्री दयानन्दजी के मतानुसार ब्राह्मणभाग वेद नहीं, केवल मन्त्र भाग ही वेद हो, तब तो धर्म वेदवेद्य न हो सकेगा। कारण वेदरूप में इष्ट मन्त्रभाग विधिवाक्य से विरहित होने के कारण धर्मप्रमापक हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में 'धर्म वेदैक-समधिगम्य है' यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

यहाँ यह कहा जाता है कि "स्वर्गादिरूप कार्य का साधन यागादि ही 'धर्म' कहा जाता है। यागादि तभी स्वर्गादि के साधन होते हैं, जब उनकी भावना (अनुष्ठान) किया जाय। भावना का बोध सभी अख्यातों (क्रियाशब्दों) से होता है। आख्यात सभी वाक्यों में होते ही हैं, क्योंकि बिना आख्यात के कोई भी वाक्य अधूरा ही रहता है। इस तरह जब विधि (प्रेरणा) के बिना भी 'याग से स्वर्ग होता है' इत्यादि आख्यातयुक्त वाक्यों से याग के स्वर्ग-साधन होने का बोध हो सकता है, तब उसके बोध के लिए विधि की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। आख्यात तो मन्त्रों में भी होते ही हैं, अतः मन्त्रों से भी याग की स्वर्गसाधनता विदित हो ही सकती है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणभाग को वेद माने बिना भी धर्म में वेदैकवेद्यता स्वतः-सिद्ध है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पुरुषप्रवृत्ति के लिए विधि अवश्य अपेक्षित है। कारण, विचार किया जाय तो विधि भी पुरुष को बलात् प्रवृत्त नहीं करती, अपितु यज्ञादि में श्रेयः-साधनता का ही बोध कराती है। श्रेयःसाधनता के ज्ञान से पुरुष को इच्छा होती है और उसीसे वह प्रवृत्त होता है। श्रेयःसाधनता का यह ज्ञान जैसे विधि से होता है, वैसे ही अन्य आख्यातों

Scanned by CamScanner

से भी। ऐसी स्थिति में विधि के बिना भी आख्यात (क्रिया)-युक्त मन्त्र-वाक्यों द्वारा स्वर्ग एवं यज्ञ का साध्य-साधनभाव ज्ञात हो ही सकता है।"

परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में यदि विधि न हो, तब तो इन वाक्यों का अर्थ होगा—'स्वर्ग की अभिलाषा रखनेवाला याग करता है', आदि। फिर 'करता है' इत्यादि अनुष्ठानरूप भावना का साध्य स्वर्ग आदि न होकर याग ही होगा। याग बहुवित्तव्यय एवं कठिन परिश्रम-साध्य होने से दुःखमय है। दुःखमय कार्यों में प्राणियों की स्वतः प्रवृत्ति नहीं होती। अतः उसमें पुरुष की स्वतःप्रवृत्ति न होने से वाक्य व्यर्थ हो जायगा। इस तरह जब भावना के भाव्य (साध्य), करण (साधन) और इतिकर्तव्यता इन तीन अंशों का विशेषरूप से प्रतिपादन करनेवाले पदों से परिपूर्ण ब्राह्मणभागों में भी विधि के बिना धर्मप्रमापकता असम्भव है, तो फिर भावना के अंशत्रयोपस्थापक पदों से रहित मन्त्रों से विधि के बिना धर्म-प्रमापकत्व की आशा षण्ढ पुरुष से पुत्रोत्पत्ति की आशा की तरह सर्वथा दुराशा ही है।

'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में विद्यमान लकार का आख्यात अर्थ है। आख्यात का अर्थ भावना (अनुष्ठान) होता है। उसमें भाव्य (साध्य), करण (साधन) और इतिकर्तव्यता इन तीन अंशों की आकाङ्क्षा होती है—'किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत्।' अर्थात् किस साध्य की, किस साधन से, किस प्रकार भावना (अनुष्ठान) की जाय। इनमें साध्याकाङ्क्षा की पूर्ति सन्नि-

Scanned by CamScanner

कृष्ट होने के कारण समानपद (एकपद) से बोध्य याग से ही होगी, स्वर्गादि के द्वारा नहीं। कारण एक तो वह आख्यात की प्रकृति 'यजि' से पीछे 'स्वर्गकामः' इस भिन्नपद से बोध्य है और दूसरे स्वयं प्रधान न होकर कामना का विशेषण होने से अप्रधान है। प्रधान का प्रधान से ही अन्वय होने का नियम सर्ववादि-सिद्ध है। अतः उसका आख्यात के साथ कथमपि अन्वय नहीं हो सकता। प्रत्युत समानपदोपात्त होने से आख्यात ही स्वप्रकृति याग से अन्वित होगा। याग स्वभावतः कष्टरूप होने से स्वतः पुरुषार्थ नहीं है, यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है। पुरुषार्थ-साधनभूत भावनाओं में ही पुरुष की प्रवृत्ति हुआ करती है। यदि 'यह कर्म पुरुषार्थ का साधन है' ऐसा ज्ञान कराया जाय, तो स्वतः अप्रवर्तमान पुरुष भी उस कर्म में प्रवृत्त किये जा सकते हैं।

जिस अर्थभावना का कोई अभीष्ट पुरुषार्थ साध्य नहीं होता, पुरुष-प्रवृत्ति में पर्यवसित वह अर्थभावना भले ही विधिभिन्न, विधिसदृश प्रतीत होनेवाले आख्यातान्तरयुक्त वाक्यों से अनेकशः बोधित हो, पर उसमें पुरुषप्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसीलिए ऐसे वाक्यों की व्यर्थता स्पष्ट हो जाती है। किन्तु विधि के रहने पर तो उसके द्वारा उपस्थापित प्रवर्तनारूप शाब्दी-भावना समानप्रत्ययोपात्त होने धात्वर्थ याग की अपेक्षा भी अन्तरङ्ग होती है।

याग तो आख्यात के समान पद से उपात्त है, पर शाब्दी-भावना समान-प्रत्यय से उपात्त है। क्योंकि 'यजेत्' इस

Scanned by CamScanner

पद के प्रत्ययांश में आख्यातत्व और लिङ्त्व दोनों ही हैं। आख्यातत्व दशलकार साधारण होता है, और लिङ्त्व लिङ्मात्र में रहता है। इस शाब्दी-भावना में भी साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता की आकांक्षाएँ होती हैं। साध्याकाङ्क्षा की पूर्ति पुरुषप्रवृत्तिरूपा आर्थीभावना से होती है। वह आर्थीभावना अपुरुषार्थ होने से सन्निकृष्ट भी याग को छोड़कर विप्रकृष्ट एवं कामना के विशेषणरूप से उपस्थित भी स्वर्ग को ही स्वविषयक शाब्दीभावना के बल पर पुरुषार्थ निश्चितकर साध्याकांक्षा के पूरकरूप में धात्वर्थ याग को साधनरूप में ग्रहण करती है। ऐसा होने पर ही 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' (याग से स्वर्ग की भावना करे) यह अर्थ सम्पन्न होता है उसके परिणामस्वरूप याग में पुरुष की प्रवृत्ति होती है। अतः पुरुषप्रवृत्ति के लिए विधि अत्यन्त आवश्यक है। विधि के रहने पर ही यागादि में श्रेयःसाधनतारूप धर्मता सिद्ध होती है। इस रीति से विधियों की धर्म में प्रमाणता बनती है।

यही बात "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" (१।१।५) इस जैमिनि सूत्र के वार्तिक में भट्टपाद ने कही है—

"विधावनाश्रिते साध्यः पुरुषार्थो न लभ्यते।
श्रुतस्वर्गादिबाधेन धात्वर्थः साध्यतां व्रजेत् ॥१४॥
विधौ तु तमतिक्रम्य स्वर्गादेः साध्यतेष्यते।
तत्साधनस्य धर्मत्वमेवं सति च लभ्यते ॥"१५॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि विधिका आश्रयण न करने पर कोई पुरुषार्थ साध्यरूप से उपलब्ध नहीं होता। बहिरङ्ग एवं

Scanned by CamScanner

अप्रधान होने से श्रुत स्वर्गादि को बाधकर अन्तरङ्ग एवं प्रधान होने के कारण धात्वर्थ यागादि ही साध्यरूप से उपस्थित होता है। अपुरुषार्थ होने से उसमें पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जब विधि का आश्रयण कर लिया जाता है, तब प्रवर्तना-रूप शाब्दी-भावना के बल से अपुरुषार्थरूप याग का अतिक्रमण-कर पुरुषार्थभूत स्वर्गादि को ही आर्थीभावना अपना साध्य बनाती है और याग उसका साधन बन जाता है। ऐसा होने पर ही स्वर्गसाधन यागादि में धर्मता और पुरुषप्रवृत्ति बन सकती है।

इसी तरह "विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्" २।१।३०) "अपि वा प्रयोगासामर्थ्यात् मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्" (२।१।३१) ये दोनों जैमिनि-सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व में स्फुटतर प्रमाण हैं। सूत्रार्थ निम्नलिखित है--

इन सूत्रों में पहले सूत्र में पूर्वपक्ष कहा गया है। पूर्वपक्ष यह है कि "देवांश्च याभिर्यजते ददाति च" इत्यादि मन्त्रवाक्य भी विधिवाक्यों के समान कर्मों का विधान करते हैं, क्योंकि जैसे विधिवाक्यों में 'यजेत्' आदि क्रियाशब्द रहते हैं, वैसे ही मन्त्रों में भी 'यजति', 'ददाति' आदि क्रियाशब्द रहते ही हैं। इन मन्त्रस्थ क्रियाशब्दों का 'देता है' इत्यादि ढङ्ग का अर्थ न होकर 'दे' इसी प्रकार का अर्थ होता है। जैसे 'समिधो यजति' इत्यादि ब्राह्मणभागस्थ वाक्यों में लिङ् का प्रयोग न होने पर भी 'समिद्याग करे' यही अर्थ होता है, वैसे ही 'ददाति' आदि मन्त्रस्थ क्रियाओं में लिङ् न होने पर भी 'दे' ऐसा अर्थ हो

Scanned by CamScanner

सकता है। इस तरह विधि (ब्राह्मण) और मन्त्र में विद्यमान आख्यातपदों में समान-जातीयता अर्थात् ऐकशब्द्य स्पष्ट होने से दोनों समानार्थक हैं। फलतः विधि के तुल्य मन्त्र भी कर्मों के विधायक होते ही हैं।"

दूसरे सूत्र से यह सिद्धान्त पक्ष कहा गया है कि "मन्त्र' अर्थात् मन्त्रस्थ 'आख्यात'पद अभिधानवाची है। अर्थात् प्रयोगानुष्ठानकाल में अर्थप्रकाशनमात्र करता है, कर्म का विधान नहीं।" निष्कर्ष यह है कि ब्राह्मणस्थ विधिवाक्यों की इसलिए विधायकता है कि वे कुछ कर्मों का अनुवाद करके किसी वाक्य द्वारा विनियुज्यमान नहीं होते। मन्त्र तो ब्राह्मणवाक्यों द्वारा विहित तत्तत् कर्मों का अनुवाद करके तत् कर्मस्मारक-रूप से विनियुक्त होते हैं। जैसे—"इषे त्वेति शाखां छिनत्ति" इस ब्राह्मणवाक्य द्वारा विहित शाखाछेदनरूप कर्म का अनुवाद-कर तत्स्मारकरूप से 'इषे त्वा' इस मन्त्र का शाखाछेदन में विनियोग होता है। अतः मन्त्र विधायक नहीं होते।

इसके अतिरिक्त 'यत्' शब्द, संबोधन, विभक्ति, उत्तम पुरुष, 'यदि' आदि शब्द विधिशक्ति के विघातक होते हैं और ये सभी शब्द प्रायः मन्त्रों में ही उपलब्ध होते हैं, ब्राह्मणों में नहीं। जैसे—

"न ता न शन्ति न दमाति तस्करो नात्माममित्रो व्यथिर आदधर्षति।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥"

(जिन गायों से याग करता है, जिन गायों को देता है; वे गायें नष्ट नहीं होतीं, न उनको चोर चुराता है। न उनके अङ्गों में शत्रुकृत अथवा व्याधिकृत पीडा होती है। साथ ही उन गायों

Scanned by CamScanner

का स्वामी उनके साथ चिरकाल तक संयुक्त रहता है) इस मन्त्र में 'याभिः' में यत् शब्द है, अतः यह विधायक नहीं माना जाता। यत् शब्द के रहने से गोयाग एवं गोदान पूर्व से ही सिद्ध हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है और विधान पूर्व से सिद्ध का न होकर असिद्ध का ही होता है।

इसी तरह "अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय" इत्यादि मन्त्रों में 'अहे' यह संबोधन विभक्ति है। 'हे अहिंसक! आदिसृष्टि में उत्पन्न चतुर्थ अण्डे! तू मेरे मन्त्र की रक्षा कर, यह इस मन्त्र का अर्थ है। स्पष्ट है कि यह मन्त्र भी विधायक नहीं हो सकता, क्योंकि संबोधन विभक्ति से प्रतीत होता है कि अग्नि मन्त्र बोलनेवाले के सम्मुख स्थित है, साथ ही उसका कार्य करने के लिए स्वतः प्रवृत्त है। विधि अप्रवृत्त-प्रवर्तक होती है, न कि प्रवृत्त-प्रवर्तक।

"बर्हिर्देवसदनं दामि शुक्रं त्वा शुक्राय।
धाम्ने धाम्ने देवेभ्यो यजुषे यजुषे गृह्णामि॥"

—इस मन्त्र में उत्तम पुरुष का प्रयोग है। अपने में प्रवर्तना बन नहीं सकती। इसलिए यहाँ विधिशक्ति बाधित हो जाती है।

"यदि सोममपहरेयुः" इस मन्त्र में प्राप्तिबोधोपधायक 'यदि' शब्द से अप्राप्तप्रापणात्मिका विधिशक्ति बाधित हो जाती है।

मन्त्रों में अधिकतर ऐसे विधिशक्ति-विघातक शब्दों के रहने से विधायकत्व नहीं होता। अपितु विधिवाक्यविहित तत्तत्

कर्मों का स्मारकत्वरूप अनुवादकत्व की मन्त्रों में रहता है। मन्त्रों द्वारा कराये जानेवाले इस स्मरण की भी पूर्ति अनुष्ठान-कालोद्बुद्ध वेदाभ्यासजन्य संस्कार से ही सम्भव होने से उनकी निरर्थकता प्राप्त होती है। इसी आशङ्का से 'मन्त्रेणैव स्मरणीयम्" (मन्त्र से ही द्रव्य, देवता आदि का स्मरण करना चाहिए) इस ढंग के नियमादृष्ट को अपवादक मानकर मन्त्रों की सार्थकता पूर्वमीमांसा में कही गयी है। अतः मन्त्र लौकिक वाक्यों के तुल्य केवल अभिधायक होते हैं, विधायक नहीं।

'विधिमन्त्रयोः' इस सूत्र में विधि और मन्त्र का तुल्यवत् उपादानकर जिस प्रकार 'सोमेन यजेत' आदि ब्राह्मणभागगत विधिवाक्यों की विधायकता अविप्रतिपन्न है, उसी प्रकार 'देवाश्च याभिर्यजते ददाति च' आदि मन्त्रभागगत वाक्यों में 'यजेत' के समान ही 'यजते' आदि एक ही आख्यातशब्द की प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः मन्त्रों में भी विधायकता अविप्रतिपन्न है, इस बात का द्योतक करने के लिए विधिशब्द का प्रथम उपादान करने से जैसे लोक में इन दोनों की एकमाता है, इस भाव को स्पष्ट करने के लिए समानार्थक एक शब्द का प्रयोग 'अनयोरेकमाता' इस वाक्य में किया गया है, वैसे ही इस सूत्र में 'ऐकशब्द्यात्' यहाँपर भी समानार्थक एक-शब्दका उपादान करते हुए विधिवाक्यगत आख्यातों के समान ही मन्त्रगत आख्यातों का भी शब्दभावनार्थत्व ही मीमांसा-सिद्धान्तसिद्ध पक्ष होना उचित है, ऐसा ध्वनन होता है। अतः स्पष्ट ही पूर्वसूत्र का यह आशय प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-भागगत विधिवाक्य तो विधायक होने से साक्षात् धर्म में

मूल हैं, यह अनादि मीमांसादर्शनके सिद्धान्तसे सिद्ध है ही, इदानीं मन्त्र भी विधिवाक्य-सधर्मा होने से साक्षात् धर्म में मूल माने ही जायँ।

उत्तर सूत्र में विधिवाक्यों से मन्त्रों में वैषम्य दिखलाकर 'अपि वा' इस सूत्र से पक्षान्तर दिखलाते हुए महर्षि जैमिनि ने मन्त्रों में विधायकता का प्रत्याख्यानकर 'लौकिक वाक्यों के समान ही उनमें अविधायकत्वरूप अनुवादकता ही है' इसे सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में मन्त्र लौकिक वाक्यों के समान ही हैं। नियमादृष्ट की कल्पना से ही उनकी सार्थकता उपपादित होती है। स्वयं वे (मन्त्र) अनुवादकमात्र हैं। जैसे व्रीहि, यवादि ब्राह्मणभाग द्वारा यज्ञों में विनियुक्त होते हैं, वैसे ही मन्त्र भी ब्राह्मणभाग द्वारा यज्ञों में विनियुक्त होते हैं। इस तरह अङ्गभूत मन्त्रभाग भी यदि 'वेद' हैं, तो जो ब्राह्मणभाग साक्षात् विधायक, अतएव धर्ममूल है, जो लौकिक वाक्यों से अत्यन्त विलक्षण है, जो प्रमाणान्तरानधिगत अर्थ का बोधक है, जो मन्त्रों का विनियोजक है, जो भाव्य, करण और इतिकर्तव्यतारूप अंशत्रययुक्त आर्थीभावना एवं शाब्दीभावना से युक्त है तथा महाराज के समान प्रधान है, उस ब्राह्मणभाग में वेदत्व है, इसमें कहना ही क्या है? इतना ही नहीं, यह भी कहा जा सकता है कि यदि ब्राह्मणभाग में वेदत्व नहीं, तो 'खपुष्प' की तरह वेदत्व कहीं भी नहीं रहेगा।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित सात जैमिनीय सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण हैं—

Scanned by CamScanner

१. "वेदांश्चैके संनिकर्षं पुरुषाख्याः" (१।१।२७);
२. "अनित्यदर्शनाच्च" (१।१।२८);
३. "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (१।१।३१);
४. "अनित्यसंयोगात्" (१।२। ६);
५. "अन्त्ययोर्यथोक्तम्" (१।२।१८);
६. "अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्" (१।२।३९) और
७. "उक्तश्चानित्यसंयोगः" (१।२।५०)।

इन सूत्रों के यथाक्रम अर्थ निम्न प्रकार से हैं—

"वेदांश्चैके संनिकर्षं पुरुषाख्याः"—नैयायिक लोग वेदों को सन्निकर्ष, अर्थात् सन्निदृष्टकाल (पुरुषरचित आधुनिक ग्रन्थ) कहते हैं; क्योंकि वेद पैप्पलाद, कालाप, काठक, कौथुम आदि आधुनिक पुरुषों के नाम से समाख्यात हैं। (आर्यसमाजी लोग काठक आदि शाखाओं को वेद नहीं मानते, पर यहाँ जैमिनि ने स्पष्ट रूपमें इन शाखाओं को वेद माना है)।

"अनित्यदर्शनाच्च"—'बर्बरः प्रावाहणिरकामयत' (प्रावाहणि के पुत्र बर्बर ने कामना की) आदि वेदवाक्योंमें जनन-प्राणशील पुरुषसे सम्बद्ध भूतकालिक आख्यान का वर्णन है। उससे स्पष्ट विदित होता है कि इस वर्णित आख्यान के समय वेद नहीं थे, बाद में बनाये गये। अर्थात् सन्निदृष्टकाल (पुरुषरचित आधुनिक ग्रन्थ) हैं। अतएव अनित्य हैं।

"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्"—"बर्बरः प्रावाहणिरकामयत" आदि वेदवाक्यों में बर्बर आदि शब्द किसी जातिविशेषवाले पुरुष-विशेष के बोधक नहीं हैं। किन्तु जैसे कादम्बरी आदि लौकिक

Scanned by CamScanner

आख्यायिकाओं में उपदेश-सौकर्य के लिए कल्पित नामों से व्यवहार किया जाता है, वैसे ही इस ढङ्ग के वेदवाक्यों में भी सुखावबोधार्थ बर्बर आदि कल्पित नामों से पुरुषसामान्य का ही अभिधान किया गया है।

अथवा इस सूत्रका यह भी तात्पर्य है—

"धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।"

"यथार्थावृरुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यते ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥"

के अनुसार प्रवाहण, बर्बर आदि प्रतियुग में श्रुत हैं। अतः उनमें अनुगतरूप से रहनेवाला 'प्रवाहणत्व' आदि सामान्य ही वेदवाक्य में श्रुत प्रवाहण आदि पदों से विवक्षित है। 'अकामयत' आदि द्वारा जो प्रस्तुत आख्यान में भूतकालिकता उपलब्ध हो रही है, वह भविष्यकाल में आनेवाले कल्पों की अपेक्षा से है। इस तरह प्रत्येक युग में अनुवृत्त होनेवाले प्रवाहण, बर्बर आदि में प्रवाह-नित्यता होने से यदि वे चन्द्र, सूर्य आदि के समान वैदिक पदों के अर्थ हैं, तो इतने मात्र से वेदों की नित्यता में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती।

"अनित्यसंयोगात्"—अर्थवादाधिकरण में 'अर्थवाद धर्म में प्रमाण हो सकते हैं या नहीं' इसपर विचार के प्रसङ्ग से इस सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि 'बर्बरः प्रावाहणिरकामयता" आदि ढङ्ग के अर्थवाद धर्म में प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि वे जनन-मरणधर्मा, अतएव अनित्य प्रवाहण, उनके अपत्य बर्बर आदि पुरुषों के प्रतिपादक होने से 'सादि' हैं। ऐसी

Scanned by CamScanner

स्थिति में आधुनिक अनित्य अर्थों के प्रतिपादक इस ढङ्ग के अर्थवाद स्वार्थ में तो प्रमाण हो ही नहीं सकते। फिर वे धर्म में प्रमाण हैं या नहीं, यह चर्चा तो दूर का विषय है।

"अन्त्योर्यथोक्तम्"—अर्थवादाधिकरण के उत्तर पक्ष का यह सूत्र है। इस सूत्र द्वारा प्रस्तुत अधिकरण के पूर्वपक्ष में उपन्यस्त "अभागिप्रतिषेधाच्च" (१।२।५), "अनित्यसंयोगात्" (१।२।६) इन दो सूत्रों में उपस्थापित शङ्काओं का पुनः समाधान यथावस्थित रूप में ही किया गया है। इसका तात्पर्य यही है कि 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इस सूत्र द्वारा उक्त समाधान ही 'अनित्यसंयोगात्' इस सूत्र का समाधान है। 'अभागिप्रतिषेधाच्च' इस सूत्र द्वारा जो शंका उठायी थी कि 'न पृथिव्यां नान्तरिक्षे न दिव्यग्निश्चेतव्यः' इस ढंग के अर्थवाद अप्रतिषेध्य के प्रतिषेधक होने से अप्रमाण हैं, क्योंकि पृथ्वी पर चयन का प्रतिषेध इसलिए अप्रतिषेध्य है कि उसीपर वाक्यान्तर से चयन विहित है। आकाश या स्वर्ग में चयन का प्रतिषेध इसलिए अप्रतिषेध्य है कि वहाँ चयन स्वतः प्रसक्त ही नहीं है।' इसका समाधान यह है कि 'रुक्ममुपदधाति' इस वाक्य द्वारा हिरण्य से अन्तर्हित चयनविधि की स्तुति के लिए पृथ्वी पर चयन का प्रतिषेध किया गया है। 'नान्तरिक्षे न दिवि' यह 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' के समान नित्यानुवादमात्र है।

"अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्"—'मन्त्र अविवक्षितार्थ हैं, अतः वे केवल अदृष्ट द्वारा क्रतु के अङ्ग हैं, अथवा अनुष्ठेयार्थ-प्रकाशनरूप दृष्ट द्वारा क्रतु के अंग हैं' ऐसा संशय उठाकर

Scanned by CamScanner

पूर्वपक्ष में इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि 'नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे', 'किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः' इत्यादि मन्त्र यदि विवक्षितार्थ हों, (इनका स्वार्थ में तात्पर्य हो) तो विश्रवण, उनके अपत्य, मगध देश आदि आधुनिक अनित्य पदार्थों के वाचक वैश्रवण, कीकट आदि पदों के रहने से वेद अनित्य हो जायँगे। अतः मन्त्र अविवक्षितार्थ ही हैं, केवल उनके अक्षरमात्र के पाठ से अदृष्ट उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा वे क्रतु के अंग होते हैं।

"उक्तश्चानित्यसंयोगः"—मन्त्राधिकरण के उत्तरपक्ष में उपन्यस्त इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि वेदार्थ की अनित्यता के वारण का उपाय 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इस सूत्र के द्वारा जो कहा गया है, वही यहाँ भी समझना चाहिए।

यहाँ आदिम तीन सूत्रों से मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायात्मक वेद में अनित्यार्थ-प्रतिपादन के कारण प्रसक्त पौरुषेयता का निराकरण ऐसा युक्तियुक्त उत्तर देकर किया गया है कि "यह बोध-सौकर्य के लिए कल्पित अर्थ का प्रतिपादन है, किसी आधुनिक व्यक्तिविशेष का नहीं। अथवा चन्द्र-सूर्य के समान 'प्रवाह- नित्य' अर्थों का प्रतिपादन है।" मध्य के (अर्थवादप्रकरणस्थ) दो सूत्रों से ब्राह्मणभागान्तर्गत अर्थवादों में पूर्व के समान ही प्रसक्त पौरुषेयता का उसी प्रकार प्रत्याख्यान किया गया है। अन्तिम (मन्त्राधिकरणस्थ) दो सूत्रों से मन्त्रों में प्रसक्त पौरुषेयता का निराकरण किया गया है।

अब यहाँ विचारणीय यह है कि यदि केवल मन्त्रभाग ही

Scanned by CamScanner

वेद होता, तब तो मन्त्रों में पौरुषेयत्व की आशङ्का उठाकर उनका यथावत् प्रत्याख्यान करनेवाले सूत्रों की ही रचना उचित थी, न कि वेदरूप में जिनकी मान्यता है ही नहीं, उन पौरुषेय ब्राह्मणभाग के अन्तर्गत अर्थवादों में पौरुषेयत्व की आशंका उठाकर उनका प्रत्याख्यान करनेवाले सूत्रों की।

यदि मन्त्रभाग ही वेद होता, तो मध्य के दो सूत्र सुतरां पुनरुक्तिदोषयुक्त होते, क्योंकि प्रथम के तीन सूत्रों द्वारा वेद में पौरुषेयत्व की शंका उठाकर उसका यथावत् प्रत्याख्यान करते हुए वेदरूप में अभिप्रेत एकमात्र मन्त्रभाग में अपौरुषेयत्व का स्थापन कर ही दिया गया है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि मध्य के दो सूत्रों द्वारा अर्थवादों में अपौरुषेयत्व-स्थापन किया गया है, क्योंकि ब्राह्मणभाग के ही अन्तर्गत अधिकांश उपलब्ध होनेवाले अर्थवादों में वेदत्व न होने से उनमें पौरुषेयत्व इष्ट ही है। इसी प्रकार अन्तिम दो सूत्र भी पुनरुक्तिदोष ग्रस्त होंगे, क्योंकि मन्त्राधिकरण में स्थित इन दो सूत्रों से मन्त्रों में अपौरुषेयत्व-स्थापन की क्या आवश्यकता थी, जब कि प्रथम के तीन सूत्रों से और पुनः 'अर्थवाद' के 'वेद' न मानने के कारण जिनके विषय अर्थवाद नहीं हो सकते, ऐसे मध्य के दो सूत्रों से वेद-रूप में इष्ट एकमात्र मन्त्रों में पहले ही अपौरुषेयत्व-स्थापन कर दिया गया है। यदि ब्राह्मणभाग वेद न हो, तो मध्य के दो सूत्र स्वप्रकरणविरुद्ध भी होंगे, क्योंकि वे अर्थवादाधिकरण में हैं और अर्थवाद प्रायः ब्राह्मणभाग में ही होते हैं।

इसके अतिरिक्त जब कि वेदरूप में इष्ट एकमात्र मन्त्रों में

Scanned by CamScanner

ही उपर्युक्त सूत्रों से अपौरुषेयत्व-स्थापन किया गया है, तब प्रथम सूत्र में वेदपद से और छठे सूत्र में मन्त्रपद से विषम-निर्देश की सार्थकता का उपपादन सर्वथा अशक्य ही हो जायगा।

आर्यसमाजी लोग 'काठक' आदि शाखाओं को वेद नहीं मानते। इतिहास एवं पुरुषसम्बन्ध देखकर ही वे उनमें अवेदता का निर्णय कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' आदि सूत्रों से उपस्थापित पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष आर्यसमाजियों के यहाँ कैसे उपपन्न होंगे? यदि 'पुरुषाख्याः' से पौरुषेयत्व की शङ्का एवं 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' से उसका समाधान मान लिया जाय, तब तो यही समस्त ब्राह्मणभाग की आख्यायिकाओं का भी समाधान हो जायगा। फिर इतिहास-मिश्रण आदि से ब्राह्मणभाग में पौरुषेयता कैसे सिद्ध हो सकती है?

यदि मन्त्र ही वेद होते, तब तो कथञ्चित् मन्त्र में ही प्रथम तीन सूत्रों को योजितकर मन्त्ररूप वेद की अपौरुषेयता सिद्ध हो ही जाती। पुनः अन्तिम दो सूत्रों द्वारा पृथक् रूपसे मन्त्रों की अपौरुषेयता एवं वेदता सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ ही है।

यदि ब्राह्मणभाग वेद न हो, तो तदन्तर्गत अर्थवादादि की भी अवेदता ठहरती। ऐसी स्थिति में मध्य के दो सूत्रों को किसी मन्त्र में योजितकर पूर्व के तीन सूत्रों से सिद्ध अर्थ का ही उनके द्वारा प्रतिपादन करना व्यर्थ ही होता। इसके अतिरिक्त यदि ब्राह्मणभाग वेद न हो, तो मध्य के उक्त दोनों सूत्र अपने प्रकरण में विरुद्ध भी हो जाते, क्योंकि वे अर्थवाद के

Scanned by CamScanner

ही प्रकरण में हैं, अर्थवाद ब्राह्मणभाग के अन्तर्गत होने से ब्राह्मण ही हैं। फिर उनमें अपौरुषेयत्व-साधन की क्या आवश्यकता ? अतः स्पष्ट है कि मन्त्रब्राह्मणसमुदाय को वेद कहा जाता है। मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद की एक राशि हैं। तभी कात्यायन, आपस्तम्ब आदि ने अपने श्रौतसूत्रों में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही वेद कहा है।

केवल "अन्त्ययोर्यथोक्तम्" (१।२।१८) यह पाँचवां जैमिनीय सूत्र भी विशेष रूप से ब्राह्मणभाग की वेदता सिद्ध करता है। इस सूत्र द्वारा "बर्बरः प्रावाहणिरकामयत" इत्यादि अर्थवादों में प्रसञ्जित पौरुषेयत्व के निराकरण के लिए उनमें अनित्य पुरुषादिके संयोग का परिहार किया गया है। यदि ब्राह्मणभाग पौरुषेय होता, तो अर्थवादों की पौरुषेयता इष्ट ही होती। फिर 'अनित्यार्थ-प्रतिपादन नहीं है' ऐसा परिहार करने के लिए महर्षि का प्रयास न केवल व्यर्थ ही, अपितु विरुद्ध भी होता। यदि कहा जाय कि "किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु" आदि मन्त्रों में अनित्य मगध आदि के संयोग से पौरुषेयता प्रसक्त थी, उसीके कारण के लिए महर्षि का यह प्रयास है", तो वह भी ठीक नहीं। कारण, यह सूत्र अर्थवाद-प्रकरण में है। यदि कथञ्चित् यह मान लिया जाय, तब तो छठें एवं सातवें सूत्र से विशेषरूप से मन्त्रों में पौरुषेयत्व की शंका का उठाना तथा उसका परिहार करना सर्वथा व्यर्थ होता।

एतावता श्रीदयानन्दजी का यह कहना सर्वथा असंगत है कि "जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में मनुष्यों के नामोल्लेखपूर्वक लौकिक

Scanned by CamScanner

इतिहास हैं, वैसे मन्त्रभागों में नहीं है।" मन्त्रों में नामोल्लेख का समाधान कल्पित नाम आदि मानकर युक्तियुक्त रूप में हो जाता है, वैसे ही ब्राह्मणभाग के नामोल्लेखों का भी समाधान हो ही सकता है। 'ब्राह्मणभाग में जन्य पुरुषों का इतिहास है' यह कथन इन सूत्रों का अर्थ न समझने पर ही सम्भव है।

"ऊहः" (१ २ ५२) यह जैमिनीय सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण है। यद्यपि वेदों में कहीं भी 'ऊह करना चाहिए' ऐसा नहीं सुना गया है, तथापि "न माता वर्धते न पिता" इससे 'ऊह' का निषेध अवश्य श्रुत है। 'मन्त्र विवक्षितार्थ हैं' इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाण उपस्थित करनेवाले 'ऊहः' इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि कहीं माता, पितामही, प्रपितामही और पिता, पितामह, प्रपितामह इन तीनों को कहना हो, तो "माता मन्यतामनु पिता" इस मन्त्र में 'माता, पिता' पदों का यथाश्रुत एकवचन ही प्रयुक्त करना चाहिए, 'मातरः, 'पितरः' पदों का ऊहकर बहुवचन प्रयोग वहाँ अपेक्षित नहीं है। इस तरह ऊह-प्रतिषेध से निश्चित होता है कि मन्त्रों के अर्थ विवक्षित होते हैं। क्योंकि जब मन्त्र विवक्षित अर्थवाले रहेंगे, तभी प्रकृति-याग से अतिरिक्त विकृति-याग में मन्त्रों द्वारा विवक्षित अष्ट के एक, बहुत या अन्य होने पर तदनुसार 'ऊह' किया जा सकेगा, अन्यथा नहीं।

यहाँ इस सूत्र के द्वारा ऊह का निषेध करने से यह स्पष्ट सूचित होता है कि अन्य मन्त्रों में अर्थ एवं प्रकरण के अनुसार ऊह करना चाहिए, क्योंकि यदि ऊह प्राप्त न होता, तो उसका

Scanned by CamScanner

निषेध क्यों किया जाता, ऊह-निषेध के आधार पर ही 'ऊह' के विधान का निश्चय होने के कारण सूर्यदेवताक याग में सौर्य चरु के निर्वाप के समय जब "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" यह मन्त्र पढ़ा जाता है, तब उसमें से अग्नि शब्द निकालकर उसके स्थान पर सूर्य देवता के योग्य सूर्यशब्द को जोड़कर "सूर्याय जुष्टं निर्वपामि" ऐसा पढ़ा जाता है। प्रकृत प्रसङ्ग के अनुसार विचार किया जाय तो ऊह-निषेध के लिए उदाहरणरूप में प्रस्तुत "न माता वर्धते न पिता" यह ब्राह्मणभाग का वाक्य यदि वेद न हो, तब तो इसकी सूचनामात्र से मन्त्रों में साक्षात् पठित अग्नि आदि वैदिक शब्द कैसे निकाले जाते और उनके स्थान पर लौकिक सूर्य आदि शब्द कैसे जोड़े जा सकते ?

इसी तरह "उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्वं तर्थं स्यात् (१।४।१) नामधेयाधिकरण के पूर्वपक्ष का यह सूत्र भी ब्राह्मण-भाग के वेदत्व में प्रमाण है। इस सूत्र का अर्थ यह है कि यतः प्रथम पाद में विधायक होने से विधिवाक्यों का धर्म में प्रामाण्य कहा गया है, द्वितीय पाद में अर्थवाद वाक्यों का विधिविहित कर्मों के स्तावक होने से धर्म में प्रामाण्य कहा गया है, इसी तरह समाम्नाय वेद का धर्म में उपयोग कह दिया गया है ; अतः समस्त वेद का धर्म में उपयोग है, ऐसा प्रतिपादन कर देने से सभी वैदिक पदों का उक्त विधि, स्तुति या अनुष्ठेयार्थस्मरण में से ही कोई प्रयोजन समझना चाहिए। 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यादि में उद्भिद् ज आदि पद भी इन्हीं उपर्युक्त प्रयोजनों में से ही किसी प्रयोजन के लिए हैं, न कि किसी याग का नामधेय। यहाँ ब्राह्मणभाग

Scanned by CamScanner

के विधि एवं अर्थवाद दोनों ही अंश वेद के अपरपर्याय 'समाम्नाय' पद से कहे गये हैं और 'सर्व'पद से विधिवाक्य-घटक उद्भिद् आदि पदों का व्यवहार करते हुए महर्षि जैमिनि ने विधिवाक्यघटित ब्राह्मणभाग की वेदता स्पष्ट रूप से स्वीकार कर ली है।

"वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्" (३।२।३)—यह जैमिनीय सूत्र भी उक्त अर्थ में प्रमाण है। महाग्निचयन में श्रुत है कि "ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते" (ऐन्द्री ऋक् से गार्हपत्य का उपस्थान करे)। यहाँ यह संशय है कि 'ऐन्द्री ऋचा से इन्द्र का उपस्थान हो या गार्हपत्य अग्नि का ?' मन्त्र में इन्द्र-प्रकाशन का सामर्थ्य है, अतः लिङ्गबलात् इन्द्र का ही उपस्थान होना ठीक है, ऐसा पूर्व पक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्त पक्ष में कहा गया है कि वचनबलात् गार्हपत्य अग्नि का ही उपस्थान उचित है।

कहा जा सकता है कि "कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रसश्चसि दाशुषे। उपेपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते" (तैत्तिरीयसं० १।४।२२) यह 'ऐन्द्री' ऋक् है। इसका अर्थ है (हे इन्द्र, कदाचिदपि न स्तरीरसि = हिंसको न भवसि। किन्तु दाशुषे=हविर्दत्तवते यजमानाय फलप्रदानार्थम्, सश्चसि = गच्छसि, कुत्र, उपोपेन्नु – यजमानस्यात्यन्त समीप एव। हे मघवन्, भूय इन्नु = पुनरेव, देवस्य = तव, दानम् = देयं हविः, पृच्यते=संबद्ध्यते)–अर्थात् हे इन्द्र, आप कभी भी घातक नहीं होते, अपितु हवि देनेवाले यजमान के अत्यन्त समीप में स्वयं ही फल देने के लिए जाते हैं, हे मघवन्! यजमान द्वारा आपको पुनः हवि दी जा रही है। जिस ऋचा के देवता इन्द्र

Scanned by CamScanner

होते हैं, उसे 'ऐन्द्री ऋक्' कहते हैं। इस श्रुति में इन्द्र-प्रकाशन-सामर्थ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। ऐसी स्थिति में 'इन्द्र'-शब्द का मुख्य अर्थ 'इन्द्र देवता' ही मानकर इस ऐन्द्री ऋचा के अनुरोध से 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस ब्राह्मणवाक्य के 'गार्हपत्य' का शब्द का मुख्यार्थ अग्निविशेष न लेकर गौण अर्थ 'इन्द्र' ही लेना चाहिए, क्योंकि इन्द्र के उपस्थान में ही इस ऐन्द्री ऋचा का अर्थ ठीक-ठीक समन्वित होता है। ऐसा पूर्वपक्ष होने पर इस सूत्र से उत्तर पक्ष में कहा गया है कि 'ऐन्द्र्या' इसमें श्रुत तृतीया विभक्ति एवं 'गार्हपत्यम्' इसमें श्रुत द्वितीया विभक्ति से यह सिद्ध होता है कि उपस्थान में 'गार्हपत्य' ही प्रधान है। ऐन्द्री ऋक् तो उपस्थान का अंग है। ऐसी दशा में प्रधान को गौणार्थक मानना अनुपयुक्त होने से 'गार्हपत्य' शब्द का अग्निविशेषरूप मुख्यार्थ ही माना जायगा। 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' (अप्रधान में ही गौणार्थकता होती है) इस सर्वमान्य न्याय के अनुसार जैसे 'सिंहो माणवकः' इस वाक्य में 'सिंह शब्द का मुख्यार्थ पशुविशेष न लेकर प्रधानभूत माणवक में संगत होने-योग्य 'शौर्य-क्रौर्य विशिष्ट' आदि गौण अर्थ ही किया जाता है, वैसे ही 'इन्द्र' शब्द का मुख्यार्थ न लेकर प्रधान गार्हपत्य के मुख्यार्थ अग्निविशेष से 'संगत होने योग्य' परमैश्वर्यविशिष्ट आदि गौण ही अर्थ किया जायगा।

सूत्रार्थ यह है—ऐन्द्री ऋक् ही अयथार्थ होगी अर्थात् इसका मुख्यार्थ बाधित होने से यह ऋचा अपने द्वारा उपस्थापित इन्द्रविषयक मुख्य अर्थ की वाचक न होकर गौण अर्थ की ही

Scanned by CamScanner

वाचक होगी, क्योंकि इस ऋचा का गार्हपत्य के उपस्थान में विनियोग करनेवाला 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' ऐसा स्पष्ट वचन उपलब्ध है। यद्यपि 'रूढियोंगाद् बलीयसी' (रूढ़ि योग से प्रबल होता है) इस न्याय के अनुसार यहाँ इस ऋचा को रूढ़ि से उपस्थित इन्द्ररूप मुख्य अर्थ का ही वाचक मानना चाहिए, तथापि उपर्युक्त विनियोग-वचन में स्पष्ट ही 'उपतिष्ठते' क्रिया से सम्बन्ध करने के लिए अत्यन्त अभिलषित कारक गार्हपत्य को ही मानते हुए 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इस पाणिनीय अनुशासन के अनुसार उसीको उपस्थान के प्रति कर्म की संज्ञा दी गयी है। अतएव 'गार्हपत्यम्' में द्वितीया विभक्ति निर्दिष्ट है। ऐसी स्थिति में इस द्वितीया विभक्ति के बल पर स्पष्ट है कि उक्त न्याय का बाध होगा और उपस्थान के कर्म 'गार्हपत्य' के अनुसार ही रूढि से उपस्थित अर्थ की अवहेलनाकर 'इदि परमैश्वर्ये' इस धातु के अनुरूप ऋचा में श्रुत इन्द्रपद का यौगिक अर्थ ऐश्वर्ययुक्त गार्हपत्य अग्नि ही माना जायगा। 'ऐन्द्र्या' इस उपक्रमगत तद्धित श्रुति के अनुसार इन्द्र के उपस्थान में ही ऐन्द्री ऋक् का विनियोग होना चाहिए—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उक्त तद्धित श्रुतिपरमैश्वर्यविशिष्ट, अतएव गौणी वृत्ति से इन्द्र पदाभिधेद 'गार्हपत्य' पद के संयोग से भी उपपन्न हो ही सकती है। इस तरह स्पष्ट है कि 'उक्त विनियोजक ब्राह्मणवाक्य में उपात्त गार्हपत्य का अग्निविशेषरूप मुख्य अर्थ मान्य है और उसके अनुसार ऐन्द्री ऋचा में उपात्त इन्द्रशब्द का गौण अर्थ 'परमैश्वर्यविशिष्ट' आदि ही मान्य है।

Scanned by CamScanner

यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि 'उक्त ऐन्द्री ऋचा में पठित 'इन्द्र' शब्द के अनुसार उक्त विनियोजक ब्राह्मणवाक्य के 'गार्हपत्य' शब्द का ही अग्निविशेषरूप मुख्य अर्थ न मानकर ऐसा गौण अर्थ क्यों न किया जाय, जो 'इन्द्र' शब्द के मुख्य अर्थ देवताविशेष में संगत हो सके, क्योंकि ब्राह्मणभाग के विधिवाक्य प्रधान हैं। उनके प्रधान होने का कारण एकमात्र यही है कि मन्त्र या किसी अन्य लौकिक प्रमाण से उनके अर्थ का बोध नहीं होता। बल्कि वे अनधिगत, अबाधित अर्थ के बोधक होने से कभी भी स्वार्थ से प्रच्युत न होकर स्वार्थ-पर्यवसायी ही होते हैं। इसीलिए 'न विधौ परः शब्दार्थः' इस न्याय के अनुसार विधिवाक्यों में मुख्यार्थ का त्याग एवं गौण अर्थ का स्वीकार नहीं होता। ठीक इसके विपरीत मन्त्र अप्रधान हैं। उनके अप्रधान होने का एकमात्र कारण यही है कि ब्राह्मणभाग से बोधित अर्थ का ही बोध कराने के कारण 'वे' ब्राह्मण भाग के अङ्ग एवं अनुवादक ही माने जाते हैं। इसी-लिए मन्त्रभाग में मुख्य अर्थ का त्याग और गौण अर्थ का स्वीकार होता है। ऐसी स्थिति में अप्रधान मन्त्र के मुख्य अर्थ के अनुसार प्रधान ब्राह्मणभाग में मुख्य अर्थ का परित्याग और गौण अर्थ का स्वीकार कहाँतक सम्भव है? अतः प्रधानभूत ब्राह्मणभाग के विनियोजक वाक्य "ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" में उपात्त 'गार्हपत्य' शब्द के मुख्यार्थ का बाध और उसमें अप्रधानभूत ऐन्द्री ऋचा के अनुसार गौण अर्थ का स्वीकार कथमपि नहीं हो सकता।

Scanned by CamScanner

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणभाग के प्रधान और मन्त्रभाग के अप्रधान होने से 'प्रधान और अप्रधान के पारस्परिक विरोध में अप्रधान ही अपने स्थान से हटाया जाता है, प्रधान नहीं' इस स्वयंसिद्ध न्याय के अनुसार प्रधान ब्राह्मणभाग से विरुद्ध होने के कारण अप्रधान मन्त्रभाग अपने द्वारा स्पष्ट प्रतीत होनेवाले मुख्य अर्थ का भी बोध कराने में समर्थ नहीं हो ही सकता। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणभाग की अपेक्षा मन्त्रभाग में कितनी दुर्बलता है, यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

अब प्रकृत प्रसङ्ग पर विचार करें, तो यदि ब्राह्मणभाग वेद न होकर पौरुषेय हो या अपौरुषेय होकर भी मन्त्रभाग की अपेक्षा प्रबल न होकर समान बल या दुर्बल हो, तो जैसे शृगाली सिंहशावक को निहार भी नहीं सकती, वैसे ही ब्राह्मणभाग-गत द्वितीया आदि विभक्तियाँ मन्त्रलिङ्ग को निहार भी नहीं सकतीं; फिर बाधित करने की तो बात ही क्या है? किन्तु यहाँ उद्धृत सूत्र से स्पष्ट है कि उक्त विनियोजक ब्राह्मणवाक्य-गत द्वितीया विभक्ति से मन्त्र का मुख्य अर्थ बाधित होता है, पर मन्त्र से ब्राह्मणवाक्यगत द्वितीया का मुख्यार्थ बाधित नहीं होता। ऐसी स्थिति में मीमांसा-सिद्धान्तानभिज्ञ ही यह कह सकता है कि 'ब्राह्मणभाग वेद नहीं है और मन्त्रभाग ही वेद है।' वस्तुतः यह वृश्चिक-मन्त्रानभिज्ञ का तक्षक-विवर में अङ्गुलि-प्रवेश के समान ही है।

"अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः" (२।१।३४)

Scanned by CamScanner

यह जैमिनीय सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण है। इस सूत्र के अव्यवहित पूर्व "तद्योदकेषु मन्त्राख्या", "शेषे ब्राह्मण-शब्दः" इन दो सूत्रों से सम्पूर्ण वेद को मन्त्र एवं ब्राह्मण दो भागों में विभक्त करने के अनन्तर यह संशय उठा कि 'दर्शपूर्ण-मास में होता का निगद है—"अग्ने महा ँ असि ब्राह्मण भारत, असावसौ" इति। यहाँ 'असावसौ' के स्थान पर प्रयोगकाल में "भार्गवच्यावनाप्रवानौर्वजामदग्न्य" आदि प्रक्षेप किया जाता है। इसीको 'प्रवर' कहते हैं। ऐसे ही वहीं दर्शपूर्णमास में श्रुत "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" इस मन्त्र में सौर्य-इष्टि में 'अग्नये' के स्थान पर 'सूर्याय' कहा जाता है। इसे 'ऊह' कहते हैं। ठीक इसी प्रकार दर्शपूर्णमास में ही "असौ मानुषः" इस होतृवरण-मन्त्र में 'असौ' के स्थान पर होता के नाम का प्रक्षेप किया जाता है। इसे 'नामधेय' कहते हैं। 'ये प्रवर, ऊह नामधेय आदि मन्त्र हैं या नहीं' इस संशय पर यह पूर्वपक्ष हुआ कि 'प्रवर', ऊह, नामधेय आदि मन्त्र के मध्य-पतित होने के कारण मन्त्र के साथ एकार्थप्रतिपादक होने से तथा मन्त्र का कार्य अपूर्व देवताप्रकाशन भी इनके द्वारा होने से मन्त्ररूप में व्यवहृत होते ही हैं; अतः मन्त्र ही माने जायँ।' फिर उपर्युक्त सूत्र द्वारा इसका समाधान किया गया है कि वेद में प्रत्यक्ष अनाम्नात ऊह, प्रवर आदि मन्त्र नहीं हैं, क्योंकि वेद में प्रत्यक्ष आम्नात वाक्यों में ही मन्त्र-ब्राह्मण-विभाग किया गया है। ऊह, प्रवर आदि तो 'असौ' आदि द्वारा परोक्ष रूप से निर्दिष्ट हैं।' यहाँ ब्राह्मणभाग को साक्षात् आम्नात मानकर सुस्पष्ट ही वेद का एक विभाग स्वीकार किया गया

Scanned by CamScanner

है। यह तभी सम्भव है, जब कि ब्राह्मणभाग में वेदत्व और वेदत्व के व्याप्य ब्राह्मणत्व दोनों धर्मों का अस्तित्व निश्चित रूप से स्वीकार किया जाय।

'वेदसंयोगात्' (३।४।२२) यह जैमिनीय सूत्र भी प्रकृत अर्थ में प्रमाण है। "सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्, सुवर्ण एव भवति', दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति" (सुवर्ण हिरण्य का धारण करना चाहिए। सुवर्ण हिरण्य धारण करने से प्रकाशयुक्त दिव्य वर्ण हो जाता है) और शत्रु दुर्वर्ण हो जाता है। "सर्वं हिरण्यं रजतम्" इस वाक्य में रजत को भी 'हिरण्य' शब्द से कहा गया है, अतः उसके वारण के लिए यहाँ हिरण्य में 'सुवर्ण' विशेषण दिया गया है। इस ब्राह्मणवाक्य में 'अनारभ्य श्रूयमाण सुवर्ण-धारण यज्ञ का उपकारक होता है या पुरुष का?' ऐसा संशय होने पर 'यज्ञ का ही उपकारक होता है' यह निर्णय करने के लिए इस सूत्र का आरम्भ किया गया है। सूत्रार्थ यह है कि वेद अर्थात् 'आध्वर्यवम्' इस समाख्या से युक्त यजुर्वेद में 'सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्' इस ब्राह्मण-वाक्य का संयोग (पाठ) होने से अध्वर्यु (यजुर्वेदी ऋत्विक्) को सुवर्णधारण के द्वारा संस्कृत करना चाहिए, अध्वर्यु के सुवर्णधारण करने से यज्ञ का उपकार होता है। इस तरह 'सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य को यजुर्वेद में पठित मानकर जैमिनि ने सुस्पष्ट-ही ब्राह्मणभाग को वेद मान लिया है।

"दोषात्त्विष्टिलौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात्" (३।४।२८) यह सूत्र भी प्रस्तुत अर्थ में प्रमाण है। वेद में आम्नात है कि "यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणाञ्चतुष्कपालान्निर्वपेत्"

Scanned by CamScanner

(जितने अश्वों का दान करे, उतनी वरुणदेवताक चतुष्कपाल-इष्टियाँ करें)। यहाँ 'प्रतिगृह्णीयात्' ऐसा विधिपद श्रुत होने से प्रतिग्रहीता के लिए यह इष्टि विहित है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। प्रत्युत उपक्रमरूप अर्थवाद के अनुसार दाता के लिए ही वह विहित है, ऐसा समझना चाहिए। उपक्रम इस प्रकार का सुना गया है—"प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत् स स्वां देवतामार्च्छत्। स पर्यदीर्यत, स एवैनं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्, तं निरवपत्, ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत" (प्रजापति ने वरुणदेवता को अश्व दिया, उसे अश्वदाता प्रजापति ने अपनी वरुणदेवता को इष्ट देनेवाली के रूप में न प्राप्त कर जलोदर रोग देनेवाली के रूप में प्राप्त किया, परिणामतः जलोदर रोग से ग्रस्त प्रजापति ने अत्यन्त विदीर्ण होकर रोगविमुक्ति के लिए वरुणदेवताक चतुष्कपाल-इष्टि का दर्शनकर अनुष्ठान किया और वरुणपाश अर्थात् जलोदर रोग से मुक्त हो गया) इस तरह वरुणदेवताक यह इष्टि दाता के लिए ही है, यह निश्चित हो जाता है। असञ्जात-विरोधी उपक्रम के अनुसार 'प्रतिगृह्णीयात्' इस विधायक पद को 'अन्तर्भावित णिजर्थ' के रूप में मानकर 'प्रतिग्राहयेत्' इस रूप में ही मान लेना उचित है।

ऐसी स्थिति में जब यह निश्चित हो गया कि 'यावतो' इस वाक्य से प्रायश्चित्त रूप में विहित इष्टि अश्वदाता के लिए ही है, तब यह संशय उठा कि 'यह इष्टि लौकिक अश्वदान के विषय में है अथवा वैदिक अश्वदान के विषय में ?' इस संशय पर विचार करते हुए उपर्युक्त सूत्र से कहा गया है कि प्रायश्चित्त रूप में विहित यह इष्टि लौकिक स्वेच्छानिमित्तक अश्वदान के विषय

Scanned by CamScanner

में ही है, क्योंकि प्रायश्चित्त का विधान दोषश्रवण होने पर ही होता है और "स एवैनं वरुणपाशानमुञ्चति" (वे ही वरुण-देवताक चतुष्कपाल इष्टि का अनुष्ठान करनेवाले इस अश्वदाता को वरुणपाश या जलोदर रोग से मुक्त करते हैं) इस वाक्य के अनुसार लौकिक अश्वदान में ही दोष की प्रतीति भी हो रही है। वैदिक अश्वदान तो "वारुणं यवमयं चरुमश्वो दक्षिणा" (यवमय चरुरूप वरुणदेवताक यज्ञ करे और उसमें अश्व दक्षिणा दे) इस वैदिक वाक्य से सुस्पष्ट विहित है। इसलिए वेदवाक्यरूप शास्त्र से प्रतिपादित होने के कारण वह इस दोष से ग्रस्त हो ही नहीं सकता, क्योंकि वेदविहित दान में दोष की कल्पना भी असम्भव है। यहाँ जैमिनि ने अश्वदान को वैदिक कहते हुए अश्वदान के विधायक "वारुणं यवमयं चरुमश्वो दक्षिणा' इस ब्राह्मणभागगत वाक्य को स्पष्ट ही वेद माना है।

"होता वा मन्त्रवर्णात्" (३।५।३७) और "वचनाच्च" (३।५।३८) इन दोनों जैमिनीय सूत्रों में से 'वचनाच्च' यह सूत्र ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण है। यज्ञ में जहाँ एक पात्र में अनेक ऋत्विक् भोजन करते हैं, वहाँ संशय होता है कि कौन ऋत्विक् प्रथम भोजन करे। पूर्वपक्ष में कहा गया कि 'अध्वर्यु', (यजुर्वेदी) को ही प्रथम भोजन करना चाहिए, क्योंकि भोज्य होमद्रव्य उसीके पास रहता है।' अनन्तर इन दोनों सूत्रों द्वारा सिद्धान्त किया गया है कि 'होता (ऋग्वेदी ऋत्विक्) ही प्रथम भोजन करे, क्योंकि "ग्रावाणः, सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत", "होतेव नः प्रथमः पाहि" इत्यादि मन्त्रलिंगों से तथा "वषट्कर्तुः

प्रथमभक्षः" इस ब्राह्मणभाग के वाक्य से वषट्कर्ता (होता) का ही प्रथम भक्षण सिद्ध है।'

यहाँ विचारणीय यह है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रों में विधान करने की शक्ति नहीं है, इसीलिए "होतेव नः" इत्यादि मन्त्र होता के भोजन में प्राथम्य का विधान नहीं कर सकते। अतएव "होता वा मन्त्रवर्णात्" उस सूत्र से महर्षि को सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने द्वितीय सूत्र "वचनाच्च" द्वारा "वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः" इस ब्राह्मणवाक्य से होता के भक्षण में प्राथम्य का विधान सिद्ध किया। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मणवाक्य विधायक होने से मन्त्रों की अपेक्षा प्रबल होते हैं। अतएव होता के भक्षण में प्राथम्य मन्त्रवर्ण द्वारा तो सिद्ध नहीं हो सका, पर "वषट्कर्तुः" इस ब्राह्मणवाक्य द्वारा सिद्ध हो गया।

यदि ब्राह्मणभाग वेद न होता, तो मन्त्र से असिद्ध अर्थ उसके द्वारा सिद्ध कैसे किया जाता? यदि ब्राह्मणभाग पौरुषेय होता, तो उसके द्वारा होता के भक्षण में प्राथम्य का विधान भी सम्भव नहीं था; क्योंकि जब भोज्य द्रव्य अध्वर्यु के समीप है, तो 'क्रम'रूपी लौकिक प्रमाण से अध्वर्यु के भोजन में ही प्राथम्य होना चाहिए था। ऐसी स्थिति में क्रमरूपी प्रमाण के विरोध से 'वषट्कर्तुः' इत्यादि पौरुषेय ब्राह्मणवाक्य अप्रामाणिक ही ठहरता। फिर होता के भक्षण में प्राथम्य का विधान असिद्ध ही रहता। किन्तु प्रकृत में ऐसा असम्भव नहीं। अतः महर्षि जैमिनि के दृष्टिकोण को अच्छी प्रकार समझते हुए यह मानना

Scanned by CamScanner

ही पड़ेगा कि ब्राह्मणभाग वेद, अतएव अपौरुषेय है। तभी होता के भक्षण में प्राथम्य का विधान मन्त्रलिंग द्वारा असम्भव समझकर 'क्रम'रूपी लौकिक प्रमाण के बाधक "वषट्कर्तुः प्रथम-भक्षः" इस ब्राह्मणभाग द्वारा किया गया।

"वेदोपदेशात् पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः" (३।७।५०) यह जैमिनिसूत्र तृतीय, अध्याय के सातवें पाद में विद्यमान २४ वें अधिकरण का पूर्वपक्षीय सूत्र है। इस अधिकरण के पूर्व २३ वें अधिकरण में यह निर्णय किया गया है कि 'आध्वर्यव' समाख्या से युक्त यजुर्वेद में विधीयमान 'चमस-होम' आदि कर्मों को अध्वर्यु ही करे। ठीक इसी निर्णय के अनुसार यहाँ जब यह संशय उठा कि "औद्गात्र' समाख्या से युक्त सामवेद में विहित श्येनयाग और 'आध्वर्यव' समाख्या से युक्त यजुर्वेद में विहित वाजपेय याग का अनुष्ठान क्रमशः केवल उद्गातृगण तथा अध्वर्यु गण ही करें या याग में नियुक्त सभी ऋत्विक् करें", तब पूर्वपक्ष में ऊपर उद्धृत सूत्र से कहा गया है कि जो कर्म जिसके द्वारा समाख्यात वेद में उपदिष्ट है, वह कर्म उसीके द्वारा अनुष्ठित होना चाहिए, अतः उद्गाता द्वारा समाख्यात सामवेद में उपदिष्ट श्येनयाग उद्गातृगण द्वारा ही अनुष्ठित हो और अध्वर्यु द्वारा समाख्यात यजुर्वेद में उपदिष्ट वाजपेय याग अध्वर्युगण द्वारा ही अनुष्ठित हो, न कि अन्य ऋत्विजों के द्वारा।

अब इस सूत्र को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि जैमिनि को ब्राह्मणभाग में वेदत्व इष्ट है, क्योंकि मन्त्र

Scanned by CamScanner

कथमपि विधायक नहीं हैं, यह अच्छी प्रकार निर्णीत है। ऐसी स्थिति में यजुर्वेद या सामवेद के किस भाग को महर्षि चमस-होम आदि कर्मों तथा श्येनयाग का विधायक मानते हैं। इसपर गम्भीरता से विचार करने पर निश्चय ही अगतिकगति होकर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्हें यजुर्वेद और सामवेद के ब्राह्मणभाग में ही चमस-होम, श्येनयाग आदि का विधायकत्व इष्ट है। फिर तो सुतरां यह सिद्ध हो जाता है कि "वेदोपदेशात् पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः" इस ऊपर उद्धृत सूत्र के प्रथम 'वेद'-शब्द से यजुर्वेद के ब्राह्मणभाग का और द्वितीय 'वेद' शब्द से सामवेद के ब्राह्मणभाग का उल्लेखकर जैमिनि ने ब्राह्मणभाग को 'वेद' माना है।

"संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवत् व्यवतिष्ठेरन्" (३।८।३) यह जैमिनीय सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण है। ज्योतिष्टोम में श्रुत है कि "केशश्मश्रू वपते" (केश और श्मश्रू या मुखज रोम का वपन करा दे), "दतो धावते" (दाँतों को स्वच्छ करे), "नखानि निकृन्तते" (नखों को कटवा दे), "स्नाति" (स्नान करे)। यहाँ जब यह सन्देह उठा कि "आध्वर्यव' समाख्या से समाख्यात यजुर्वेद में उपदिष्ट ये संस्कार अध्वर्यु के लिए विहित हैं या यजमान के लिए?" तो इस सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष में कहा गया है कि 'जैसे 'चमस-होम' आदि पदार्थ जिस ऋत्विक् द्वारा समाख्यात वेद में उपदिष्ट हैं, उसी ऋत्विक् के लिए विहित हैं, वैसे ही प्रकृत स्थल में भी अध्वर्यु द्वारा समाख्यात आध्वर्यव वेद में उपदिष्ट ये केश-श्मश्रु-

Scanned by CamScanner

वपनादि संस्कार भी अध्वर्यु के लिए ही विहित हैं, न कि यजमान के लिए।' अब यहाँ जब मन्त्रों में विधायकत्व है ही नहीं तो "यथावेदं व्यवतिष्ठेरन्" इस वाक्य द्वारा संस्कारविधायक "केशश्मश्रू वपते" आदि ब्राह्मणभागस्थ वाक्यों में ही महर्षि ने 'वेद'शब्द का व्यवहार किया है, यह स्पष्टरूप से मानना पड़ेगा।

"गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्" (३।८।१२) यह सूत्र भी प्रस्तुत अर्थ में प्रमाण है। सामवेद में विहित श्येनयाग के प्रकरण में कहा गया है कि "लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति" अर्थात् लाल पगड़ी से वेष्टित शिरवाले तथा लाल वस्त्र पहने हुए ऋत्विक् कर्म करें। इसी तरह यजुर्वेद-विहित वाजपेय याग के प्रकरण में कहा गया है कि "हिरण्यमालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति" अर्थात् स्वर्णमयी माला से युक्त ऋत्विक् कर्म करें। यहाँ जब यह सन्देह उठा कि 'श्येनयाग में उद्गातृ-गण ही लाल पगड़ी से शिरोवेष्टन करें और वाजपेय याग में अध्वर्युगण ही स्वर्णमयी माला धारण करें या सभी ऋत्विक्?', तो पूर्वपक्ष में कहा गया है कि 'सामवेद की 'औद्गात्र' और यजुर्वेद की 'आध्वर्यव' समाख्या के अनुसार सामवेद के अन्तर्गत श्येनयाग में विहित 'लाल पगड़ी से शिरोवेष्टन' केवल उद्गातृगण ही करें और यजुर्वेद के अन्तर्गत वाजपेय याग में विहित 'स्वर्णमयी माला का धारण' केवल अध्वर्युगण ही करें।' इस पर उत्तर पक्ष में इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि तत्तत् वेद की तत्तत् समाख्या के अनुसार तत्तत् ऋत्विजों के लिए वहीं तत्तत्

Scanned by CamScanner

कर्म का नियमन होता है, जहाँ प्रधानरूप से तत्तत् कर्म ही विहित हो। जैसे—अमुक पुरुष अमुक काम को करे। यहाँ तो "लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति", "हिरण्यमालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति" इन दोनों वाक्यों में लाल पगड़ी से विशिष्ट, लाल वस्त्र से विशिष्ट और स्वर्णमयी माला से विशिष्ट ऋत्विक् का निर्देश होने से विशेषरूप में विद्यमान लाल पगड़ी, सुवर्णमाला-धारण आदि तो अप्रधान ही हैं। यदि इन वाक्यों का "लोहितोष्णीषैर्ऋत्विजैर्भाव्यम्" (ऋत्विक् लाल पगड़ी धारण करें) "हिरण्यमालिभिर्ऋत्विग्भिर्भाव्यम्" (ऋत्विक् स्वर्णमयी माला धारण करें) ऐसा आकार होता, तब तत्तत् समाख्याओं से समाख्यात वेद के अनुसार जिस ऋत्विक् की समाख्या से युक्त वेद में ये उपदिष्ट हैं, उसी ऋत्विक् द्वारा इनका अनुष्ठान होता। अतः सभी ऋत्विक् लाल पगड़ी से शिरोवेष्टन आदि पूर्वोक्त कर्मों को करें, न कि केवल उद्गातृगण और अध्वर्युगण ही।

यहाँ द्रष्टव्य यह है कि जो वेदभाग विधायक नहीं, उसके अनुसार व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि व्यवस्था विधान के अधीन है। महर्षि ने इस सूत्र में स्पष्ट कहा है कि जहाँ कर्म का प्रधान रूप से विधान होता है, वहीं वेद से व्यवस्था होती है।' प्रकृत में लोहितोष्णीषित्व, हिरण्यमालित्व आदि अप्रधान हैं, अतः यहाँ वैसी व्यवस्था सम्भव नहीं। मन्त्रों में विधायकत्व है ही नहीं। ऐसी स्थिति में "लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति' आदि ब्राह्मणभाग में ही व्यवस्थापकता

Scanned by CamScanner

स्वीकार करते हुए महर्षि ने स्पष्ट ही ब्राह्मणभाग को वेदशब्द से उल्लेखकर वेद माना है।

व्याकरण शास्त्र के प्रयोजन का उल्लेख करते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने "तेऽसुरा हेऽलयो हेऽलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः, तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो हवा एष यदपशब्दः" यह श्रुति प्रस्तुत की है। यह श्रुति मन्त्रभाग में कहीं भी नहीं है, केवल ब्राह्मणभाग में ही है। ऐसी स्थिति में महाभाष्यकार की दृष्टि में भी ब्राह्मणभाग का वेदत्व स्पष्ट है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि यह वाक्य 'वेद' का है ही नहीं, क्योंकि एक तो इस वाक्य के "म्लेच्छितवै" "अपभाषितवै" इन दो पदों में श्रुत 'तवै' प्रत्यय "कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः" (३।४।१४) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार वेद में ही विहित है, लोक में नहीं। दूसरे, इसी प्रकरण में आगे महाभाष्यकार ने "आचारे पुनर्ऋषिर्नियमं वेदयते तेऽसुरा हेऽलयो हेऽलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुरिति" ऐसा उल्लेख करते हुए 'तेऽसुरा' आदि अपने उपन्यस्त वाक्य को वेद के पर्यायवाची 'ऋषि' शब्द से कहा है। "ऋषिर्वेदः" ऐसा स्पष्ट लिखते हुए वहीं कैयट ने माना है कि ऋषि शब्द वेद का पर्यायवाची है।

महाभाष्य के जिस आह्निक का यह उद्धरण है, उसी पस्पशाह्निक में महाभाष्यकार ने "वेदशब्दा अप्येवं वदन्ति" ऐसा आरम्भकर "योऽग्निष्टोमेन यजते, य उ चैनमेवं वेद, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते, य उ चैनमेवं वेद" इन ब्राह्मणभाग के चार वाक्यों का उद्धरणकर स्पष्ट ही ब्राह्मणभाग को वेद माना है।

Scanned by CamScanner

इसी तरह "एकः पूर्वपरयोः" (६ । १ । ८४) सूत्र के महाभाष्य में "वेदे खल्वपि" ऐसा आरम्भकर "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेतेति" (वसन्तऋतु में ब्राह्मण अग्निष्टोम आदि यज्ञ करे), "स्वर्गे लोके अप्सरस एनं जाया भूत्वोपशेरते" (स्वर्ग में अप्सराएँ यज्ञकर्ता के पास जाया होकर शयन करती हैं), "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति" (व्याकरणशास्त्र के अनुसार यथावत् प्रक्रिया का परिज्ञानकर सम्यक् रूप से प्रयोग में लाया गया एक शब्द भी स्वर्गलोक में यथाभिलषित समस्त फल देता है) इन ब्राह्मणभाग के वाक्यों का उद्धरणकर स्पष्ट ही ब्राह्मणभाग को वेद माना है।

इसी प्रकार "छन्दसि निष्टर्क्यं०" (३ । १ । १२३) पाणिनीय सूत्र के महाभाष्य में भी "निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः" (पशु की कामना से 'निष्टर्क्य नाम के अग्नि का चयन करे) इस वाक्य को उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते हुए उसे 'छन्द' मानकर स्पष्ट ही वेद माना है। यह वाक्य मन्त्रभाग में कहीं उपलब्ध नहीं है, ब्राह्मणभाग में ही है। ऐसी स्थिति में महाभाष्यकार श्री पतञ्जलि की दृष्टि में सुतरां ब्राह्मणभाग की वेदरूप से मान्यता स्पष्ट है।

"मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्" (३ । २ । ७१), "अवे यजः" (३ । २ । ७२), "विजुपे छन्दसि" (३ । २ । ७३) यहाँ इस अन्तिम पाणिनीय सूत्र में 'छन्द' शब्द का ग्रहण ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण है। यदि मन्त्रभाग मात्र ही

Scanned by CamScanner

वेद होता, तब तो मन्त्र एवं छन्द दोनों पर्यायवाची होंगे। ऐसी स्थिति में प्रथम सूत्र से इस तीसरे सूत्र में 'मन्त्र' पद की अनुवृत्ति मात्र से ही प्रक्रिया-निष्पादन सम्भव था। फिर 'छन्द' शब्द का साक्षात् उपादान क्यों किया गया? क्योंकि पूर्वसूत्र से पर्याय शब्द की अनुवृत्ति सम्भव होने पर उत्तर सूत्र में कहीं भी भगवान् पाणिनि ने पर्याय-शब्दान्तर का उपादान नहीं किया है। जब ब्राह्मणभाग को भी वेद मान लिया जाता है, तो 'उपयट्' आदि ब्राह्मणभागस्थ प्रयोगों में 'विच्' प्रत्यय का विधान करने के लिए 'छन्द' शब्द का साक्षात् उपादान अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। अन्यथा 'मन्त्रों की अनुवृत्ति होने पर भी 'उपयट्' आदि ब्राह्मणभागस्थ प्रयोगों में मन्त्रत्व न होने से उनमें 'विच्' प्रत्यय का ही विधान असम्भव हो जाता।

"जुष्टार्पिते च छन्दसि" (६।१।२०९), "नित्यं मन्त्रे (६।१।२१०) ये दोनों सूत्र भी प्रकृत अर्थ में प्रमाण हैं। यदि ब्राह्मणभाग वेद न हो, तो एक ही विषय अर्थात् 'मन्त्र' ही में जुष्ट और अर्पित शब्द में अन्तोदात्तत्व का नित्य एवं विकल्प से विधान सम्भव नहीं है। साथ ही यदि मन्त्र और छन्द एकार्थक होते, तो "जुष्टार्पिते च छन्दसि" इस पूर्वसूत्र से छन्दस् शब्द की अनुवृत्ति से ही प्रक्रिया-निष्पादन हो जाता। फिर उत्तर सूत्र "नित्यं मन्त्रे' में 'मन्त्र'ग्रहण व्यर्थ ही होता। अतः विवेकपूर्वक स्वीकार करना पड़ेगा कि पूर्वसूत्रस्थ छन्दस् शब्द से मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय का ग्रहण है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणस्थ जुष्ट एवं अर्पित शब्द-में विकल्प से और मन्त्रभागस्थ जुष्ट एवं अर्पित शब्द में नित्य

Scanned by CamScanner

ही अन्तोदात्तत्व का विधान करने के लिए पाणिनि ने पृथक्-पृथक् दो सूत्रों को बनाया और उनमें क्रमशः छन्दस् एवं मन्त्र शब्द का साक्षात् उपादान किया।

ब्राह्मणभाग को वेद न माना जाय और केवल चार संहिताओं को ही वेद माना जाय, तब तो 'अनन्ता वै वेदाः' इस ब्राह्मणभागस्थ श्रुति के साथ विरोध भी होगा। आर्यसमाजी कहते हैं कि वेदों का अर्थ अनन्त होने से ही इस श्रुति में वेद को अनन्त कहा गया है। किन्तु श्रुति में 'अनन्ता वै वेदाः' कहा गया है, 'अनन्ता वै वेदार्थाः' नहीं कहा गया है। उक्त श्रुति प्रशस्तिमात्र के लिए हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें निश्चयार्थक 'वै' शब्द का भी उपादान है। अतः इस श्रुति के अनुसार चार संहिताओं से अतिरिक्त समस्त मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग से उपबृंहित शाखाओं को भी वेद मानना अत्यन्त आवश्यक है।

वेद अनन्त होने के कारण ही श्रीभगवद्गीता (१५।१५) में भगवान् कहते हैं—

"सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥"

यहाँ 'मैं ही वेदवित् हूं' ऐसा अवधारणपूर्वक अपने को ही 'वेदवित्' बताते हुए भगवान् ने स्पष्ट ही यह संकेत किया है कि अल्पज्ञ जीव जिन वेदों के वेत्ता नहीं हो सकते, उनका वेत्ता एकमात्र मैं ही हूँ। अर्थात् जीवों की अपेक्षा मुझमें उत्कर्ष है।

Scanned by CamScanner

यदि चार संहिताएँ ही वेद हों, तब तो अनेक जीव आज भी वेदवित् हैं। फिर भगवान् ही वेदवित् हैं, अतएव जीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं, यह कैसे कहा जा सकता था? 'वेदवित्' का तात्पर्य 'वेदार्थवित्' से है ऐसा कहकर जीवों की अपेक्षा भगवान् में उत्कर्षबोधन नहीं हो सकता, क्योंकि 'सायण' आदि आप्त भाष्यकार भी तो अभ्रान्त वेदार्थवित् थे?

गम्भीरता से विचार किया जाय, तो इनी-गिनी चार संहिताओं में उपलब्ध सिद्धार्थमात्र के प्रतिपादक मन्त्रों का वेत्तामात्र होना जब परिमित महिमासम्पन्न जीवों में किसी विशेष उत्कर्ष का आधायक सिद्ध नहीं हो सकता, तब अपरिमित महिमासम्पन्न भगवान् में सर्वातिशायी उत्कर्ष का आधायक कैसे हो सकता है? फिर भी स्वयं भगवान् भूत, वर्तमान आदि किसी भी कालविशेष का बिना निर्देश किये ही तीनों काल में कोई भी वेदवेत्ता नहीं है, इस प्रकार 'अन्ययोगव्यवच्छेद-पुरस्सर एकमात्र अपने में ही वेदवेत्ता होने की बात दृढ़ करते हैं। इससे सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त अप्राप्त अर्थ के बोधक, विधायकवाक्यबहुल ब्राह्मणभाग के साथ मन्त्रभाग से उपबृंहित न केवल ११३१ शाखाएँ ही, बल्कि अनन्त शाखाएँ वेदपदाभिधेय हैं, जिनकी अन्तिमेत्थम् रूप से संख्या कहना भी जीव के लिए असम्भव है। फिर उनका सर्वतोभावेन ज्ञान जीव के लिए सम्भव ही कैसे?

इसी प्रकार यदि ब्राह्मणभाग को वेद, अतएव अपौरुषेय न माना जाय, तो अधिकांश मन्त्र उपदेशरहित होने से अनर्थक ही

Scanned by CamScanner

सिद्ध होंगे। क्योंकि यह पूर्वविवेचन से ही स्पष्ट हो चुका है कि मन्त्रों में विधायकत्व नहीं है। साथ ही जैसे मन्त्रों में विधायकत्व नहीं है, वैसे ही निषेधकत्व भी इसलिए नहीं है कि मन्त्रपदसहित विधिप्रत्यय ही निषेधकता का प्रयोजक होता है। इस तरह जब मन्त्र न विधायक हैं और न निषेधक, तब उपदेशक भी नहीं हो सकते; क्योंकि यह लोक सिद्ध है कि प्रवर्तक (विधायक) और निवर्तक (निषेधक) वाक्य ही उपदेशक होता है। मन्त्र स्वतः उपदेशक न होने से ब्राह्मणभाग द्वारा तत्तत् कर्मों में विनियुक्त होकर सार्थक होते हैं। पर आर्यसमाजी के मतानुसार ब्राह्मणभाग के वेद न होने, अतएव पौरुषेय होने से पुरुषसुलभ भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषों से दूषित होने के कारण उनका (ब्राह्मणभाग का) मन्त्रविनियोगविषयक प्रवृत्ति-निवृत्तिसम्बन्धी निष्कम्प सामर्थ्य नहीं है। ऐसी स्थिति में विहित कर्मों के स्मारक रूप में जिनका उपयोग नहीं है, वे "मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत्' (३।८।१५) इस जैमिनीय सूत्र के अनुसार यजमानसम्बन्धी होकर कथञ्चित् सार्थक हो जायँ, पर विहित कर्मसमवेत द्रव्य-देवताप्रकाशक अधिकांश मन्त्रों की सार्थकता असम्भव ही हो जायगी। कारण, उनके विनियोजक ब्राह्मणभाग में वेदत्व अर्थात् अपौरुषेयत्व न मानने से उनके द्वारा किये गये विनियोग में अप्रामाण्य-शङ्का होना स्वाभाविक है।

यदि चार संहितामात्र ही वेद हैं, तब तो मन्वादि स्मृतियाँ एवं उनकी प्रकृतिभूत लक्षाध्यायी 'पितामहस्मृति' आदि की

Scanned by CamScanner

रचना भी उपपन्न नहीं हो सकती। क्योंकि वेद में विप्रकीर्ण अर्थों का संक्षेप से संकलन करने के लिए ही स्मृतियाँ रची गयीं। अन्यथा वेदों से ही तत्-तत् अर्थों का बोध हो ही सकता था; फिर उनकी रचना व्यर्थ ही होती। श्रुतिमूलक होने से ही स्मृतियों का प्रामाण्य होता है। अतएव "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" इस जैमिनीय सूत्र से कहा गया है कि श्रुति का विरोध होने पर स्मृति का प्रामाण्य अनादरणीय है। विरोध न होने पर स्मृति के मूलभूत श्रुति का अनुमानकर तन्मूलकत्वेन स्मृति का प्रामाण्य होता है।

आर्यसमाजी लोगों के मतानुसार तो स्मृतिमूलक श्रुति का अनुमान संगत ही नहीं है, क्योंकि इस समय समुपलब्ध कुल चार संहिताएँ ही वेद हैं, उन्हींमें स्मृतिमूलक सभी श्रुतियाँ विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में केवल इन चार संहिताओं के अन्तर्गत प्रत्यक्ष उपलब्ध श्रुतियों के ही आधार पर स्मृति का प्रामाण्य संभव है, अन्यथा नहीं।

इसके अतिरिक्त यदि प्रचलित कतिपय संहिताएँ ही वेद हैं, तो उनका संक्षेपेण अर्थसंग्रह करने के लिए लक्षाध्यायी तथा अन्य तीसों स्मृतियाँ बनी हों, यह कौन विश्वास कर सकता है? क्योंकि लक्षाध्यायी तथा अन्य स्मृतियों में वेदों में इतस्ततः प्रसृत अर्थों का ही संक्षिप्त एवं सम्बद्ध संग्रह है—यह विश्वसनीय तभी हो सकता है, जब कि श्रीमद्भागवत आदि पुराणों एवं महाभाष्य के अनुसार मानव-बुद्धिग्राह्य ग्यारह सौ एकतीस

(११३१) शाखायुक्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद हों, "अनन्ता वै वेदाः" के अनुसार ईश्वरग्राह्य अनन्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद हों, अन्यथा नहीं।

स्मृतियाँ भी विधि-निषेधप्रधान ही होती हैं। मन्त्रों में विधायत्व है ही नहीं, यह कहा ही जा चुका है। ऐसी स्थिति में मन्त्रसंहिताओं के साथ लक्ष्याध्यायी का ही कौन कहे, किसी भी स्मृति के साथ अर्थसंग्राहकत्वलक्षण सम्बन्ध बन नहीं सकता। लक्ष्याध्यायी आदि सभी स्मृतियाँ केवल चार संहिताओं का संक्षेप है—यह कहना वैसे ही असंगत है, जैसे कलश-जल का संक्षेप समुद्र को कहना। इस तरह स्मृतिरचना भी अनेक शाखाओं से समन्वित मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि के वेद होने में प्रमाण है।

आर्यसमाजियों के मतानुसार विधि-निषेधहीन मन्त्रसंहिता भाग का अर्थसंग्रह विधि-निषेधप्रधान किसी भी स्मृति में सम्भव नहीं। अतः मन्वादि स्मृतियों की रचनानुपपत्ति एवं प्रामाण्यानुपपत्ति भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण है।

श्रीदयानन्दजी ने ब्राह्मणभाग को वेदमूलक होने से प्रमाण माना है, पर यह संगत नहीं है; क्योंकि ब्राह्मणभाग विधि-निषेध-प्रधान है और मन्त्रभाग विधि-निषेधहीन। ऐसी स्थिति में जैसे पशु मनुष्य का मूल नहीं हो सकता, वैसे ही मन्त्रभाग भी ब्राह्मणभाग का मूल नहीं हो सकता।

ब्राह्मणभाग में मन्त्रों का विनियोग देखकर भी मन्त्रभाग

Scanned by CamScanner

एवं ब्राह्मणभाग का मूल-मूलिभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विनियोग तो ब्राह्मणभाग में यव, व्रीहि आदि का भी है। तो क्या ब्राह्मणभाग को यव, व्रीहि आदि द्रव्यमूलक भी माना जायगा? ब्राह्मणभाग में कहीं-कहीं मन्त्रों का व्याख्यान दृष्टिगोचर होने से भी मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग के मूल-मूलिभाव की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि मन्त्रभाग में भी मन्त्र का व्याख्यान होता है, यह पीछे स्पष्ट किया ही जा चुका है।

ब्राह्मणभाग जैसे व्रीहि, यव आदि को यज्ञ में विनियुक्त होनेकी आज्ञा देकर उन्हें कर्म के योग्य बनाने के लिए "व्रीहीन् अवहन्ति", "व्रीहीन् प्रोक्षति" इत्यादि वाक्यों से उन द्रव्यों के संस्कार का विधान करता है, वैसे ही मन्त्ररूपी द्रव्य को भी यज्ञ में विनियुक्तकर उन्हें यज्ञ के योग्य बनाने के लिए उनके संस्कारार्थ उनका व्याख्यान करता है। क्योंकि मन्त्रों का यथार्थज्ञानरूप संस्कार ब्राह्मणभाग में कहे गये व्याख्यान से ही होता है। इसी कारण मन्त्र ब्राह्मणभाग की आज्ञा के अनुसार विहित कर्मों का स्मरण कराकर यज्ञों में समुचित उपयोग की योग्यता प्राप्त करते हैं। अतः जैसे यव, व्रीहि आदि द्रव्य को ब्राह्मणभाग का मूल मानना बुद्धिसंगत नहीं, वैसे ही मन्त्ररूप द्रव्य को भी ब्राह्मणभाग का मूल मानना बुद्धिसंगत नहीं कहा जा सकता।

समान न्याय से तो यहाँ यह विपरीत ढङ्ग का आक्षेप भी किया जा सकता है कि "विधि-निषेधबोधक प्रधानभूत ब्राह्मणभाग ही वेद है, ब्राह्मणभाग की आज्ञा का अनुसरण करनेवाला, विधि-निषेधरहित यव, व्रीहि आदि के तुल्य द्रव्यात्मक मन्त्रभाग

Scanned by CamScanner

तो वेद है ही नहीं। जिस मन्त्रका जो ऋषि है, वही उस मन्त्र का कर्ता है। इसीलिए ऋषियों को कहीं-कहीं मन्त्रकृत् भी कहा गया है।" क्या आर्यसमाजी लोगों के पास इसका भी कोई उत्तर है? 'मन्त्रभाग में ही 'वेद' शब्द का व्यवहार है, ब्राह्मण-भाग में नहीं' यह कहना तो सर्वथा मिथ्या ही होगा। क्योंकि ब्राह्मणभाग में वेदशब्द का व्यवहार पूर्व में अनेक प्रमाणों से दिखाया जा चुका है। ऐसी स्थिति में मन्त्रभाग ही वेद है, ब्राह्मणभाग नहीं—यह सिद्ध करने के लिए सिवा शपथ के और क्या आलम्बन है?

ब्राह्मणभाग का 'ब्राह्मण' नाममात्र होने से पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'ब्रह्मन्' शब्द का वेद अर्थ होता है और ब्राह्मण' शब्द तत्तुल्यार्थक ही 'है। 'ब्राह्मण' और 'ब्रह्मन्' ये दोनों नाम भी ब्राह्मणभाग की वेदता में प्रमाण हैं, क्योंकि 'ब्राह्मण' और 'ब्रह्म' ये दोनों ही ब्राह्मणभाग की श्रुत्युक्त संज्ञाएँ हैं, जो कि "एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्चहवीषि यद्ब्राह्मणानीतराणि" (चातुर्मास्य-प्रकरण), "तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्" (अथर्व १५।३।१।६) इत्यादि वेदवाक्यों में ब्राह्मणभाग में ही ब्राह्मण एवं ब्रह्मन् शब्द का व्यवहार किये जाने से स्पष्ट है।

ब्राह्मणभाग के पौरुषेयत्व में प्रमाणाभाव भी उसके वेदत्व में प्रमाण है। कहा जाता है कि 'प्राचीन वृत्तान्तों का वर्णन ब्राह्मणभाग में है, इसलिए ब्राह्मणभाग पौरुषेय है।' परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि वेद में लुङ् आदि प्रत्ययों

Scanned by CamScanner

का भूतकाल अर्थ नहीं होता, तब किसी वृत्तान्त का वेद की अपेक्षा पूर्वकाल में होना वेदशब्द से कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

यों तो वेबर, मैक्समूलर आदि ने मन्त्रभाग में संग्राम आदि का वर्णन देखकर उनको भी पौरुषेय ही माना है। ऋक्-संहिता के विषय में तो वे कहते हैं कि "सिन्धुनदी के तट पर आर्यों ने अपने मूल निवासस्थान से ऋक्संहिता के कुछ गीतों को गाया। शुक्लयजुःसंहिता का वर्तमान रूप वे लोग ईसा से पूर्व तृतीय शतक में निर्मित मानते हैं, क्योंकि 'मेगस्थनीज' ने 'मेडिवोडिनै' संज्ञावाले मनुष्यों का वर्णन किया है और यह नाम शुक्लयजुः की माध्यन्दिन-संहिता में मिलता है। अथर्व-संहिता भी उन लोगों की दृष्टि से ऋक्संहिता से अर्वाचीन है, क्योंकि ऋक्संहिता में प्रकृति का अतिमनोहर, प्रेमोत्साहपूर्वक स्वाभाविक भाव वर्णित है। अथर्वसंहिता में तो भयानक सत्त्वों से भय एवं उनका मायिक प्रभाव वर्णित है। ऋक्संहिता में मनुष्यों की स्वतन्त्रता और कार्यतत्परता दीखती है। अथर्वसंहिता में तो मनुष्य ब्राह्मणों के परतन्त्र तथा मिथ्याविश्वास-निगडबद्ध प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार ऋक्संहिता के गीत महाकुलीन लोगों में ही प्रचलित थे, पर अथर्वसंहिता के कुछ गीत तो तुच्छ जातियों में भी प्रचलित प्रतीत होते हैं। बड़े विवाद के बाद अथर्वसंहिता वेदपदवी को प्राप्त कर सकी। अतएव अति-प्राचीन ऋग्वेद के ब्राह्मणखण्ड में अथर्वगीतों का उल्लेख नहीं है। इन सब कारणों प्रतीत होता है कि उन ब्राह्मण-खण्डों की रचना के समय में ही अथर्वगीत निर्मित हुए होंगे। इसीलिए

Scanned by CamScanner

नूतन ब्राह्मणभागों में अथर्वगीतों की चर्चा का होना भी उपपन्न होता है।

वस्तुतः आर्यसमाजी इन्हीं पाश्चात्यों के प्रभाव से प्रभावित हैं। वे इन्हीं लोगों द्वारा उठायी गयी शङ्काओं को ब्राह्मणभाग में जोड़कर ब्राह्मणभाग को पौरुषेय कहने का यत्न करते हैं। अतः पाश्चात्यों के मतों का खण्डन ही आर्यसमाजियों के मत का खण्डन है। मीमांसक तो इन सभीको निष्प्रमाण ही कहते हैं।

वेद में सिन्धुनदी की चर्चामात्र से 'वेद आर्यों द्वारा सिन्धु-नदी के तट पर गीतरूप में गाये गये' आदि उपर्युक्त कल्पनाएँ करना सर्वथा निराधार है। 'जो-जो गीत जिस-जिस कविकुल द्वारा निर्मित हुए, वे उसी कुविकुल के नाम से प्रसिद्ध हुए' आदि कल्पनाएँ भी निराधार ही हैं। वेदों की—फिर वह चाहे मन्त्र हो या ब्राह्मण—रचना का किसीको भी प्रत्यक्ष नहीं हुआ। क्योंकि यदि ऐसा होता, तो पौरुषेयत्व में विवाद ही न रहता, जैसे कि घटादि का रचितत्व दृष्ट होने से उसमें विवाद नहीं होता। किन्तु वेदों के विषय में तो आस्तिक-नास्तिकों का अनादि काल से विवाद है।

वेदों की रचना अनुमेय भी नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कोई हेतु नहीं है। कहा जा सकता है कि 'तत्-तत् ऋचाओं के विभाग तत्-तत् ऋषियों के नाम से आजतक प्रसिद्ध हैं, अतः उक्त प्रसिद्धि ही रचना के अनुमान में हेतु है।' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि उक्त प्रसिद्धि से इतना ही सिद्ध होता है कि तत्-तत् ऋषियों ने तत्-तत् ऋचाओं का विभागमात्र किया। यही

Scanned by CamScanner

वैदिकों को सम्मत भी है। उक्त प्रसिद्धि से रचना सिद्ध नहीं हो सकती। यह स्पष्ट है कि रचना एवं विभाजन दोनों एक वस्तु नहीं। विभाग जिसका होता है, वह विभाग से पूर्व में सिद्ध रहता है और चना जिसकी रहोती है, वह रचना से पूर्व सिद्ध नहीं रहता है। जैसे घट की रचना से पूर्व घट सिद्ध नहीं रहता।

तद्रचितत्व की सिद्धि के लिए 'तत्कर्तृक विभाग' को हेतु कहा गया है। किन्तु उस हेतु से विभाग के पूर्व उनका अस्तित्व ही सिद्ध हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि 'यदि उनके द्वारा रचित न होते, तो उनके नाम से उनका विभाग न होता', क्योंकि अन्य द्वारा रचितों का अन्य द्वारा विभाग होना दृष्ट ही है। जैसे पिता आदि द्वारा रचित वस्तुओं का पुत्रादि विभाग करते ही हैं। ऐसी स्थिति में उक्त हेतु व्यभिचरित होने से तत्-तत् ऋषियों के नाम से विभाग होने के कारण तत्-तत् ऋचाएँ तत्-तत् ऋषियों द्वारा रचित नहीं कही जा सकतीं।

इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न है कि 'वैदिकों की प्रसिद्धि से ऋषियों द्वारा ऋचाओं की रचना का अनुमान होता है, अथवा अवैदिकों की प्रसिद्धि से किंवा प्रसिद्धिमात्र से? वैदिकों की प्रसिद्धि के बल पर तो ऋषियों द्वारा ऋचाओं की रचना का अनुमान किया नहीं जा सकता, क्योंकि वैदिकों में यह प्रसिद्धि है ही नहीं कि वेद की ऋचाएँ ऋषियों द्वारा रचित हैं। बल्कि ठीक इसके विरुद्ध उनमें यही प्रसिद्धि है कि वेद की ऋचाएँ किसीके द्वारा रचित नहीं हैं। इसी तरह अवैदिकों की प्रसिद्धि की तो यहाँ चर्चा भी नहीं उठ सकती, क्योंकि

Scanned by CamScanner

सभी वेदबाह्य आधुनिक हैं, उनमें वेदसंबन्ध की प्रसिद्धि ही नहीं है। यदि किसी ढङ्ग की प्रसिद्धि है भी, तो वह पूर्वोक्त अटकलपच्चू वेदविरुद्ध मत-ग्रन्थों की है, जो वाद कथा में वैदिकों के सामने उपस्थित नहीं की जा सकती। उनमें उपस्थित न हो सकने में कारण यही है कि वे सब आप्त वैदिकों की दृष्टि में सर्वथा असत्य हैं। रही गयी 'प्रसिद्धिमात्र' की बात, तो सत्य प्रसिद्धि केवल इतनी ही है कि 'ऋचाओं का विभाग हुआ किन्तु है।' इस विभागमात्रविषयक प्रसिद्धि से रचना की सिद्धि हो नहीं सकती। अतः पूर्वोक्त प्रश्न के तीनों पक्ष खण्डित हो जाते हैं।

वैदिक-सम्प्रदाय में जिन मन्त्रों के विश्वामित्र आदि जो ऋषि प्रसिद्ध हैं, वे ही ऋषि उन मन्त्रों के रचयिता हैं, यही पाश्चात्यों का आशय है। किन्तु वैदिक-सम्प्रदाय की प्रसिद्धि ठीक इसके विपरीत है। निरुक्तकार आदि तो 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' के अनुसार मन्त्रद्रष्टाओं को ऋषि कहते हैं। पूर्वजन्म के तपस्या-विशेष और मन्त्रों के अभ्यासविशेष के बल से अथवा परमेश्वर के अनुग्रह से गुरूपदेशानपेक्ष सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय से पूर्वसृष्टि में अनुभूत जिन मन्त्रों का उत्तर-सृष्टि के आदि में जिनके अन्तः-करण में प्रतिभान हुआ, वे ही उन मन्त्रों के द्रष्टा माने गये हैं और उन्हीं लोगों को उन मन्त्रों के ऋषि कहा जाता है। इस तरह ऋषि किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं होता, बल्कि पूर्वोक्त ढङ्ग से मन्त्रों का प्रतिभान जिन्हें हुआ, वे आधिकारिक पुरुष ही 'ऋषि' कहे गये और आज भी कहे जाते

Scanned by CamScanner

हैं। अर्थात् जैसे न्यायाधीश (जज) या वकील आदि नाम स्थानविशेष से सम्बद्ध पुरुष के ही होते हैं, न कि किसी व्यक्तिविशेष के, वैसे ही 'ऋषि' यह नाम भी 'मन्त्रदर्शन'-सम्बन्धी अधिकृत पद पर प्रतिष्ठित आधिकारिक पुरुषों का ही है। इतना ही नहीं, 'व्यास' आदि विशेष संज्ञाएँ भी किसी विशेष पुरुष की नहीं हैं, किन्तु विशिष्ट आधिकारिक पुरुषों की हैं। ऐसे ही ऋषियों की विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि विशेष संज्ञाएँ भी किसी पुरुषविशेष की नहीं हैं, किन्तु किन्हीं विशेष मन्त्रों के प्रतिभान के जो विशेष अधिकारी होते हैं, उन्हींकी हैं। इसी निष्कृष्ट तथ्य के आधार पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'ऋषि' यह सामान्य संज्ञा और 'विश्वामित्र, वशिष्ठ' आदि विशेष संज्ञाएँ भी अनादि हैं।

दूसरी प्रसिद्धि यह है कि जैसे 'आख्या प्रवचनात्' इस मीमांसासूत्र के अनुसार 'कठत्व' आदि जातिके वाचक 'कठ' आदि शब्द हैं, वैसे ही विश्वामित्र आदि शब्द 'विश्वामित्रत्व' आदि जाति के वाचक हैं। अर्थात् जिन मन्त्रों के विश्वामित्र ऋषि हैं, उन मन्त्रों का पूर्वोक्त ढङ्ग से प्रतिभान प्रत्येक सृष्टि में किसी न किसी विश्वामित्रत्व जाति के ही पुरुष में होता है। ऐसे ही 'अगस्त्यत्व' आदि जातियों को भी समझना चाहिए। जैसे 'गो' आदि शब्द 'गोत्व' आदि जाति के वाचक होने से उनकी वह 'नैमित्तिकी अनादि संज्ञा' है वैसे ही 'विश्वामित्र' आदि शब्द 'नैमित्तिकी अनादिसंज्ञा' हैं। तात्पर्य यह कि चैत्र, मैत्र आदि की तरह विश्वामित्र आदि किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं,

Scanned by CamScanner

किन्तु वे वकील, जज आदि की तरह अनादि उपाधि अथवा गो आदि शब्द की तरह 'विश्वामित्रत्व' आदि जाति के बोधक हैं और यही उचित भी है। अनादि मन्त्रों के प्रतिभान के लिए अनादिसंज्ञाएँ ही उपयुक्त हैं। इसी रीति से वेद में ऋषियों की जो वंश-परम्परा कही गयी है, वह भी अनित्य व्यक्तियों की परम्परा नहीं है। उसका तात्पर्य अनादि जातियों में ही है। इन दोनों वैदिक-प्रसिद्धियों द्वारा वेद की ऋचाओं की अपौरुषेयता ही सिद्ध होती है, रचना नहीं।

यदि वैदिकों की उक्त प्रसिद्धियों को प्रामाणिक न माना जाय, तब तो उन प्रसिद्धियों के आधार पर वेदों की ऋचाओं की रचना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिस मन्त्र का जो ऋषि है, वह उस मन्त्र का रचयिता है, इसमें कोई प्रमाण भी तो होना चाहिए। ऋषि होना और कर्ता होना भिन्न-भिन्न बात है, यह कहा ही जा चुका है। अतः वेद के कर्ता की कल्पना सर्वथा प्रमाणशून्य है।

कहा जाता है कि 'जो भी वाक्य होते हैं, वे किसीसे रचित होते हैं; जैसे महाभारत। वेद भी वाक्य है, अतः उसका भी कोई कर्ता होना चाहिए। जब अन्य किसी कर्ता का पता नहीं लगता, तब तत्-तत् मन्त्रों के ऋषियों को ही कर्ता मानना उचित है।' परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि ऋषियों के नाम से विभाग यह सिद्ध नहीं कर सकता कि ऋषि उनके कर्ता हैं। अन्य रचित का विभाग अन्य के द्वारा होता है, यह पीछे कहा ही जा चुका है। ऐसी स्थिति में ऋषियों से अन्य और किसीके कर्ता

Scanned by CamScanner

होने की कल्पना भी सम्भव न होने से वेदों की अनादिता और अपौरुषेयता ही सिद्ध होती है।

फिर, 'वाक्यत्व' हेतु सोपाधिक होने से पौरुषेयता का साधक भी नहीं हो सकता। जिन-जिन प्रामाणिक आदरणीय ग्रन्थों में पौरुषेयता है, उन-उनमें 'स्मर्यमाणकर्तृकत्व' भी है। महाभारत, गीता, अवेस्ता, बाइबिल, कुरान आदि बहुजन-समादृत ग्रन्थों में पौरुषेयता है, तो उनके कर्ता भी स्मर्यमाण हैं ही। परन्तु वेद तो परमादरणीय एवं अविच्छिन्न-पारम्पर्ययुक्त होने पर भी अस्मर्यमाण-कर्तृक ही है। उनका कोई भी कर्ता प्रमाणसिद्ध नहीं है। अतः स्मर्यमाण-कर्तृकत्वरूप उपाधि से युक्त वाक्यत्व-हेतुक पौरुषेयत्वानुमान दूषित है, इत्यादि पीछे विस्तार से स्पष्ट किया ही गया है।

साथ ही पाश्चात्यों के लिए यह भी कहना कठिन है कि ऋषियों की प्रसिद्धि कब से हुई? किस वर्ष, मास, पक्ष, तिथि में किस-किस ऋषि ने किस-किस मन्त्र की रचना की और रचना करते हुए उन्हें किसने देखा? अतः जैसे वेद अनादि हैं, वैसे ही उनके ऋषियों की प्रसिद्धि भी अनादि है। सृष्टि एवं संहारों की परम्परा जैसे अनादि है, ठीक वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय से तपोबलात् मन्त्र-प्रतिभानरूप मन्त्रदर्शन की कल्पना दम्भ-मात्र है।' क्योंकि दाम्भिकत्व-साधन में कोई प्रमाण नहीं है। 'किन्हीं दाम्भिक व्यक्तियों ने या समुदायों ने तादृक् मन्त्रों का

Scanned by CamScanner

निर्माणकर त्याग एवं तपोमय जीवन निर्वाह करते हुए बहुजनसम्मान के आस्पद होकर स्वरचित मन्त्रों की अपौरुषेयता प्रख्यापित कर दी होगी', इत्यादि कल्पनाएँ निराधार हैं। दम्भ लाभ, सत्कार या ख्याति के लिए ही होता है। जिन्होंने इतने महत्त्वपूर्ण मन्त्रों का निर्माणकर निर्मातारूप में अपना नाम भी नहीं रखा और कठोर त्याग एवं तप का आचरण किया तथा मन्त्राभ्यासरूप धर्माचरण में संलग्न रहकर सम्मान एवं प्रतिष्ठा को विष समझते हुए उनसे दूर रहकर धर्म का प्रसार किया, उनमें दम्भ का क्या उद्देश्य हो सकता है, यह तो कल्पक ही समझ सकता है।

"विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलापि वा।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः॥"

—(न्यायकुसुमांजलि, १ स्तबक)

न्यायकुसुमाञ्जलिकार ने इसका पर्याप्त खण्डन करते हुए स्पष्ट किया है कि अनादिकाल से प्रचलित यज्ञादि की परम्परा के मूल में विप्रलम्भ आदि कदापि नहीं हो सकते। अर्थात् यदि सभी कार्यकारणभाव भौतिक परिणति ही है, तब कोई परलोकार्थी इष्टापूर्त में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। क्योंकि निष्फल एवं दुःखमात्र फलवाले कर्मों में किसी एक की भी प्रवृत्ति नहीं होती, फिर जनसमूह की तो बात ही क्या?

यह भी कहना ठीक नहीं कि लाभ, पूजा, ख्याति आदि के लिए इष्टापूर्त में लोगों की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि लाभ, पूजा

Scanned by CamScanner

आदि किस प्रकार सम्भव होगा ? इष्टापूर्त में प्रवृत्ति स्वरूपतः लाभ आदि का कारण हो नहीं सकती। प्रत्युत यज्ञादि कर्म करने में परिश्रम एवं धन-व्ययरूप दुःख ही होता है। कोई यज्ञादि-कर्ता का दान भी मान से पूजन क्यों करेगा यदि यज्ञादि से लौकिक लाभ होता हो, तो नास्तिक को भी यज्ञादि करना चाहिए। सम्भोगादि से लौकिक सुख होता है, तो उनमें नास्तिक की भी प्रवृत्ति होती ही है।

कहा जाता है कि 'ख्याति एवं लोकानुराग के सम्पादनार्थ ही लोग यज्ञादि-कर्ता को दान आदि करते हैं।' पर वह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा दान तो नट, भट तथा राजनीतिक लोगों को ही दिया जाता है। कारण उन्हींके द्वारा ख्याति आदि सम्भव है। जो यज्ञादि क्लेशकारक कर्मों में लगा है, उसे देने से ख्याति आदि कैसे होगी ? वह तो तभी सम्भव है, जब जनता को यज्ञादि के प्रति पूर्ण विश्वास हो, परलोक में विश्वास हो, 'यज्ञादि परलोक के साधन हैं' इस सिद्धाँत में विश्वास हो। तभी जनता याज्ञिक लोगों की पूजा आदि में प्रवृत्त हो सकती है।

कुछ लोग कहते हैं कि वैदिक लोग धूर्त (वञ्चक) होते हैं, परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आखिर वञ्चकता भी किस-लिए ? किसी दृष्ट प्रयोजन के लिए ही वञ्चना की जाती है। यज्ञादि से कोई दृष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि 'सुख के लिए यज्ञ एवं तपरूप वञ्चना भी की जाती है', तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि फिर तो नास्तिकों को भी ऐसा करना

Scanned by CamScanner

चाहिए। अतः मानना पड़ेगा कि यज्ञ, तप आदि अदृष्ट परलोक के लिए ही होता है, वञ्चनादि के लिए नहीं।

कुछ लोग कहते हैं 'कि पूर्व-पूर्व वैदिकवृद्धों ने बालकों की वञ्चना के लिए ही यज्ञ, तप आदि किये थे। अतः यज्ञादि-व्यवहार वञ्चनामूलक ही हैं। वे पारलौकिक फल के लिए नहीं किये जाते और न वे परलोक में प्रमाण ही हैं।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ प्रश्न होगा कि वृद्धों ने भूलकर ऐसा किया था या जान-बूझकर? यदि भूल से ऐसा किया, तब तो वह वञ्चना नहीं कही जा सकती। लौकिक क्लेश दुःखों से पूर्ण महायज्ञों को स्वयं करना और फिर दूसरों को भी वैसा करने का उपदेश देना वञ्चना नहीं। यदि वे स्वयं नहीं करते, केवल दूसरों को ही उपदेश देते, तो वह वञ्चना कही जा सकती थी। यह प्रसिद्ध है कि जिस भोजन में दोष की शंका होती है, वृद्ध लोग पहले स्वयं उसे खाकर बाद में बालकों को खिलाते हैं। इसी तरह वृद्धों ने पहले स्वयं यज्ञ, तप, दानादि कर्मों का अनुष्ठान किया, बाद में औरों को उपदेश दिया। भ्रम में ऐसा किया, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जबतक फलबाध का निर्णय न हो जाय, तबतक उनका ज्ञान मिथ्या नहीं कहा जा सकता। यदि कहें कि जान-बूझकर वञ्चना की, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि कोई भी जान-बूझकर अपने पुत्रों को अनर्थ के मार्ग में नहीं लगाता, तो वैदिक वृद्ध ही स्वयं अपने आप को और अपनी सन्तानों को ऐसे अनर्थकारी कार्यों में क्यों लगाते? बालक ही नहीं, किन्तु वृद्ध

Scanned by CamScanner

भी पूर्ववृद्धों के अनुसार ही यज्ञ, तप, दान आदि में संलग्न होते हैं।

यदि कहा जाय कि 'अनादिकाल से ही वञ्चकों की यह परम्परा चली आ रही है। पूर्वपूर्व वञ्चकों के उपदेशों से उत्तरोत्तर वञ्चक यज्ञादि का अनुष्ठान करते चले आ रहे हैं', तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि यज्ञादिकों की अनादि-परम्परा मान्य है, तब उसे वञ्चना नहीं कहा जा सकता। ऐसी अनादि परम्परा की वञ्चना में कुछ प्रमाण नहीं है। अनादि वञ्चना न दृष्ट है और न श्रुत ही। जो व्यवहार अनादि काल से चला आता है, वह निर्दोष ही होता है, जैसे जगत् की सृष्टि और प्रलय का प्रवाह। अनादि-व्यवहार के विरुद्ध नवीन व्यवहार ही वञ्चनामूलक माना जाता है। इस तरह अनादि-परम्परा के विरुद्ध उसकी निन्दा करना ही वञ्चना सिद्ध होती है।

कोई भी विप्रलम्भक दूसरों को ही ठगता है, पर अपने आप को नहीं। यदि कहा जाय कि वे विप्रलम्भक भी अपने से पूर्व विप्रलम्भकों द्वारा ठगे गये हैं, तो यही कहना पड़ेगा कि उनमें कोई भी विप्रलम्भक नहीं है। सभी पूर्वपरम्परा के अनुसार ही स्वयं यज्ञ, तप, दान आदि करते हैं तथा दूसरों को उपदेश देते हैं। यदि कहा जाय कि 'किसीने सबसे पहले यज्ञ, तप, दानादि का स्वयं ही अनुष्ठान किया और उसीने दूसरों को उपदेश देकर यज्ञादि में प्रवृत्त किया। तभीसे यह परम्परा चल पड़ी', तो वह भी ठीक नहीं। कारण, जबतक कोई प्रमाण न हो, तबतक ऐसी कल्पना श्रद्धेय कैसे हो सकती है? युक्ति से तो

अनादि-व्यवहार से सृष्टि-प्रलय के अनुसार इसकी अनादिता एवं निर्दोषता ही मालूम पड़ती है।

पुराणादि से यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा में अपने पुत्र नारदादि को यज्ञ, तप, दान आदि का उपदेश दिया। बड़े-बड़े महापुरुषों ने स्वयं यज्ञ, तप आदि किया और अपनी सन्तानों को उपदेश दिया। कोई भी जान-बूझकर अपनी सन्तानों को असन्मार्ग का उपदेश नहीं देता। मानना पड़ेगा कि धूर्त चतुर होता है। फिर कोई चतुर अपने सन्तान को ही ठगने की मूर्खता कैसे करेगा? फिर क्या ऐसा धूर्त भी संसार में किसीने कभी देखा है, जो अन्य लोगों के लिए अनेक सुखजनक जीविकाओं का उपदेश करे और अपने तथा अपने कुटुम्ब के लिए उञ्छ, शिलवृत्ति का वरण करे? सर्वस्व दक्षिणा देकर अपने आपको अग्निकुण्ड में होम दे? सर्वस्व-विमुख रहकर और सर्वबान्धओं का परित्यागकर ब्रह्मचर्य से जीवन बिताये? विविध प्रकार के तप-उपवासों से आत्मा को खतरे में डाले और फिर ऐसे व्यक्ति का लोग भी अनुकरण करें? फिर इस प्रकार का महातपा प्रतारक है, यह भी किस प्रमाण से समझा जाय? क्या प्रतारण-सुख इतना उत्कृष्ट है कि उसकेलिए इतने दुःखजाल का वरण किया जाय? "किमसौ लोकोत्तर एव यः सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखविमुखो ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया केवलपरवञ्चन कुतूहली यावज्जीवमात्मानमवसादयति? कथञ्चैनमेकं प्रेक्षापूर्वकारिणोऽनुविदध्युः? न ह्येतावतो दुःखराशेः प्रतारणसुखं गरीयः।"

'सभी पाखण्डी हैं' ऐसा कहनेवाला स्वयं भी पाखण्डी ही

Scanned by CamScanner

समझा जायगा, क्योंकि सबमें वह भी आ ही गया ! यदि वह अपने को बचाना चाहे, तो उसे विवेक अवश्य करना पड़ेगा— जहाँ कोई लौकिक स्वार्थ उपलब्ध हो, वहीं पाखण्डीपन की कल्पना करनी होगी, हर जगह नहीं। अतः मानना पड़ेगा कि जैसे अनादि काल से भूख मिटाने के लिए भोजन एवं प्यास बुझाने के लिए पानी पीने की परम्परा प्रचलित है, वैसे ही यज्ञादि की परम्परा भी अनादिकाल से ही प्रचलित है।

इसी तरह यह भी कल्पना निराधार है कि 'यजुः एवं साम के पाठ की अपेक्षा ऋक्-संहिता का पाठ भिन्न होने से यजुः एवं साम-संहिता की अपेक्षा ऋक्-संहिता नवीन है।' क्योंकि वेदों में लौकिक ग्रन्थों के समान पाठ-परिवर्तन भ्रमादिमूलक या परिष्कारादिमूलक नहीं, किन्तु शाखाभेद-मूलक ही है। केवल आजकल प्रचलित 'शाकली-संहिता ही 'ऋक्-संहिता' शब्द से ग्राह्य नहीं है। किन्तु अनेक लुप्त संहिताएँ भी ऋक्-संहिताएँ ही थीं। उनके पाठ के अनुसार ही यजुः एवं साम-संहिताओं की ऋचाओं का पाठ है। ऐसी दशा में उन ऋचाओं का आजकल प्रचलित ऋक्-संहिता की ऋचाओं से पाठभेद भी हो, तो भी कोई हर्ज नहीं। शाकली-संहिता का पाठ जैसा तब था, वैसा अब भी है। उसके नवीन होने की कल्पना व्यर्थ है।

यह प्रश्न भी व्यर्थ है कि 'यजुः एवं साम की किस संहिता की ऋचाओं का पाठ शाकली-संहिता के मन्त्र के पाठ के अनुसार है ?' क्योंकि यजुः एवं साम की लुप्त संहिताओं में से किसीका भी पाठ वैसाहोगा। यह कोई नियम नहीं कि यजुः एवं साम-

Scanned by CamScanner

संहिता का सारा पाठ ऋक्-संहिताओं के पाठ के अनुसार ही हो। अतः यदि शाकली-संहिता के पाठ के अनुसार किसी यजुः एवं साम-संहिता का पाठ न हुआ, तो भी कोई हानि नहीं। सुस्पष्ट है कि वेदों में पाठभेद सर्वथा अमान्य है। जो पाठभेद हैं भी, वे अनादि और लुप्त संहिताओं के ही हैं। अतः 'आगे-पीछे प्रचार से पाठभेद हो गया' इत्यादि कथन निराधार ही है।

सभी वेद अनादि हैं। कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेद को स्थान-स्थान से निकालकर उसका जो संकलन मात्र किया, उसीको संहिता कहा गया है। इतने मात्र से संहिताएँ पुरुष-रचित सिद्ध नहीं हो सकतीं।

वेबर ने संहिताओं में प्राचीनता, नवीनता की बात तो कह डाली। किन्तु उसको भी इस निर्णय में सन्देह बना ही रहा। तभी तो उसने कहा है—'ऋक्-संहिता यजुः एवं साम-संहिताओं की अपेक्षा प्रथम बनी होगी अथवा पश्चात् अथवा साथ ही।' ये बातें वैसे ही सारशून्य हैं, जैसे कोई कहे कि 'दो में से एक बात अवश्य है, देवदत्त मर गया होगा अथवा जीता होगा।' इन सब बातों से संहिताओं की अनादिता एवं अपौरुषेयता ही सिद्ध होती है।

'जो ऋचाएँ साम-संहिता में आती हैं, वे संशोधन से सिद्ध हुई हैं' यह कथन भी निराधार है। क्योंकि प्राचीन एवं नवीन व्याकरणों में शब्दों के साधुत्व में परस्पर विरोध नहीं होता। नवीन व्याकरण प्राचीन व्याकरण का अनुसारी ही होता है। संहिताओं के पाठभेद अनादि हैं, यह कहा ही जा चुका है।

Scanned by CamScanner

यदि वेद रचित होते, तब तो शब्दों के साधुत्व में भेद की शङ्का भी हो सकती थी। किन्तु जब वेद का पौरुषेय होना सिद्ध नहीं हुआ, तब तो उनकी अनादिता ही सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति में उनके शब्दों का साधुत्व-भेद भी अनादि ही सिद्ध होता है। लौकिक वाक्यों की रचना तो व्याकरणानुसार होती है, परन्तु वैदिक वाक्य अनादि होते हैं। अतः वैदिक वाक्यों के अनुसार ही ऋषियों को व्याकरण की रचना करनी पड़ती है, जैसा कि इस सूत्र से स्पष्ट है "छन्दसि दृष्टानुविधिः।" अर्थात् वेद में यथादर्शन ही विधान होता है। ऐसी स्थिति में व्याकरण के अनुसार वैदिक पाठभेद का निर्णय कदापि नहीं हो सकता।

इस तरह जब वेद का रचितत्व ही असिद्ध है, तब 'सिन्धु-तीर पर उसकी रचना हुई' आदि तो सर्वथा असिद्ध ही है। 'कुछ ऋचाएँ आर्य लोग अपने साथ पूर्वनिवासस्थान से लाये और कुछ सिन्धुतट पर बनीं, परन्तु उन सबका संग्रह और क्रमस्थापन आर्य-देश में ही हुआ', यह सब कथन भी अटकल-बाजी ही है। वस्तुतः वेद के सभी अंश अनादि हैं। भागवत आदि पुराणों के अनुसार व्यास द्वारा द्वापरयुग के अन्त में उनका संग्रह एवं क्रमस्थापन मात्र हुआ।

शाकल्य, पाञ्चाल, बाभ्रव्य आदि को संहिताक्रम का व्यवस्थापक मान भी लिया जाय, तो भी मन्त्रों की अनादिता में कोई बाधा नहीं पड़ती। क्रम के व्यवस्थापन और 'रचना' भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। वस्तुतः वेद में शाकल्य आदि की कथाएँ आख्यायिका मात्र हैं। उनका अपने अर्थ में तात्पर्य ही नहीं है।

Scanned by CamScanner

इन आख्यायिकाओं का प्रयोजन सुखपूर्वक विषयावबोध मात्र है, यह अर्थवाद-प्रकरण में कहा ही जा चुका है। विदेह, पाञ्चाल आदि शब्द देशविशेषरूप अनित्य अर्थ के बोधक नहीं हैं। किन्तु अनेक सृष्टियों में वर्तमान विदेह आदि देशों की परम्परा अथवा विदेहत्व आदि नित्य जातियाँ ही उन शब्दों के अर्थ हैं। अतः वेद को अनित्यार्थ-प्रतिपादक मानकर 'सादि' नहीं कहा जा सकता। वेद के 'लुङ्' आदि भूतकाल के बोधक नहीं होते। अतः किसी संहिता या ब्राह्मण को प्राचीन या नवीन नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह साम-संहिता में किसी ऋङ्मन्त्र के न रहने मात्र से ऋक्-संहिता के किसी भाग को नवीन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सामवेद की सहस्रशाखाएँ थीं। उनमें से कुछ को छोड़कर सभी लुप्त हैं। उन्हीं लुप्त शाखाओं में उन ऋङ्-मन्त्रों का अस्तित्व सम्भव है, जो इस समय उपलब्ध साम-संहिता में नहीं मिल रहे हैं। यह नियम भी नहीं है कि ऋक्-संहिता के सभी पाठ साम-संहिता में हों ही। साम तो गानरूप ही है। जितनी ऋचाओं में साम-मन्त्र के गान होते हैं, उतनी ही ऋचाएँ साम-संहिता में आती हैं। जिनमें साम-गान नहीं होता, वे साम-संहिता में नहीं आतीं। अतः साम-संहिता में ऋङ्-मन्त्रों का अभाव मात्र देखकर ऋक्-संहिता की नवीनता की कल्पना करना व्यर्थ है। सभी ऋचाएँ अनादि ही हैं। अतएव 'ब्राह्मण जाति के लोगों ने वेदों को रचा' इत्यादि कथन भी निराधार ही है।

Scanned by CamScanner

यजुर्वेद में मेगस्थनीज द्वारा वर्णित किसी मनुष्य का नाम मिलने मात्र से यजुर्वेद का ईसा से पूर्व तृतीय शतक में निर्माण मानना भी निराधार है। अनादि संसार में नाम, ग्राम का ठिकाना नहीं होता, यह ग्रामीण भी जानते हैं। मेगस्थनीज द्वारा वर्णित नाम को यजुर्वेदनिर्दिष्ट नाम का अपभ्रंश मानना वैसी ही मूर्खता है, जैसे 'गिर्जाघर' को 'गिरजाघर' का अपभ्रंश मानना। आख्यायिकाओं एवं प्रहेलिकाओं के आधार पर या उनमें आये हुए किसी नाम के आधार पर कोई भी बुद्धिमान् इतिहास की कल्पना नहीं कर सकता।

अथर्वसंहिता के गीत ऋक्-संहिता के गीतों के समान नहीं, किन्तु वे ही हैं। क्योंकि पादव्यवस्था ऋचाओं का लक्षण है। अतः उक्त लक्षणलक्षित मात्र चाहे अथर्व के हों, चाहे ऋक् के, सभी ऋचाएँ ही हैं। ऋक्संहिता में जितने मन्त्र पढ़े गये हैं, उतनी ही ऋचाएँ नहीं हैं। वेद की कथाएँ कल्पित आख्यादिकारूप ही होती हैं। वैसे ही कलह की आख्यादिकाएँ भी अर्थवाद ही हैं। अतः ऐसी आख्यादिकाओं का तात्पर्य ऋग्वेद आदि की प्रशंसामात्र में ही है, अथर्ववेद की निन्दा में नहीं। क्योंकि 'शबरस्वामी' के अनुसार "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुम्" निन्दा का तात्पर्य निन्द्य की निन्दा में नहीं होता, अपितु विधेय की स्तुति में ही होता है।

इसी तरह ऋक् में प्राचीन ब्राह्मण-खण्ड और नवीन ब्राह्मण-खण्ड की कल्पना भी निराधार है, क्योंकि जैसे सभी मन्त्र

Scanned by CamScanner

अनादि हैं, वैसे ही सभी ब्राह्मण भी अनादि ही हैं। इन्हीं सब आप्त-दृष्टियों के अनुसार यह भी कहना असंगत है कि 'प्राचीन ब्राह्मण-खण्डों में अथर्वगीतों का उल्लेख न होने से अथर्व-संहिता अर्वाचीन है।'

ब्राह्मणभागों की रचना और समय की कल्पना भी निराधार ही है, यह पूर्वोक्त युक्तियों से सिद्ध है। ब्राह्मणभागों में जो ऋग्वेदविषयक आख्यादिकाएँ हैं, उनको पौराणिक उपाख्यानों के साथ जोड़कर 'वेबर' ने यह सिद्ध करने का निष्फल प्रयास किया है कि 'अमुक का संबन्धी अमुक समय में हुआ है।' ये ही सब बातें समाजी भी कहते हैं। परन्तु वैदिक लोग तो अर्थवादाधिकरण के अनुसार इन सबका वाच्यार्थ में तात्पर्य न मानकर प्रशंसा में ही तात्पर्य मानते हैं, जिससे 'वेबर' की सभी कल्पनाएँ स्वतः ध्वस्त हो जाती हैं।

इसी तरह 'वेबर' ने शुक्लयजुःसंहिता के सोलहवें अध्याय को (जो ६६ मन्त्रों से युक्त है और 'रुद्राध्याय' नाम से प्रसिद्ध है) पीछे से मिलाया हुआ कहा है। परन्तु यह भी असंगत है, क्योंकि संहिता के संकलयिता व्यास ने महाभारत के द्रोणपर्व के २०३ वें अध्याय में रुद्रस्वरूपी भगवान् का माहात्म्य पर्याप्त रूप में वर्णन करते हुए उक्त अध्याय के ११८ वें श्लोक में कहा है—

"वेदे चास्य समाम्नातं शतरुद्रीयमुत्तमम्।
नाम्ना चानन्तरुद्रेति ह्युपस्थानं महात्मनः॥"

Scanned by CamScanner

अर्थात् वेद की शुक्लयजुःसंहिता में "नमस्ते रुद्रमन्यवे" इत्यादि मन्त्रों का पूर्ण प्रपाठक पढ़ा हुआ है, जो सारा शिवजी का प्रतिपादक है और रुद्रोपस्थान-मन्त्रों का समूह होने से 'शत-रुद्रीय' कहा जाता है। इसके साथ ही 'सास्य देवता' (पा० ४।२।२४) इस सूत्र के अर्थ के प्रसङ्ग में 'शतरुद्राश्च' इस वार्तिक द्वारा कात्यायन ने 'शतरुद्रीय' शब्द के साधुत्व का भी स्मरण किया है। 'शतपथ' में भी रुद्राध्याय का विशेष प्रयोग विहित है। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वेद में रुद्राध्याय पीछे से नहीं मिलाया गया, बल्कि अनादि काल से ही है।

सारांश, (१) वेदभाग के नामों तथा वेदोक्त नामों के अक्षरार्थों को व्याकरणमात्र के अनुसार लगाकर किसी विषय की कल्पना करना, (२) पुराणोक्त और वेदोक्त कुरु, पाञ्चाल आदि नामों के अन्योन्य एक-से होनेमात्र से किसी विषय की कल्पना करना, (३) वेदों की आख्यायिकाओं में यथार्थ वृत्त समझकर किसी विषय की कल्पना करना, (४) वेद के एक ही संहिताभाग या ब्राह्मणभाग के न्यूनाधिक होने के ज्ञान से किसी विषय की कल्पना करना तथा (५) वेद में किसी विषय की चर्चामात्र होने से किसी बात की कल्पना करना—ये ही पाँच प्रकार के बेबर आदि के विचार हैं। समाजी भी बहुत कुछ अंशों में उन्हींके शिष्य है।

आधुनिक लोग अपने विचार के प्रसङ्ग में कहते हैं कि 'शुक्ल-यजुः एवं कृष्णयजुः इन दो ढङ्ग के नामों का यही मूल कारण है कि कृष्णयजुर्वेद में जो यज्ञ आदि बिना किसी क्रम के सन्दि-

ग्ध रीति से मिले-जुले शब्दों में अस्पष्ट रूप से वर्णित हैं, वे ही सब शुक्ल-यजुर्वेद में निश्चित रीति से प्रामाणिक व्याख्यान द्वारा उत्तम एवं क्रमबद्ध विभाग के साथ वर्णित हैं।' द्विवेद गङ्ग ने 'शुक्लानि यजूंषि'का ऐसा ही अर्थ किया है, जो शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यक के परिशिष्ट में भी है। समाजी तो इन्हीं दुष्कल्पनाओं से कृष्णयजुर्वेद को वेद ही नहीं मानते तथा ब्राह्मणमिश्रित होने से कृष्णयजुः में कृष्णता और ब्राह्मणमिश्रित न होने से शुक्लयजुः में शुक्लता है—ऐसा भी कहते हैं। इसमें अतिरिक्त उन लोगों की और भी अनेक ऐसी कल्पनाएँ हैं। परन्तु वे सब असङ्गत हैं।

'तैत्तिरीय, खाण्डकीय, कृष्णयजुः, शुक्लयजुः' आदि नामों के केवल प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार अर्थ लगाकर उसके बल पर वेदों एवं उनके नामों को पौरुषेय और आधुनिक मानना वैसे ही मूर्खता है, जैसे कि 'व्याघ्र गो' आदि लौकिक नामों का प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार अर्थ करना। 'गम्' धातु से औणादिक 'डोस्' प्रत्यय करने पर 'गो' शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार तो 'चलनेवाला' ही 'गो' हो सकता है। परन्तु व्यवहार में तो बैठी, सोयी या मरी गाय को भी 'गो' कहते हैं। 'घ्रा' धातु का 'सूंघना' अर्थ है, विशेषरूप से चारों ओर से सूंघनेवाले को ही व्युत्पत्ति के अनुसार 'व्याघ्र' कह सकते हैं। किन्तु इतना ही समझकर कोई शुष्क वैयाकरण व्याघ्र के पास चला गया। जब व्याघ्र के आक्रमण से विदीर्ण होकर मरने लगा, तब उसने कहा—'रे रे शुष्क शाब्दिको! घ्रा धातु का हिंसा भी अर्थ है।'

Scanned by CamScanner

निष्कर्ष यह है कि वेदभाग के नामों का केवल प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार ही अर्थ नहीं लगाना चाहिए। 'निरुक्त' आदि में प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार अर्थ कहा गया है। पर उसका यह तात्पर्य नहीं है कि 'उनका लोकप्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ है। किन्तु प्रकृति-प्रत्यय-ज्ञानपूर्वक वैदिक शब्द के पाठ से पुण्य एवं यज्ञ की सिद्धि होती है। अतः यथासंभव प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार ही अर्थ लगाना चाहिए। इसीलिए कहीं संज्ञा-शब्दों का प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर अन्य अर्थ किया जाता है, क्योंकि व्युत्पत्तिमात्रलभ्य अर्थ की अपेक्षा किसी प्रसिद्ध दूसरे अर्थ के साथ उस शब्द का सम्बन्ध करना आवश्यक रहता है।

अनादि वेद में तैत्तिरीय आदि संज्ञाएँ भी अनादि ही हैं। पुराणों में जो उन नामों से कथाएँ आदि आती हैं, वे भी आख्यायिकामात्र हैं। इस कारण उन आख्यायिकाओं का उन वेदभागों की प्रशंसा मात्र में ही तात्पर्य है, अपने वाच्यार्थ में नहीं। रूढ़ि की अपेक्षा न कर यौगिक अर्थ सर्वत्र आदरणीय नहीं होता। जब तत्-तत् भाषाओं की आधुनिक संज्ञाओं में अन्वर्थता आवश्यक नहीं होती, तब फिर स्वाभाविक, अनादि, वैदिकी संज्ञाओं के लिए अन्वर्थता का आवश्यक न होना 'कैमुतिक' न्याय से स्वतः सिद्ध है।

मान भी लिया जाय कि तैत्तिरीय आदि संज्ञाओं का प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार ही अर्थ है, तो भी वेद आधुनिक एवं पौरुषेय नहीं हो सकते। कारण 'तित्तिरि आदि ऋषि जिन वेदभागों का अध्यापन करते थे अथवा तित्तिरि

Scanned by CamScanner

आदि के छात्र जिन वेदभागों को पढ़ते थे, उनका तैत्तिरीय' आदि नाम पड़ा। इसी तरह याज्ञवल्क्य द्वारा छर्दित यजुः को तित्तिरि होकर जिन ऋषियों ने ग्रहण किया, उनके सम्बन्ध से तैत्तिरीय नाम पड़ा' इत्यादि आख्यायिकाओं के अर्थवाद होने से उनका वाच्यार्थ में तात्पर्य न मानकर केवल शुक्लयजुः की प्रशंसा में ही तात्पर्य माना जाता है।

ऊपर निर्दिष्ट प्रथम तृतीय एवं चतुर्थ रीति के उदाहरण के अनुसार ब्राह्मणभागों पर बेबर के विचार निम्न प्रकार के हैं—

"ब्राह्मण-निर्माण का समय वैदिक-सभ्यता और ज्ञानोन्नति के परिवर्तनकाल से लेकर जब ब्राह्मण लोगों की दार्शनिक और सामाजिक नीति का आविर्भाव हुआ, उसके बाद का है। इतना ही नहीं, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थ इस कार्य में सहायक भी हुए थे। उनमें से कई तो उसके आरम्भ के समय से सम्बन्ध रखते हैं और कई दूसरे उसके समाप्ति के समय से। ब्राह्मण-ग्रन्थों की आधारभित्ति प्रत्येक ऋषि की भिन्न-भिन्न मनोऽनुरूप वे कहावतें थीं, जो उनके कुल एवं शिष्य गणों में सुरक्षित एवं न्यूनतापूर्तिसहित चली आती थीं। ये कहावतें जितनी अधिक भिन्न होती गयीं, उतनी ही अधिक आवश्यकता इनकी एकवाक्यता करने की हुई। इसी अभिप्राय से अपने-अपने आचार्यों के नामोल्लेखपूर्वक उनका संकलनकर निपुण मनुष्यों ने ब्राह्मणान्तरों को रचा और प्रचारित किया। वे संग्रह-ग्रन्थ उस समय लिखित थे या मौखिक ही प्रचारित किये जाते थे, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। किन्तु एक ही ग्रन्थ

Scanned by CamScanner

एवं एक ही विषय में भिन्न-भिन्न तात्पर्यवाले पाठ मिलते हैं, अतः सम्भावना यही होती है कि लिखित नहीं थे। ब्राह्मणग्रंथों में ग्रन्थकारों के अन्य लोगों से मतभेदों का भी वर्णन है। अतः उन लोगों में विवाद रहता था, यह भी सम्भावित है। अतएव एक ब्राह्मण-ग्रन्थ द्वारा बाधित अन्य ब्राह्मणग्रन्थ लुप्त भी हो गया। शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण में पहले ६० ही अध्याय थे, अब १०० मिलते हैं। यह ब्राह्मण तो अपनी संहिता का एक प्रामाणिक व्याख्यान माना जा सकता है। यह संहिता की आनुपूर्वीका लगातार ऐसा अनुसरण करता है कि यदि एक या दो ऋचाओं को छोड़ दें, तो हम लोग ऐसा निगमन करने में निर्दोष ठहरते हैं कि उस समय ये ऋचाएँ संहिता में नहीं डाली गयी थी।"

किन्तु उपर्युक्त कथन सर्वथा निःसार है, क्योंकि ब्राह्मण एवं तद्गत ताण्ड्य आदि नामों के आधार पर की गयी ये कल्पनाएँ इसीलिए सर्वथा असङ्गत ठहर जाती हैं कि कंठ आदि संज्ञाओं के समान ही ब्राह्मण एवं ताण्ड्य आदि संज्ञाएँ भी सर्वथा अनादि ही हैं। प्रवचन आदि से ये संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं, रचना के कारण नहीं। यद्यपि ताण्ड्य आदि नाम अध्यापन एवं रचना दोनों ही प्रकार से सिद्ध हो सकते हैं, तथापि अध्यापन उभयसंमत है, रचना वैदिकों का सम्मत नहीं। अतः इन नामों को अध्यापनमूलक मानना ही उचित है। ऐसी स्थिति में ऐसे ढङ्ग के नामों के आधार पर 'अमुक-अमुक समय, अमुक-अमुक ब्राह्मण ने अमुक-अमुक ब्राह्मणग्रन्थ रचा' इत्यादि कल्पनाएँ निःसार

Scanned by CamScanner

हैं। ज्ञान, धर्म आदि की उन्नति एवं अवनति में ब्राह्मणग्रन्थों के प्रचार का विकास एवं ह्रास ही कारण है, निर्माण नहीं।

जो यह समझा जाता है कि 'प्राचीन काल में ये ग्रन्थ लिखित नहीं थे, इसीलिए इनमें पाठभेद जुटता गया', वह भी ठीक नहीं है। आज मुद्रणकाल का पूर्ण विकाश है, तो भी ग्रन्थों में पाठभेदों की भरमार है ही। वेद तो अनुश्रव हैं ही। अतएव वे गुरुपरम्परा से सुने जाते हैं, किसीसे निर्मित नहीं होते। उनमें पाठभेद की कल्पना भी नहीं हो सकती। उनमें मात्रा, स्वर आदि का भी भेद नहीं पड़ सकता—यह पद, क्रम आदि विकृतियों से स्पष्ट है। आज भी घनान्ती ऋक्वेदी ऋग्संहिता का घानान्त पाठ करता है। दूसरे लोग पुस्तक लेकर मिलान करते हैं। पुस्तक का पाठ भले ही अशुद्ध हो, पर घनान्ती का पाठ कभी भी अशुद्ध नहीं होता। अतएव पुस्तकें कण्ठपाठ से ही शुद्धि की जाती हैं। आज मुद्रण के कारण लोगों की धारणा-शक्ति नष्ट हो गयी, अतएव कितने ही ग्रन्थ लुप्त हो गये। वेद तो ईश्वर, ब्रह्मा एवं ऋषियों की परम्परा से कण्ठस्थ ही रखे जाते थे। आज भी वैदिक लोग उन्हें कण्ठस्थ ही रखते हैं, जैसा कि वाल्मीकीय-रामायण के इस वचन वाक्य से स्पष्ट है—

"हृदयेष्वेव तिष्ठन्ते ये वेदा नः परं धनम्।"

वेबर का यह भी कहना है कि "शाकली-संहिता' इस नाम से ही मालूम पड़ता है कि इसका शाकल्य ऋषि से सम्बन्ध है। 'शाकल्य' की चर्चा ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं सूत्रों में मिलती है।

Scanned by CamScanner

निरुक्तकार यास्क ने शाकल्य को ही ऋक्-संहिता के पदपाठ का निर्माता कहा है।

"शुक्लयजुर्वेद के 'शतपथ-ब्राह्मण' में तो यह भी कथा आती है कि याज्ञवल्क्य के समय विदेहराज जनक की सभा में 'विदग्ध' उपनाम के एक शाकल्य याज्ञवल्क्य के प्रतिस्पर्धी प्रवक्ता थे। याज्ञवल्क्य ने उनको पराजितकर शाप दे दिया, जिससे उनका सिर गिर गया। उनकी अस्थियों को भी चोर चुरा ले गये। इसी ब्राह्मण के द्वितीयभाग में वार्कली (बाष्कलि) की भी अध्यापकों में गणना है। शाङ्खायन आरण्यक एवं ऐतरेय-आरण्यक में भी वार्कली की चर्चा है। पुराणों में शाकलों का शुनकों से सम्बन्ध मालूम पड़ता है।

"कहा जाता है कि 'शौनक ने ऋग्वेद की रक्षा के लिए ऋषि, छन्द, देवता, अनुवाक और सूक्तों की अनुक्रमणी बनायी थी। 'बृहद्देवता', 'ऋग्वेद-प्रातिशाख्य', ऐतरेयकसम्बन्धी स्मार्तसूत्र एवं कल्पसूत्र भी शौनक ने रचे हैं। परन्तु अपने शिष्य आश्वलायन से रचित कल्पसूत्र देखकर उसने अपने कल्पसूत्र को लुप्त कर दिया।'

"कई लोग यह भी कहते हैं कि 'एक ही शौनक ने इन सब ग्रन्थों को रचा होगा, यह संभव नहीं लगता। किन्तु शाकल-संहिता का द्वितीय मण्डल शौनक ने रचा, यह वृत्त अवश्य सम्भावित है।' यह भी कहा जाता है कि 'ये वे ही शौनक थे, जिनके यज्ञ-महोत्सव में वैशम्पायन के पुत्र सौति ने महाभारत सुनाया था। वैशम्पायन ने हरिवंशसहित इस कथा को ही

Scanned by CamScanner

जनमेजय के लिए कहा था।' इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि शुनकों का वंश ऋग्वेद के प्राचीन ऋषिवंशों से सम्बद्ध था। नूतन समय में भी वह महर्षि-सभा में आदरणीय था।

"इससे यह भी मालूम पड़ता है कि आश्वलायन के गुरु शौनक एवं नैमिषारण्य के यज्ञकर्त्ता शौनक एक ही थे। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण में दो भिन्न-भिन्न शौनक मिलते हैं, एक 'इन्द्रोत' नाम के, जिन्होंने महाभारत के अनुसार जनमेजय के यज्ञ में आर्त्विज्य किया था। दूसरे 'स्वैडायन' औदीच्य नाम के (उत्तर देशनिवासी)।"

वेबर की ये बातें भी अज्ञानमूलक ही हैं। यास्क ने शाकल्य को पदपाठ का निर्माता कहा है, संहिता का निर्माता नहीं। संहिता संग्रह का नाम है और पदपाठ पदच्छेद रूप से पाठ-विशेष की रीति है। संहिता तो व्यास द्वारा सङ्कलित है, शौनक द्वारा रचित नहीं। शाकल्य ने पदपाठ का सम्प्रदाय चलाया था, इसीलिए 'काठक' आदि नामों की तरह उस संहिता का 'शाकली' नाम प्रसिद्ध हुआ। किन्तु 'कठ' आदि की तरह शाकल्य भी अनादि संज्ञा है। अतएव तत्-सम्बन्ध से शाकली यह संहिता की संज्ञा भी अनादि ही है। शतपथ की कथा भी आख्यायिका मात्र है। उसका तात्पर्य अपने वाच्यार्थ में न होकर वेदाभ्यास करनेवाले की प्रशंसामात्र में ही है। "वेदाभ्यास करनेवाले के कह देने मात्र से शत्रु का सिर गिर जाता है, उसके शत्रु का अग्निसंस्कार भी नहीं होने पाता, अस्थियों का भी अपहरण हो जाता है, अतः ब्रह्मवित्

ब्राह्मण के साथ सभ्य बर्ताव करना चाहिए, अभिमान नहीं करना चाहिए' यही सब शतपथ की उक्त कथा का तात्पर्य है।

सुखावबोधार्थ आख्यायिकाएँ होती हैं, यह प्रसिद्ध ही है। लोक में आजकल भी विद्यार्थियों से काल्पनिक आख्यायिकाओं द्वारा गणित आदि के प्रश्न हल कराये जाते ही हैं। 'रामनगर के रामदीन लोहार ने एक रुपये के दस सेर गेहूँ खरीदे, इसी भाव से माधव ने पाँच सौ रुपये के गेहूँ खरीदे, तो किसे कितना गेहूँ मिला' ऐसी काल्पनिक आख्यायिकाओं का वाच्यार्थ में बिल्कुल तात्पर्य नहीं होता। ठीक इसी प्रकार अनादि, अपौरुषेय वेदस्वरूप मन्त्रों एवं ब्राह्मणों द्वारा सुखावबोधार्थ अनेक प्रकार की आख्यायिकाएँ वर्णित होती हैं। उनसे अनभिज्ञों को ही वेदों में पौरुषेयता एवं कालविशेषसम्बन्ध भासित होता है। वेद में किसी भी शब्द का कोई अनित्य व्यक्ति अर्थ नहीं है। वेद नित्य है, अतः वैदिक शब्दों का नित्य जाति ही अर्थ है। यह बात 'औत्पत्तिक सूत्र' में स्पष्ट है।

"आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्" (१।३।३३) इस जैमिनीय सूत्र में कहा गया है कि क्रिया प्रयोजन होने से आकृति अर्थात् जाति ही पद का वाच्य है। यदि व्यक्ति पदों का अर्थ माना जाय, तो "श्येनचितं चिन्वीत" (बाज पक्षी के सदृश आकार का स्थण्डिल या अग्निवेदी बनाये) इस वाक्य का अर्थ ही न बनेगा। कारण, श्येनशब्द का श्येनतुल्य अर्थ किया जाता है। यदि श्येन शब्द का व्यक्ति अर्थ लिया जाय, तो प्रश्न होगा कि वेदी सभी श्येनव्यक्तियों के तुल्य बनायी जाय या किसी एक

Scanned by CamScanner

श्येन व्यक्ति के तुल्य ? एक वेदी सभी श्येनव्यक्तियों के तुल्य-परिमाण, आकार या रूपवाली हो नहीं सकती। यदि किसी एक ही श्येनव्यक्ति के तुल्य वेदी बनायी जाय, तब तो उस व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर श्येनयज्ञ ही नष्ट हो जायगा। यदि कहा जाय कि 'श्येनत्वजाति जिन व्यक्तियों में होती है, उनमें से किसी एक व्यक्ति का सादृश्य ग्रहण किया जाय', तब तो सीधे श्येनत्वजाति को ही श्येनपद का अर्थ मानना उचित है। श्येन व्यक्तियो 'श्येन' पदका अर्थ मानना व्यर्थ ही है। इसी दृष्टान्त के अनुसार सर्वत्र जातिको ही शब्दों का वाच्य मानना उचित है। इसी सूत्र पर भट्टपाद ने कहा है—

"विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।"

अर्थात् जब पद विशेषणभूत जाति का बोध कराकर जाति-वाचक होते हुए चरितार्थ हो गया, तब क्षीणशक्ति हो जाने के कारण वह विशेष्यभूत व्यक्ति का वाचक नहीं हो सकता। जातिबोध से व्यक्ति का बोध नान्तरीयकतया हो जाता है। इस तरह यदि शतपथ आदि की कथाओं को आख्यायिकारूप न माना जाय, तो भी जैसे कठादि शब्द कठत्वादि जातियों के वाचक हैं, वैसे ही शाकल्यादि शब्द शाकल्यत्वादियों जाति के ही वाचक हैं, किसी पुरुषविशेष के वाचक नहीं।

वेद के शब्दों एवं लकारों से कालविशेष का बोध नहीं होता। इससे भी शाकल्यादि के समयविशेष का ग्रहण नहीं किया जा सकता। फिर इस आधार पर वेदों के निर्माणकाल एवं

Scanned by CamScanner

निर्माता के निर्णय की आशा करना वन्ध्या से पुत्र की आशा करना है।

इसी तरह वार्कलिनों की कथा भी आख्यायिकामात्र है, जिसमें "अशीतिसहस्रं वार्कलिनो बृहतीरहरहरभिसम्पादयन्ति" इत्यादि कहा गया है। अस्सी हजार वार्कलीन नहीं हो सकते। यद्यपि 'वृकलिन के अपत्य वार्कलिन हैं' ऐसी व्युत्पत्ति प्रतीत होती है; तथापि वह किसी पुरुषविशेष का नाम नहीं है। बाष्कल तो वार्कलिनों से सर्वथा भिन्न ही हैं। अतः 'बाष्कल' का अपभ्रंश 'वार्कलि' नहीं हो सकता। संस्कृत शब्द एक दूसरे के अपभ्रंश नहीं माने जाते। 'शुनक' नाम एक गोत्र का है, उसमें समय-समय पर सहस्रों ऋषि हुए। उनमें से कतिपय ऋषियों ने गोत्र (शौनक) नाम से अनेक ग्रन्थों को रचा हो, तो यह निर्णय नहीं हो सकता कि किसने कौन ग्रन्थ रचा। जो विषय जैसा होता है, विद्वान् लोग उसे वैसा ही लिखते हैं। अतः विभिन्न विद्वानों के लेखों में भी किसी विषय में एकता हो सकती है। इससे गोत्र-नाम से लिखनेवाले विभिन्न विद्वानों को अभिन्न ही मानना तर्कसंगत नहीं।

'शाकली-संहिता का द्वितीय मण्डल ही शाकल्य द्वारा रचित है', यह कहना सर्वथा निष्प्रमाण है। 'लोग कहते हैं' इत्यादि लोकोक्ति तब-तक प्रमाण नहीं हो सकती, जबतक वह प्रामाणिक ग्रन्थसम्मत नहीं होती, 'बृहद्देवता' ग्रन्थ के रचयिता ही 'नैमिष' के यज्ञकर्ता हैं' इसमें भी कोई प्रमाण नहीं। सौति लोमहर्षण सूत के पुत्र थे, वैशम्पायन के नहीं। इसी तरह

Scanned by CamScanner

आश्वलायन के गुरु शौनक का भी 'नैमिष' के याज्ञिक शौनक से अभेद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शुनकगोत्रोत्पन्न शौनक सहस्रों हुए हैं। फिर उन सबकी एकता कैसे कही जा सकती है?

पुराणों में कोई चरित्र ब्राह्मण-भागों के अनुसार होता है, कोई पुराण-रचयिता के अन्य प्रामाणिक अनुभवों के अनुसार होता है, तो कोई पुराण-रचयिता द्वारा लोकशिक्षार्थ काल्पनिक आख्यायिकारूप होता है। प्रथम ढङ्ग के चरित्र केवल ब्राह्मण-भाग के अनुवादमात्र हैं। वेदाक्षर-श्रवणानधिकारियों को वेदार्थ-ज्ञान, तज्जन्य शिक्षा तथा पुण्यलाभ आदि ही उनका प्रयोजन है। एतादृश पुराण-वचन भी आख्यायिकामात्र हैं, उनका भी अपने स्ववाच्यार्थ में प्रामाण्य नहीं। ऐसी पौराणिकी एवं वैदिकी आख्यायिकाओं का निषेध्य की निन्दा एवं विधेय की स्तुति ही अर्थ होता है। उससे किसी स्त्री-पुरुष का चरित्र-ज्ञान या काल-विशेष का निर्णय नहीं हो सकता। यही स्थिति अन्तिम रीतिवालों पौराणिक 'पुरञ्जनोपाख्यान' आदि की भी है।

मध्य रीति के पौराणिक चरित्रभागों में आनेवाले नाम एवं चरित्र अवश्य ही व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध रहते हैं। यद्यपि उनमें कोई-कोई ब्राह्मणभागीय नामों एवं चरित्रों से मिलते-जुलते हैं, तथापि अभिन्न ही हैं, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पुराण के व्यक्ति आधुनिक हैं और ब्राह्मण-भाग तो अपौरुषेय होने से अनादि है। इसी प्रकार मन्त्रों में भी पुराण के पुरूरवा, उर्वशी, अहिल्या, इन्द्र आदि से मिलते-जुलते नाम आते हैं, तर वे भी उक्त हेतु से उनसे अभिन्न नहीं हैं।

Scanned by CamScanner

नाममात्र के साम्य से यह भी नहीं कहा जा सकता कि वेदोक्त चरित्र ही पुराणों में उपनिबद्ध हैं, क्योंकि वेद के नामों का जाति में ही तात्पर्य होता है, व्यक्तिविशेष में तात्पर्य नहीं। पुराणों के नामों का तो उत्तरभाग के तुल्य व्यक्तिविशेष में भी तात्पर्य होता है। अतः दोनों को भिन्न मानना ही उचित है।

अनादि सृष्टि-प्रलय-प्रवाह में समान आनुपूर्वीवाले नाम और वृत्तों का होना असम्भव नहीं। अतः किसी संबन्ध में वेदों एवं पुराणों का संवाद (ऐकमत्य) काकतालीयन्याय से ही है। उससे वेदों के निर्माण और कालविशेष का निर्णय नहीं हो सकता।

अथवा यदि किसी वैदिक आख्यायिका के अनुसार कभी कोई घटना घटे, तो भी उस घटना के अनुसार वैदिक आख्यायिका का उल्लेख नहीं माना जा सकता। क्योंकि लौकिक आख्यायिकाएँ भले ही घटनापूर्वक लिखी जाती हों, पर वैदिक आख्यादिकाएँ ऐसी नहीं होतीं। लोक में अर्थपूर्वक शब्द की सृष्टि होती है, परन्तु वैदिक शब्दों की सृष्टि वैसी नहीं है। प्रत्युत वैदिक शब्दों से अर्थ की ही सृष्टि होती है। प्रजापति 'भूः असुग्रम्, इन्दवः' इत्यादि वैदिक शब्दों से वैसे ही पृथिव्यादि की रचना करते हैं, जैसे कुम्भकार घटादिशब्दानुविद्ध घटादिज्ञानपूर्वक घटादि की रचना करता है। यह ब्राह्मणवाक्यों और "वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः", "पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" इत्यादि मनुवचनों से सिद्ध है। "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इत्यादि ब्रह्मसूत्र से भी यह स्पष्ट है।

Scanned by CamScanner

विशिष्ट ऋषियों की वाणी अर्थ का अनुसरण नहीं करती, किन्तु अर्थ ही उनका अनुसरण करते हैं। वे यदि इन्द्र को अजगर कह दें, तो वह अजगर ही बन जाता है।

"लौकिकानां ऋषीणां तु वागर्थमनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥"

वाल्मीकि द्वारा निर्मित रामायण के अनुसार ही रामचरित सम्पन्न हुआ। फिर अनादि, अपौरुषेय, ईश्वरीय-नित्य-ज्ञानानुविद्ध शब्दों का अनुसरण अर्थ करें, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है। तभी तो "भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" ऐसा सिद्धान्त है। इसीलिए अर्थवाद अभिशक्ति से प्रमाणान्तरसिद्ध अर्थ का बोधक होता है, 'अनुवाद' प्रमाणान्तरविरुद्ध अर्थ का बोधक होता है, तो 'गुणवाद' प्रमाणान्तरासिद्ध किन्तु प्रमाणान्तराविरुद्ध अर्थ का बोधक होता है, तो 'भूतार्थवाद' माना जाता है। अर्थवाद का मुख्य तात्पर्य तो विधेय की स्तुति में ही होता है, यह कहा ही जा चुका है। इस तरह स्पष्ट है कि सर्वथा वैदिकी आख्यायिकाओं द्वारा वेदों की सादिता, पौरुषेयता आदि सिद्ध नहीं हो सकती। तभी तो मनु, व्यास आदि "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।", "अत एव च नित्यत्वम्" इत्यादि रूपों से वेदवाणी को नित्य एवं अनादिनिधना कहते हैं।

बेबर को वेदनिर्माण के काल का प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण करते-करते अन्त में इतना तो कहना ही पड़ा कि "वेद' के

Scanned by CamScanner

निर्माणकाल को ढूँढ़ते हुए हमें बलात् यह कहना पड़ता है कि ये मन्त्र अतिप्राचीन काल के हैं। पौराणिक इतिहास एवं भूगोल आदि इन मन्त्रों में अतिस्पष्ट रूप से वर्णित हैं।" पर इसी प्रसङ्ग में उसका यह भी कहना है कि 'ऋचाओं में हमें बहुत-सी ऐसी बातें मिलती हैं, जिनसे ऋचाओं की उत्पत्ति और वृद्धि का समय, स्थान तथा अवस्था का ज्ञान होता है। अति-प्राचीन ऋचाओं से प्रकट होता है कि आर्य सिन्धुनदी के तट पर बसते थे, बहुत ही छोटी-छोटी जातियों में विभक्त थे तथा वे आपस में विरोधी थे। परन्तु यह सब कथन सारशून्य है। मन्त्रों की अतिप्राचीनता ही नहीं, सर्वथा अनादिता ही है। उनके देश-काल का निर्णय उनके शब्दों से नहीं हो सकता, यह कहा ही जा चुका है। सभी कथाएँ आख्यायिकामात्र हैं, उनका वाच्यार्थ में तात्पर्य है ही नहीं।

बेबर की ही तरह मैक्समूलर ने भी अपने 'संस्कृत-साहित्य' नामक ग्रन्थ में वेदसम्बन्धी विचार किया है।

"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुते मां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥"

—(यजु० अ० १३, मं० ४)।

—इस मन्त्र के व्याख्यान के प्रसंग में मैक्समूलर ने कहा है कि 'यह मन्त्रभाग अन्य वेदभाग की अपेक्षा नवीन है। इस मन्त्र के आधार पर मन्त्रभाग नवीन है, यही प्रतीत होता है। मन्त्रभाग के प्राचीन होने में तो कोई प्रमाण नहीं मिलता।'

Scanned by CamScanner

यहाँ विचारणीय यह है कि 'क्या इस कथन का यह अर्थ है कि आदिसृष्टि के बहुत पीछे हिरण्य (सुवर्ण) उत्पन्न हुआ, जिसकी चर्चा इस मन्त्र में है। अर्थात् 'हिरण्यगर्भ' इस नाम से इस मन्त्र की नवीनता प्रकट होती है अथवा 'अग्रे समवर्तत' इस शब्द से भूतकाल का निर्देश होता है, जिससे यह निश्चय होता है कि हिरण्यगर्भ के प्रादुर्भाव के समय यह मन्त्र नहीं था। यदि होता तो उसमें भूतकाल का निर्देश न होता ?'

इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'महीधर' के अनुसार इस ऊपर उद्धृत मन्त्र का अर्थ यह है कि 'हिरण्यरूपी ब्रह्माण्ड में गर्भरूप से अवस्थित प्रजापति हिरण्यगर्भ हैं। वे प्राणिजात के प्रथम काल अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति के पहले स्वयं शरीरधारी थे। वे स्वयं उत्पन्न होने के साथ ही अकेले ही उत्पत्स्यमान समस्त जगत् के पति थे। वे ही पृथ्वी अर्थात् अन्तरिक्ष तथा द्युलोक और इस भूमि को धारण करते हैं। उन प्रजापति के लिए हम लोग हवि धारण करते हैं।' मनु ने भी सूर्यवत् प्रकाशमान गोलाकार अण्ड से ब्रह्मा की उत्पत्ति कही है। इस तरह जब ब्रह्मा से भी पहले हिरण्यरूप ब्रह्म की उत्पत्ति का कारण अण्ड था, तो आदिसृष्टि से बहुत पीछे सुवर्ण बना, यह कहना कैसे सङ्गत हो सकता है ? साथ ही वैदिक शब्दों का तात्पर्य अनित्य व्यक्तियों में नहीं होता, किन्तु जाति में ही होता है। तब तो 'हिरण्यत्व' जाति ही हिरण्यशब्द का अर्थ है। जाति अनादि ही होती है। फिर हिरण्य-शब्दमात्र से इस मन्त्र की नवीनता कैसे कही जा सकती है ?

Scanned by CamScanner

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि विधिवाक्यों के अनुसार अधिकृत पुरुष यज्ञ में मन्त्र को पढ़ते हैं। द्रव्य-देवता का स्मरण कराना ही मन्त्रों का मुख्य प्रयोजन है। उनका भी अपने वाच्यार्थ में तात्पर्य नहीं होता। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान-काल के वाचक संस्कृत शब्दों का व्याकरण के अनुसार निम्नोक्त प्रकार से अर्थ होता है—

"शब्द के उच्चारण का अधिकारभूत काल वर्तमान काल होता है। 'लट' जिनकी प्रकृति हो, ऐसे 'ति', 'ते' आदि शब्द वर्तमान काल के वाचक कहे जाते हैं। जैसे—'गच्छति' में 'ति' का उपादान होने से उसके द्वारा 'जाता है' इस वर्तमानकालिक क्रिया का बोध होना स्पष्ट है।

"वर्तमान काल से पूर्वकाल को 'भूतकाल' कहते हैं। इस काल के बोधक 'त, ति, लुङ्, लङ्' आदि अनेक शब्द होते हैं। उनमें तीन भेद होते हैं। 'त' आदि अपने उच्चारणकाल से उतने ही पूर्वकाल का बोधन करते हैं, जितना कि उच्चारणवाले दिन का भाग व्यतीत हो गया हो। जैसे 'अगमत' (आज गया) इसे 'अद्यतन भूत' कहते हैं। इसके बोधक 'अगमत्' आदि प्रयोगों में उपात्त 'त्' का मूल 'लुङ्' होता है।

उस दिन से पूर्वकाल को 'अनद्यतन भूत' कहते हैं। उसका बोधक 'लङ्, 'त्' होता है। जैसे 'अगच्छत्' (आज से पहले गया)। यदि 'त्' आदि के उच्चारण-दिन से पूर्वकाल की क्रिया को उच्चारयिता पुरुष ने प्रत्यक्ष से नहीं देखा हो, तो ऐसे पुरुष से उच्चारित 'त्' आदि की मूलप्रकृति 'लिट्' जाननी चाहिए।

Scanned by CamScanner

जैसे 'जगाम' (मैंने जाते नहीं देखा, किन्तु आज से पहले वह गया), इसे 'अनद्यतन परोक्षभूत' कहते हैं। इस अनद्यतन परोक्ष भूतकाल के बोधक 'त्' आदि के स्थान में 'अ' 'ए' आदि का उच्चारण किया जाता है।

वर्तमान काल से उत्तरकाल को 'भविष्यत्' कहते हैं। इसमें भी दो भेद हैं। 'ष्यति', जिसकी मूलप्रकृति 'लृट्' है, उच्चारण-वाले दिन का ही बोधक होता है। जैसे—'गमिष्यति' (आज जायगा)। उस दिन की अपेक्षा उत्तरकाल 'अनद्यतन भविष्यत्' है। उसका बोधक 'ता' होता है। जिसकी मूल प्रकृति 'लुट्' है। जैसे 'गन्ता' (कल जायगा)। यही सामान्य प्रणाली व्याकरणों की है।

"हिरण्यगर्भः समवर्तत" इस मन्त्र का जिस दिन उच्चारण किया जायगा, उससे पूर्वकाल का बोध 'समवर्तत' के 'त' शब्द से होगा। इसके अनुसार मन्त्र का यही अर्थ होगा कि 'जिस दिन इस मन्त्र का उच्चारण होता है, उस दिन से पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव हुआ। यदि मन्त्र किसीके द्वारा रचित होता, तब तो प्रथम उच्चारण के काल की अपेक्षा या पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ का आविर्भाव माना जाता। क्योंकि प्रथम उच्चारण का ही नाम 'रचना' है। परन्तु मन्त्र-ब्राह्मण-समुदायरूप सभी वेद अपौरुषेय हैं। उनका प्रथमोच्चारण कभी हुआ ही नहीं। ईश्वर भी पूर्व-पूर्वकल्पीय आनुपूर्वी की अपेक्षा करके ही उत्तरोत्तर आनुपूर्वी का उच्चारण करते हैं। वेद की उच्चारण-परम्परा अनादि है। कोई भी उच्चारण प्रथम

Scanned by CamScanner

नहीं है। ऐसी स्थिति में भले ही इस मन्त्र के किसी-किसी उच्चारण-काल से पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ का आविर्भाव हुआ हो, इतने मात्र से मन्त्र में नवीनता नहीं सिद्ध हो सकती।

वेद ईश्वर-रचित है, इस पक्ष में भी मैक्समूलर का उक्त आक्षेप लागू नहीं हो सकता, क्योंकि इस मन्त्र में ईश्वर का तात्पर्य यह है कि जिस-जिस दिन जो-जो पुरुष इस मन्त्र का उच्चारण करें, वे-वे पुरुष उस-उस उच्चारण-दिन से पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ के प्रादुभाव का स्मरण करें। ऐसी स्थिति में तात्पर्य के अनुसार भी मन्त्र में कदापि नवीनता नहीं सिद्ध होती।

यद्यपि ईश्वरकृत मन्त्ररचनाकाल में हिरण्यगर्भ नहीं थे, तथापि मन्त्रोच्चारयिताओं के उच्चारणकाल से पूर्वकाल में हिरण्य-गर्भ का आविर्भाव था ही। नित्य, सर्वज्ञ परमेश्वर तो सर्वज्ञ होने से भविष्यत् के भी ज्ञाता होते हैं। अतः भविष्यत् परमेश्वर ने उक्त तात्पर्य से इस मन्त्र को रचा है। यज्ञों में स्वयं ही मन्त्रों का उच्चारण करने के लिए एवं स्वयं ही गुरु-परम्परा से वेदों का अध्ययन करने के लिए ईश्वर वेद नहीं बनाते, किन्तु तत्तत् यजमान एवं ऋत्विज आदिकों के लिए ही बनाते हैं। जैसे शिक्षक यजमान एवं ऋत्विज आदि से मन्त्र का उच्चारण कराने के लिए जब स्वयं मन्त्र का उच्चारण करते हैं, तब यही तात्पर्य रहता है कि यजमान आदि इसी तरह उच्चारण करें। ठीक ऐसे ही ईश्वरकर्तृक मन्त्र-रचना इसी अभिप्राय से होती है कि उपासक लोग मन्त्र का उच्चारणकर

Scanned by CamScanner

उच्चारण से पूर्वकाल में आविर्भूत हिरण्यगर्भ का स्मरण करें। अतएव भगवत्कर्तृक उच्चारण की अपेक्षा वेदों में पूर्वकाल कहीं भी विवक्षित नहीं है। अतः लौकिक 'लुङ्' आदि के समान वैदिक 'लुङ्' आदि का भूतकाल अर्थ नहीं है। अर्थात् परमेश्वर ने वेद में 'लुङ्' आदि शब्दों से अपने उच्चारण की अपेक्षा से पूर्वकाल को नहीं कहा है। किन्तु शिक्षणीय पुरुषों के ही उच्चारण की अपेक्षा पूर्वकाल को 'लुङ्' आदि से कहा है। अतः वेद में कोई 'लुङ्' आदि शब्द ऐसा नहीं है, जो अपने प्रथमोच्चारणकाल की अपेक्षा पूर्वकाल को कहता हो। किन्तु अस्मदादि उच्चारण की अपेक्षा पूर्वकाल ही वैदिक लुङ् आदि का अर्थ है।

लोक में भी शिक्षावाक्य से अन्य वाक्यों के ही 'लुङ्' आदि अपने प्रथमोच्चारण की अपेक्षा पूर्वकाल के बोधक होते हैं। परमेश्वर किसीसे शिक्षणीय नहीं है, किन्तु सभी जीव उन्हींके द्वारा शिक्षणीय हैं। अतः परमेश्वर ने जीवों के उच्चारण की अपेक्षा पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ का आविर्भाव बताने के लिए ही इस मन्त्र की रचना की है। अतः इस मन्त्र से अन्य मन्त्र-भाग में नवीनता नहीं सिद्ध होती।

इसी तरह 'हिरण्यगर्भ' शब्द ईश्वरवाची है। हिरण्य शब्द से ज्ञानरूप ज्योति विवक्षित है। ज्ञानमय ईश्वर 'हिरण्यगर्भ' है। अतः वह सबके पहले था। ऐसी स्थिति में ईश्वरकर्तृक उच्चारण से पूर्व भी ईश्वर था, ऐसा मान लेने पर भी वेदों की आधुनिकता सिद्ध नहीं होती। पूर्वोक्त

Scanned by CamScanner

आक्षेपों के ऐसे भी समाधान हो सकते हैं, पर वे सब स्थूलदृष्टि से हैं।

वस्तुतः जिन कालों में लट् आदि का विधान है, उनका वास्तविक होना 'लट्' आदि के प्रयोग में कारण नहीं है। किन्तु चाहे उन-उन कालों में गमन आदि क्रियाएँ हुई हों या अन्य कालों में, वक्ता के तात्पर्यानुसार ही लट् आदि का प्रयोग होता है। अतएव भूत, अनद्यतन परोक्ष अर्थों में भी 'लिट्' की जगह 'लुङ्' का प्रयोग देखा गया है। तभी "अभून्नृपो विबुधसखः" (विबुध-मित्र देवता मित्र हैं जिनके, ऐसे राजा दशरथ हुए) यहाँ सामान्य दृष्टि से लिट् लकार विशिष्ट 'बभूव' का प्रयोग उचित प्रतीत होने पर भी की भट्टि 'कवि' ने लुङ् विशिष्ट 'अभूत्' का प्रयोग केवल इसी तात्पर्य से किया है कि 'राजा दशरथ मेरे उच्चारण से पहले हुए।' 'अध्यास्त सर्वर्तुसुखा-मयोध्याम्" (वे राजा सभी ऋतुओं में सुख देनेवाली अयोध्या में थे) इस वाक्य में भी उनका यही तात्पर्य था कि 'मेरे उच्चारण से पूर्व अयोध्या में थे।' 'आज से पहले किसी काल में दशरथ अयोध्या में थे, उनको वहाँ रहते मैंने नहीं देखा' यह तात्पर्य की भट्टिकवि का नहीं था। यदि ऐसा ही तात्पर्य होता, तो जैसे "जज्वाल लोकस्थितये स राजा" (वे राजा लोकस्थिति के लिए प्रबल प्रतापी थे, परन्तु उनके प्रताप को मैंने नहीं देखा) इत्यादि स्थलों में लिट् लकार का प्रयोग भट्टि ने किया है। वैसे ही उपर्युक्त दोनों वाक्यों में भी लिट् लकार का ही प्रयोग है।

"व्यातेने किरणावलीमुदयनः" इत्यादि स्थलों में भूतत्व, अन-

द्यतनत्व, परोक्षत्व के न रहने पर भी किरणावलीकार उदयनाचार्य ने लिट् लकार का प्रयोग किया है। 'किरणावली' ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह श्लोक है। किरणावली ग्रन्थ का निर्माण अभी हो रहा है। न अद्यतन भूत है, न सामान्यभूत। किरणावलीकार के लिए वह परोक्ष नहीं है। तथापि अनद्यतन परोक्षभूत के बोधक लिट् लकार का प्रयोग उदयनाचार्य ने किया है। उक्त वाक्य का अर्थ होता है—'उदयन ने आज से पहले किरणावली नामक ग्रन्थ का विस्तार किया और उस विस्तार को उन्होंने स्वयं नहीं देखा।'

कहा जा सकता है कि 'अन्यमनस्क होने से अपनी क्रिया भी अपने को प्रत्यक्ष नहीं होती, इस दृष्टि से यहाँ लिट् लकार का प्रयोग सङ्गत है।' परन्तु ग्रन्थ-विस्तार का काम बड़ी सावधानी का होता है। अन्यमनस्कता में ग्रन्थ-विस्तार-क्रिया हो ही नहीं सकती। इसीलिए भूषणकार ने उक्त प्रयोग को अनुचित कहा है। परन्तु दर्पणकार ने भूषणकार के मत का खण्डन करके कहा है—

"न वास्तवं परोक्षत्वादि लि-ङादिनियामकम्। 'अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्या'मित्यत्र लङोऽसाधुत्वापत्तेः किन्तु वैवक्षिकं तत्। तथा च वक्ष्यति स्वयमेव सारकृत्—अनद्यतन भूतत्वेन विवक्षिते लङ्, तत्रैव पारोक्ष्यविवक्षायां, लिट्' इति। प्रकृते चानायासनिष्पन्नत्व-शीघ्रनिष्पन्नत्वप्रतीतिफलिकयोर्भूतानद्यतनत्वविवक्षयोः एवं सूक्ष्मकालेन करिष्यामि यत्र काले मयाऽपि साक्षात् कर्तुमशक्य मति प्रतीतिफलकपारोक्ष्यविवक्षायाश्च लिङुत्पत्तिसम्भवादिति।"

Scanned by CamScanner

अर्थात् वास्तव में क्रियापरोक्षत्व आदि 'लिट्' आदि के प्रयोग का कारण नहीं हैं, किन्तु 'परोक्षत्व' आदि की विवक्षा ही 'लिट्' आदि का कारण है। तभी "अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्याम्" इस भट्टिवाक्य का 'लङ्'-प्रयोग संगत होगा। भूषणकार ने भी आगे चलकर कहा ही है कि अनद्यतन भूतत्व की विवक्षा में लङ् का प्रयोग होता है और जब वहीं परोक्षता की भी विवक्षा हो, तो 'लिट्' का प्रयोग होता है।

अतः "व्यातेने किरणावलीमुदयनः" इस वाक्य में किरणावली-विस्ताररूप क्रिया भले ही भूत न हो, अनद्यतन न हो, परोक्ष न हो, तब भी वक्ता की वैसी विवक्षा होने पर 'लिट्' का प्रयोग हो सकता है। यहां वक्ता को किरणावली-विस्तार में अनायास-निष्पन्नता-बोधनार्थ भूतत्व विवक्षित है; शीघ्रनिष्पन्नता-बोधनार्थ अनद्यतनत्व विवक्षित है, अतिशीघ्र निष्पन्नता-बोधनार्थ परोक्षता विवक्षित है। इसलिए 'लिट्' का प्रयोग उचित ही है।

अर्थात् किरणावली-ग्रन्थ-निर्माण में मुझे कोई प्रयास न करना पड़ेगा। उसे अनायास ही निष्पन्न समझना चाहिए। यह शीघ्र ही निष्पन्न होगा, अतः निष्पन्न हुआ ही समझना चाहिए। यह इतने सूक्ष्मकाल में निर्मित होगा कि उस काल की सूक्ष्मता मेरेलिए अप्रत्यक्ष ही होगी।

इसी तरह अनद्यतनत्व की विवक्षा न होने पर अनद्यतन भविष्य में भी 'लुट्' का प्रयोग नहीं होता। जैसे "रामो राज्य-मुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति"(श्रीरामचन्द्रजी बहुत दिनों तक राज्य-कर ब्रह्मलोक जायँगे) इत्यादि वाक्यों में 'प्रयाता' इस तरह

Scanned by CamScanner

'लुट्' का प्रयोग नहीं किया गया। क्योंकि 'राज्य करने के उत्तर-काल में जायँगे' ऐसी ही विवक्षा है। इसीसे भविष्यत् सामान्य अर्थ में, 'लृट्' जिसकी मूल प्रकृति है, उस 'स्थति' का प्रयोग है। इसी तरह कहीं-कहीं 'लट्' का प्रयोग वर्तमान काल के अर्थ में न करके काल-सामान्य के अर्थ में होता है। जैसे—"वारिदस्तृप्तिमाप्नोति"। (जलदान करनेवाला तृप्ति प्राप्त करता है)। अथवा ऐसे स्थलों में 'लट् का 'काल' अर्थ ही नहीं है, किन्तु तृप्ति एवं जलदान के कार्य-कारणभाव-बोधन में ही वाक्य का तात्पर्य है। अतएव "शरदि पुष्यन्ति सप्तच्छदाः" (शरद ऋतु में सप्तच्छद फूलते हैं) यह वाक्यप्रयोग भले ही माघमास में हो, तो भी लट् का प्रयोग साधु ही है।

अतः या तो 'लट्' का काल-सामान्य अर्थ है या काल अर्थ है ही नहीं। साधारण वैयाकरणों को इसमें "वर्तमाने लट्" इस पाणिनि-सूत्र का विरोध भासित हो सकता है, परन्तु यहाँ भी पाणिनि को वर्तमान शब्द से कालसामान्य की विवक्षा या काल की सर्वथा अविवक्षा ही अभिप्रेत है। तभी "वारिदस्तृप्तिमाप्नोति", "शरदि पुष्यन्ति सप्तच्छदाः" इत्यादि प्रसिद्ध वाक्यों में लट् का प्रयोग सङ्गत होता है।

इसी तरह "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" इस मन्त्र में हिरण्यगर्भ के अस्तित्व एवं उनके द्वारा पृथ्वी आदि के धारणसम्बन्धी सत्यता प्रतिपादन करने के अभिप्राय से ही लङ् का प्रयोग है। यहाँ लङ् का भूतकाल अर्थ नहीं है।

ठीक इसी प्रकार अन्य मन्त्रों एवं ब्राह्मणों में भी जहाँ लुङ्,

Scanned by CamScanner

लङ्, लिट् आदि के प्रयोग होते हैं, उनके द्वारा वेद की सादिता नहीं सिद्ध होती। वेद में कोई एक भी ऐसा शब्द नहीं है, जो भूतकाल का बोधक हो। वेद में उक्त लुङ्, लङ्, लिट् आदि लौकिक लुङादि के समानार्थक नहीं होते। किन्तु कालसामान्य ही उनका अर्थ होता है। इस सम्बन्ध में ही "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" (३।४।६) पाणिनीय-सूत्र प्रमाण है। सूत्रार्थ यह है कि लुङ्, लङ्, लिट् लोक में जिन विशेष कालों में विहित हैं, छन्द में वे उन कालों से भिन्न काल-सामान्य अर्थ में ही होते हैं।

लुङ् का उदाहरण है—'देवो देवेभिरागमत्', 'शङ्कुलाङ्गुष्ठको-ऽकरत्" "इदन्तेभ्योऽकरन्नमः।" लङ् का उदाहरण है—"अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः।" लिट् का उदाहरण है—"अद्य ममार।"

इन उदाहरणों से विदित होता है कि पाणिनि भी वेद को अनादि-अपौरुषेय ही समझते थे। अतएव भूतकाल के ही बोधक लुङ्, लङ्, लिट्, के सम्बन्ध में ही उन्होंने विशेष रूप से निर्देश किया है। क्यों कि वेद में यदि इनका भूतकाल अर्थ होता, तो यह सन्देह होता ही कि ऐसा भी कोई काल था, जो कि वेद की अपेक्षा भूतकाल था। उस काल में वेद नहीं थे। तब तो वेदों की अनादिता भी बाधित हो सकती थी।

इसी तरह 'निष्ठा' प्रत्यय और 'अग्रे, पुरा, पूर्वम्', आदि शब्दों का भी 'वेद के पूर्व' ऐसा अर्थ नहीं होता। किन्तु वेदोक्त वृत्तों में अन्योन्य की अपेक्षा पूर्वकाल के अर्थ में ही इनका व्यवहार होता है। इस पद्धति के अनुसार ही 'हिरण्य-गर्भः समवर्तताग्रे' का 'अग्रे = प्रत्येक सृष्टि के पूर्व समय में,

Scanned by CamScanner

हिरण्यगर्भः = ब्रह्मा, समवर्त्तत = हुआ करते हैं', यह अर्थ बिना किसी प्रकार के क्षोदक्षेम के इतना प्रसिद्ध है कि चार्वाक आदि नास्तिकों के दर्शनों में भी वेदशब्दों के आधार पर वेदों के नवीन होने का आक्षेप नहीं किया गया है। नास्तिक भी वेद के लुङादि के वास्तविक अर्थ को समझते थे।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'यदि लुङादि का वेद में भूतकाल अर्थ होता ही नहीं, तो 'भूतार्थवाद' कैसे सङ्गत होंगे, क्योंकि वे तो भूत अर्थ के बोधक होते ही हैं।' किन्तु यह ठीक नहीं है, कारण वहाँ 'भूतार्थवाद' में 'भूत'का अर्थ भूत-काल नहीं, अपितु स्वार्थ में भी अवान्तर तात्पर्य रखने-वाले अर्थवाद की 'भूत' यह संज्ञा है। जहाँ गुणवाद एवं अनुवादों का वाच्यार्थ में अवान्तर तात्पर्य भी नहीं होता, केवल प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ ही उनका अर्थ होता है, वहीं भूतार्थवाद का परमतात्पर्य प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ में होने पर भी अवान्तर तात्पर्य स्ववाच्यार्थ में भी होता है। इसी सम्बन्ध में प्रातिशाख्य में महर्षि कात्यायन का कहना है कि "लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात्।" अर्थात् लौकिक वाक्य का तो अर्थपूर्वक ही निर्माण होता है। प्रयोक्ता लोग प्रतिपिपादयिषित अर्थों को समझकर ही वाक्यों का प्रयोग करते हैं। परन्तु वैदिक वाक्यों का प्रयोग तो अर्थपूर्वक नहीं होता, क्योंकि वेद नित्य हैं, और उनके अर्थ सृष्टि, प्रलयों आदि अनित्य हैं। अतः वैदिक-वाक्यों से भूतकाल का बोध कभी नहीं हो सकता है।

पूर्वोक्त सूत्र एवं प्रातिशाखा आदि से अपरिचित वेदबाह्य

Scanned by CamScanner

लोग वेद के आधार पर इतिहास निकालने का निरर्थक प्रयास करते हैं तथा वेद पौरुषेय सिद्ध करने का भी प्रयास करते हैं। भारत के समाजी आदि भी उन्हींका अनुसरण करते हुए ब्राह्मणभाग की अपौरुषेयता पर कुतर्क करते हैं। वे नहीं समझते कि ये ही सब कुतर्क उनके अभिमत मन्त्रभाग के विषय में भी हो सकते हैं। जो समाधान मन्त्रभाग के विषय में होगा, वही ब्राह्मणभाग के विषय में भी हो सकता है।

मैक्समूलर का यह भी कहना है कि "वेद में दो भाग हैं, एक छन्द और दूसरा मन्त्र। जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता और दूसरों की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ प्रतीत होता है, जिसकी उत्पत्ति अज्ञानी के मुख से अकस्मात् निकले हुए के समान प्रतीत होती है, वह 'छन्द' है। छन्दभाग की उत्पत्ति हुए इकतीस सौ वर्ष और मन्त्र की उत्पत्ति हुए उनतीस सौ वर्ष हुए। "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' इत्यादि मन्त्र इस सम्बन्ध में प्रमाण हैं।"

परन्तु यह सब कहना असङ्गत है। मैक्समूलर के द्वारा कहा गया छन्द और मन्त्र का विभाग निष्प्रमाण ही है। यह वैदिक, लौकिक व्यवहारों के विरुद्ध भी है। छन्दशब्द का वेद और मन्त्रशब्द का वेदभागविशेष अर्थ अनादि-परम्परा से प्राप्त है। इसी तरह इकतीस सौ वर्ष या उनतीस सौ वर्ष आदि काल की कल्पना भी निराधार ही है। "अग्निः पूर्वेभिः" इत्यादि मन्त्रों के 'पूर्व' आदि शब्दों का संख्या अर्थ नहीं है। इस मन्त्र में केवल ऋषियों का प्राचीन एवं नूतन

Scanned by CamScanner

होना वर्णित है। वह भी ऋषियों में ही अन्योन्य की अपेक्षा से है, न कि वेद की अपेक्षा। ऐसी स्थिति में ऐसे शब्दों के आधार पर मन्त्रों की नवीनता सिद्ध नहीं हो सकती। जब वेद की उत्पत्ति ही नहीं होती, वे नित्य हैं, तब उनमें नवीनता या प्राचीनता का प्रश्न ही व्यर्थ है।

इसी तरह 'मार्क्स डेन' ने अपनी पुस्तकों में लिखा है कि 'पूर्व-काल में भारतवासी लौकिक-व्यवहारार्थ जिन वाक्यों का प्रयोग करते थे, वे ही कुछ काल पश्चात् वेदवाक्य नाम से प्रसिद्ध हो गये।' ये सब निःसार बातें हैं। यह पीछे कहा जा चुका है कि वेद-भाषा कभी किसीकी भी मातृभाषा नहीं थी। फिर वेदवाणी को व्यवहार की भाषा कहना असङ्गत ही है। इसी तरह इन पाश्चात्यों के पुच्छप्राय समाजी एवं अन्य भारतीय सुधारक वेद की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कहते हैं। परन्तु सनातनधर्म का सिद्धान्त समझ लेने पर सबका समाधान हो जाता है।

जैसे 'भारत' आदि ग्रन्थों के सम्बन्ध में व्यास आदि कर्ता प्रमाणसिद्ध हैं, वैसे ही 'अमुक ब्राह्मण-ग्रन्थ अमुक ने रचा, इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों की अपौरुषेयता-मूलक वेदता स्पष्ट है। ब्राह्मण-भाग के वेदत्व में अनेक प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। परन्तु ब्राह्मण-भाग वेद नहीं है, इसमें किसी एक भी ऋषि या प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ का वचन नहीं मिलता। 'मन्त्रभाग वेद है, ब्राह्मण-भाग नहीं' इस कथन में सिवा शपथ के और कोई प्रमाण नहीं है।

Scanned by CamScanner

यह भी विचारणीय है कि 'वेदशब्द संज्ञापरक है या नहीं ?' यदि नहीं, तब तो वेदन या ज्ञान का साधन जो भी होगा, वही वेद होगा। फिर तो किसी भी ग्रन्थ या प्रमाण को 'वेद' कहा जा सकेगा। इसके अतिरिक्त श्रीदयानन्दजी ने 'वेद' को संज्ञाशब्द माना है। 'वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्' यह उनका वचन है (ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका)। यदि 'वेद' संज्ञा है, तो वह अनादि है या सादि ? यदि सादि है, तो कहना पड़ेगा कि उसके पहले मन्त्र भी वेद नहीं कहे जाते थे। यदि अनादि है, तब तो वेदसंज्ञा को 'वृद्धि' आदि संज्ञाओं के समान कृत्रिम कैसे कहा जा सकता है ? फिर तो जैसे जैमिनि आदि द्वारा मन्त्र-ब्राह्मण का लक्षण बतलाने पर भी मन्त्रों की अनादिता में कोई बाधा नहीं पड़ती, वैसे ही कात्यायन आदि द्वारा मन्त्र-ब्राह्मण की अनादिभूत वेदसंज्ञा बताने पर भी उनकी अनादिता में कोई बाधा नहीं पड़ सकती, न वृद्धि आदि संज्ञा की तरह उस संज्ञा को संकुचित ही किया जा सकता है। यों तो आयुर्वेद आदि में भी वेदशब्द प्रयुक्त होता है। कुशमुष्टि को भी वेद कहा जाता है। मन्त्रशब्द भी तान्त्रिक मन्त्रों में प्रयुक्त होता है।

समाजी मन्त्रों को वेद किस आधार पर मानते हैं ? यदि मन्त्र के ही आधार पर, तो यह बतलाना चाहिए कि कौन-सा मन्त्र यह कहता है कि अमुक-अमुक मन्त्र वेद है। फिर जब मन्त्र का वेदत्व एवं प्रामाण्य सिद्ध हो जाय, तभी तो मन्त्र के आधार पर मन्त्रों का वेदत्व भी सिद्ध हो सकेगा।

Scanned by CamScanner

स्वप्रामाण्य-सिद्धि में स्वयं को प्रमाण मानने में आत्माश्रय दोष भी होगा।

यदि आर्ष-ग्रन्थ के आधार पर मन्त्रों का वेदत्व और प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है, तो ब्राह्मण-भाग का भी वेदत्व और प्रामाण्य आर्ष-ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध किया ही गया है। ब्राह्मण-भाग एवं मन्त्र-भाग के आधार पर भी ब्राह्मण-भाग का वेदत्व स्पष्ट कर दिया गया है। वस्तुतः कोई भी ग्रन्थ प्रत्यक्ष, अनुमान या वेदमूलक होने से ही प्रमाण हो सकता है, स्वतन्त्र नहीं। ऐसी स्थिति में मन्त्र के वेदत्व एवं प्रामाण्य-साधक ग्रन्थ का मूल क्या है, यह भी बताना पड़ेगा। यदि प्रत्यक्ष या अनुमान, तब तो उसको स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना चाहिए। यदि वेद, हो तो उसका भी स्पष्टरूप से उपन्यास करना चाहिए। सामाजियों के मत में जब मन्त्र ही वेद हैं, तब ऐसा मन्त्र ही उपस्थित करना चाहिए, जो कहता हो कि मन्त्रभाग ही वेद है। किन्तु इस ढङ्ग का प्रयास भी अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होगा ही।

यहाँ यदि यह कहा जाय कि 'सूर्य जैसे अपना तथा दूसरे का भी प्रकाशक है, वैसे ही वेद भी अपने तथा दूसरे के भी प्रामाण्य आदि के साधक हो सकते हैं', तो वह ठीक नहीं। यह केवल स्वगोष्ठी-निष्ठ बात होगी। यदि वेद में अपने तथा दूसरे दोनों में प्रामाण्यसाधन की कामना होती, तो नास्तिक भी वेद के आधार पर ही वेद का प्रामाण्य मान लेता। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। यदि प्रामाण्य आदि के निश्चय की ऐसी

Scanned by CamScanner

पद्धति इष्ट हो, तब तो बाइबिल या कुरानवादी भी बाइबिल एवं कुरान के प्रामाण्य में उन्हींके वचनों को उद्धृतकर समाजी को बाइबिल आदि मानने के लिए बाध्य कर सकते हैं।

प्रसिद्धि तो जैसे मन्त्र के वेदत्व की है, वैसे ही ब्राह्मण के वेदत्व की भी है। एक में ही वेदत्व की प्रसिद्धि है, दूसरे में नहीं, यह कहना निराधार शपथमात्र है। सामान्य सनातन-धर्मी शास्त्रज्ञों एवं सनातनधर्मी जनसामान्य की अपेक्षा समाजी शास्त्रज्ञों एवं जनसाधारण की संख्या नगण्य ही है। फिर बहुविज्ञ-प्रसिद्धि, बहुजन-प्रसिद्धि तो सनातनधर्म के ही पक्ष में ही रहेगी। अतः 'सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' ही अपौरुषेयत्व एवं वेदत्व का मूल मानना चाहिए। वह मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों के सम्बन्ध में समान है। सम्प्रदायाविच्छेद सनातनधर्म की परम्परा में ही है। समाजी की परम्परा में तो वेदाध्ययन की परम्परा ही नहीं है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि सनातनधर्मी समाज से ही आर्य-समाज का निर्माण हुआ है। समाजी एवं समाज के प्रवर्तक श्रीदयानन्दजी के भी गुरु सनातनधर्मी ही थे।

श्रीदयानन्दजी आदि द्वारा ब्राह्मण-भाग के वेदत्व-निषेधार्थ किया गया प्रयत्न भी उसके वेदत्व में प्रमाण है, क्योंकि अप्राप्त वेदत्व का निषेध हो ही नहीं सकता। अन्यथा मन्वादि-स्मृतियों के भी वेदत्व का निषेध करना चाहिए था। अतः मानना पड़ेगा कि प्राप्त वेदत्व का ही निषेध किया गया है।

अब विचारणीय यह है कि ब्राह्मण-भाग का वेदत्व किससे

Scanned by CamScanner

प्राप्त है ? यदि कहा जाय कि व्यवहार से ही ब्राह्मण-भाग में वेदत्व प्राप्त है, तो यह भी बताना होगा कि वह व्यवहार सादि है या अनादि ? पहला पक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कबसे यह व्यवहार आरम्भ हुआ, इसका प्रामाणिक निर्देश नहीं किया जा सकता। यह कहना कि यज्ञकाल से यह व्यवहार आरम्भ हुआ, अनभिज्ञतामूलक ही होगा। कारण यज्ञ तो वेदों द्वारा ही प्रतिपादित हैं। ऐसी स्थिति में जबसे वेद हैं, तभीसे यज्ञ भी हैं। अन्यथा समाजियों का वैदिक धर्म भी क्या होगा ? यदि श्रौत अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम आदि भी वैदिक धर्म नहीं, तो क्या समाजियों का अवैध होम धर्म हो सकेगा ?

यदि कहा जाय कि 'कात्यायन, आपस्तम्ब आदि ने ब्राह्मण-भाग में वेदत्व-व्यवहार चलाया', तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस सूत्र द्वारा उन्होंने यह नहीं कहा कि आज से मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग का 'वेद' नाम हो। किन्तु वे उक्त सूत्र द्वारा यही कहते हैं कि 'मन्त्रभाग और ब्राह्मण-भाग का वेद नाम है।' जैसे सास्नादिमती व्यक्ति का अनादि ही 'गो' नाम बताया जाता है, वैसे ही मन्त्रों के 'ऋक्' आदि अनादि ही नाम ऋषियों द्वारा बताये गये हैं। यदि ऐसा न माना जाय, तो मन्त्रभाग में भी वेदशब्द का व्यवहार नवीन ही मानना पड़ेगा, क्योंकि "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" आदि उक्त सूत्रों द्वारा ही मन्त्र का भी वेदत्व विदित होता है। परन्तु यह समाजियों के प्रतिकूल ही होगा।

यदि यह कहा जाय कि 'मन्त्रभाग में तो अनादि काल से

Scanned by CamScanner

वेदत्वव्यवहार है, तो यही बात ब्राह्मणभाग के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। 'मन्त्र में वेदत्वव्यवहार अनादि है, ब्राह्मण में नहीं' समाजियों के इस कथन में कोई भी प्रमाण नहीं है। यदि ब्राह्मणभाग में भी वेदत्व-व्यवहार अनादि माना जाय, तो जैसे सास्नादिमती व्यक्ति में 'गो' शब्द का व्यवहार अनादि होने से तादृक् व्यक्तियों को 'गो' कहा जाता है, वैसे ही ब्राह्मण-भाग में वेदशब्द का अनादि-व्यवहार होने से ब्राह्मणभाग का अनादि नाम वेद है। इस अनादि-व्यवहार के विपरीत ब्राह्मण-भाग के वेदत्वनिषेधक तर्क तर्काभास ही हैं। केवल कुछ दिनों से कुछ नगण्य पुरुषों द्वारा ऐसे तर्काभास उठाये गये हैं। वस्तुतः ब्राह्मणभाग का वेदत्व पूर्वोक्त प्रमाणों से अतिस्पष्ट है।

वेदार्थ-विचार के मुख्य आचार्य श्रीजैमिनि और श्रीव्यास प्रसिद्ध हुए हैं। उन्होंने पूर्वोत्तर-मीमांसा में ब्राह्मणभाग के सम्बन्ध में कहीं 'शब्द', कहीं 'श्रुति', कहीं 'समाम्नाय', तो कहीं 'छन्द' आदि वेदपर्यायवाचक शब्दों का प्रयोग किया है। उनमें से कुछ निम्नोक्त प्रकार से हैं—

"स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य" (जै० सू० १।२।२७)। सूत्र का संक्षिप्त अर्थ यह है—चातुर्मास्य में श्रुत है कि "शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते।" यहाँ "तेन ह्यन्नं क्रियते" इस वाक्य का हेतु-विधित्वेन प्रामाण्य है या स्तावकत्वेन?" ऐसा संशय होने पर पूर्व-पक्ष में कहा गया है कि हेतुविधित्वेन ही प्रामाण्य है। अर्थात् यतः शूर्प अन्न का कारण है, अतः वह होम का साधन है, यही उक्त वाक्य का तात्पर्य है। इस तात्पर्य के अनुसार न केवल शूर्प ही,

Scanned by CamScanner

बल्कि अन्न के दर्वी, स्थाली जितने भी कारण आदि हैं, सभी होम के साधन रूप में विहित हैं। इसपर प्रस्तुत सूत्र द्वारा उत्तर पक्ष में कहा गया है कि "तेन ह्यन्नं क्रियते" इस वाक्य का स्तावकत्वेन ही प्रामाण्य है। क्योंकि इस वाक्य के पूर्व करणत्वबोधक तृतीयान्त 'शूर्पेण 'यह शब्द स्पष्ट श्रुत है। अनन्त करणत्व में होम-साधनता के प्रति हेतुत्व एकमात्र शब्द अर्थात् वेद से ही जाना जा सकता है, न कि लोक से। ऐसी स्थिति में जब कि 'शूर्पेण' इस तृतीयान्त शब्द द्वारा होमसाधनत्वेन शूर्प ही प्रत्यक्ष विहित है (न कि दर्वी, स्थाली आदि), तब उसीके द्वारा होम-साधनता की आकांक्षा शान्त हो जाने से अविहित दर्वी, स्थाली आदि होमसाधन नहीं हो सकते। अतः 'तेन ह्यन्नं क्रियते' को हेतुविधित्वेन प्रमाण मानना व्यर्थ ही है। केवल स्तावकत्वेन ही प्रमाण मानना उचित है।

इस सूत्र में "शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते" इस ब्राह्मणवाक्य को वेदपर्याय 'शब्द' द्वारा कहा गया है। शब्द का वेद-पर्याय होना "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" (वेदान्तदर्शन २।१।२७), "धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्" (पूर्वमीमांसा-दर्शन १।३।१) आदि सूत्रों से स्पष्ट है।

"विधिशब्दाश्च" (१।२।५३)—यह मन्त्रलिङ्गाधिकरण का अन्तिम सिद्धान्तपक्षीय सूत्र है। 'कर्मकाल में उच्चारित मन्त्र अविवक्षितार्थ होकर केवल अदृष्ट द्वारा क्रतु के अंग होते हैं अथवा अनुष्ठेयार्थ-प्रकाशनरूप दृष्ट द्वारा ?' ऐसा संशय होने पर इस सूत्र से उत्तर पक्ष में कहा गया है कि विधिशब्द अर्थात्

Scanned by CamScanner

मन्त्रव्याख्यान के लिए प्रवृत्त वाक्यशेष (अर्थवाद) भी 'मन्त्र विवक्षितार्थ हैं' इस बात को सिद्ध करते हैं। जैसे अग्निहोत्र-प्रकरण के महोपस्थान में "अग्ने गृहपते सुगृहपतिरहं त्वया" इस मन्त्र में 'शतं हिमाः' यह वाक्य है। उसमें 'हिमाः' इस दुरवबोधार्थक पद का व्याख्यान "शतं हिमा इत्याह शतं त्वा हेमन्ता-निन्धिषीयेति वा वै तदाहेति" इस अर्थवाद द्वारा किया गया है। हेमन्त को संवत्सर का उपलक्षण मानकर इस अर्थवाद द्वारा यही स्पष्ट किया गया है कि 'सौ संवत्सरतक मैं आपकी परिचर्या करूँगा।' यदि मन्त्र अविवक्षितार्थ हों, तो इस अर्थवाद (विधिशब्द) द्वारा मन्त्र का व्याख्यान करना असंगत ही होगा। इसमें 'शतं हिमा इत्याह' आदि ब्राह्मण-वाक्य को स्पष्ट ही 'शब्द' पद से उद्धृत किया गया है।

"चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात् तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः" (२।२।१६) — यह आघाराद्यपूर्वताधिकरण का अन्तिम सूत्र है। इसके द्वारा सिद्धान्त पक्ष में यह सिद्ध किया गया है कि "अग्निहोत्रं जुहोति", "आघारमाघारयति" ये दोनों वाक्य चोदना अर्थात् अपूर्वकर्मके विधायक ही हैं, न कि "दध्ना जुहोति", "पयसा जुहोति" इन वाक्यों से विहित कर्म-समुदाय के। 'अग्नि-होत्रं जुहोति" यह वाक्य और 'ऊर्ध्वमाघारयति', 'ऋजुमाघारयति' इत्यादि वाक्यविहित कर्मसमुदाय का "आघारमाघारयति" यह वाक्य अनुवाद है। क्योंकि शब्दार्थ अर्थात् 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'आघारमाघारयति' इन वाक्यों का अर्थ प्रयोगभूत ('अग्निहोत्र, आघार' नाम के कर्म अनुष्ठेय हैं, इस रूप से अनुष्ठानापरपर्याय

प्रयोगरूप विधेयत्व से युक्त) है। "दध्ना जुहोति, ऊर्ध्वमाघारयति" आदि गुणविधियों में अग्निहोत्र, आघार का पुनः श्रवण केवल दधि आदि गुणों के लाभ के लिए ही है। 'दध्ना जुहोति', 'ऊर्ध्वमाघारयति' आदि गुणविधियों को गुणविशिष्ट कर्मविधायक मानने पर तो मत्वर्थलक्षणा की आपत्ति होगी।

यहाँ स्पष्ट ही 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'आघारमाघारयति' इन ब्राह्मणवाक्यों को 'शब्द' पद से उद्धृत किया गया है।

"फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगित्वात्" (२।२।२५)—यह दध्यादिद्रव्य-सफलत्वाधिकरण का पूर्वपक्षीय सूत्र है। "दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्" यह वाक्य अग्निहोत्र के समीप श्रुत है। "इस वाक्य द्वारा प्रकृत 'अग्निहोत्र' कर्म से अतिरिक्त कर्म का विधान है अथवा उसी 'अग्निहोत्र' कर्म में ही गुण-फलसम्बन्ध किया गया है ?" ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष में इस सूत्रद्वारा कहा गया है कि "दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्" यह वाक्य प्रकृत अग्निहोत्र कर्म से अतिरिक्त दधिविशिष्ट इन्द्रियफलक होम-कर्म का ही विधायक है। क्योंकि यहाँ इन्द्रियरूप फल की स्पष्ट श्रुति है। दधिरूप गुण का तो फल के लिए विधान कर नहीं सकते, क्योंकि भावार्थाधिकरण के अनुसार फलभावना में समानपदोपात्त धात्वर्थ का ही करणत्वेन अन्वय होता है, न कि उपपदार्थ का। इसीलिए इन्द्रियरूप धात्वर्थ होम के द्वारा ही भाव्य है, 'दधि' द्वारा नहीं। ऐसी स्थिति में 'फलस्य कर्मयोगित्वात्' अर्थात् 'फल धात्वर्थभाव्य होता है' इस सैद्धान्तिक दृष्टि से दधिरूप गुण का इन्द्रियरूप फल के लिए विधान असम्भव ही है।

Scanned by CamScanner

इसमें 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा गया है।

"श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक्श्रुतिर्गुणार्था" (३।६।२०)—यहाँ 'उपाकरण, पर्यग्निकरण आदि धर्म ज्योतिष्टोम में आम्नात अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुबन्ध्य इन तीनों पशुओं से सम्बद्ध होते हैं अथवा केवल अग्नीषोमीय पशु से ?' ऐसा संशय होने पर इस सूत्र द्वारा सिद्धान्त पक्ष में कहा गया है कि 'एकेषाम्' अर्थात् किन्हीं शाखियों की शाखा में "आश्विनं गृहीत्वा त्रिवृतं यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति" ऐसा कहकर 'श्वः' अर्थात् औपवसथ्याह के पूर्वदिन 'सुत्याह' में ही सवनीय पशु की उत्पत्ति बतायी गयी है। 'तत्र' अर्थात् उस उत्पन्न सवनीय पशु में, 'प्राक्श्रुतिः' अर्थात् सुत्याह के पहले दिन औपवसथ्याह में श्रुत "आग्नेयोऽग्निष्टोम आलभ्यः" यह वाक्य, 'गुणार्था' गुण विधान के लिए है। यहाँ "आग्नेयोऽग्निष्टोम आलभ्यः" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा गया है।

"नाश्रुतिविप्रतिषेधात्" (३। ६। २४।)—पूर्वोक्त विचार के प्रसंग में ही इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि 'न' अर्थात् पूर्वोक्त युक्तियों के अनुसार अंगों का उत्कर्ष नहीं हो सकता। क्योंकि 'अश्रुतिविप्रतिषेधात्' अर्थात् तृणमुष्टि या पर्णमुष्टि से विधान होने पर भी "मुष्टिना पिधाय वपोद्धरणमासीता आवपाहोमात्" इस श्रुति के साथ विरोध नहीं हो सकता। इसमें 'मुष्टिना पिधाय' आदि ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा गया है।

"नियमार्था गुणश्रुतिः" (३।६।४०)—यहाँ "यदि सोमं न

Scanned by CamScanner

विन्देत पूतीकानभिषुणुयात्" इस वाक्य में सोमप्रतिनिधित्वेन श्रुत पूतीका ओषधिविशेष में अभिषव आदि धर्म सोम के समान ही विहित हैं या नहीं ?, इस संशय पर इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि 'नियमार्था' अर्थात् 'सोम' न प्राप्त होने पर तत्-सदृश अन्य द्रव्यों के भी प्राप्त होने से पूतीका की प्राप्ति कदाचित् होती और कदाचित् नहीं। ऐसी स्थिति में पक्ष में अप्राप्त 'पूतीका' का नियम करने के लिए ही 'गुणश्रुतिः' अर्थात् "सोमाभावे पूतीकानभिषुणुयात्" यह गुणवचन है। यहाँ "सोमाभावे पूतीकान्" आदि ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा गया है।

"नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात्"(३।७।३६)—यहाँ 'ऋत्विक् सत्रह होते हैं' ऐसा निश्चित हो जाने पर 'वे कौन-कौन-से हैं ?' ऐसी आकांक्षा होने पर इस सूत्र द्वारा सिद्धान्त में कहा गया है कि 'आग्नीध्र' आदि में ही नियम से ऋत्विक्त्व है, क्योंकि 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' ऐसा कहकर "अग्नीधे ऽग्रे ददति ततो ब्रह्मणे" इत्यादि श्रुति द्वारा दक्षिणा के साथ आग्नीध्र आदि तत्-तत् नाम का संयोग है। इस सूत्र में 'अग्नीधेऽग्रे ददाति' आदि ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' कहा गया है।

"विरोधे च श्रुतिविरोधदव्यक्तः शेषः" (३।८।३२)—यहाँ 'गर्भरहित सम दो दर्भों की दो विधृतियाँ बनानी चाहिए' ऐसा विधान है। अब 'ये विधृतियाँ संस्कृत हों या असंस्कृत ?' ऐसा संशय होने पर इस सूत्र द्वारा सिद्धान्त किया गया है कि यथाविहित-संस्कार-संस्कृत कुश का 'स्तरण' से अन्यत्र निषेध होने से विधृति आदि अव्यक्त अर्थात् संस्काररूप धर्म से रहित ही रहेंगी।

Scanned by CamScanner

क्योंकि संस्कृत कुश का 'विधृति' में विनियोग करने पर उसका 'स्तरण' में विनियोग करनेवाली "बर्हिषा वेदिं स्तृणाति" इस श्रुति के साथ विरोध होगा। इस सूत्र में "बर्हिषा वेदिं स्तृणाति" इस ब्राह्मणवाक्य को श्रुति कहा गया है।

"अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुतिफलानि स्युः" (४।१।४)—यहाँ 'अनीक्षण-सङ्कल्प आदि प्रजापतिव्रत पुरुषार्थ हैं' ऐसा निश्चय हो जाने पर इस सूत्र द्वारा यह शङ्का उठायी गयी है कि 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादि शास्त्र के समान ही 'समिधो यजति' आदि शास्त्र भी हैं। अतः उन्हें भी पुरुषार्थ ही क्यों न मान लिया जाय? उनके समीप श्रुत अर्थवादवाक्य द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ ही उनके फल होंगे। इस सूत्र में 'अर्थवाद' को 'श्रुति' कहा गया है।

"स्वेन त्वर्थेन संबन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्तस्माद् यथाश्रुति स्युः" (४।१।८)—यहाँ 'स्फ्य' आदि यज्ञायुध होम के साधन (हविरूप) है अथवा अपने-अपने कार्यमात्र के साधक हैं?" ऐसा संशय होने पर सिद्धान्त पक्ष से इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि 'स्फ्येनोद्धन्ति, कपालेषु श्रपयति, अग्निहोत्रहवण्यां हवींषि निर्वपति" इत्यादि वाक्यों द्वारा श्रुत अपने-अपने कार्यों से ही 'स्फ्य, कपाल' आदि द्रव्यों का सम्बन्ध है, क्योंकि इनका पृथक्-पृथक् प्रयोजन श्रुत है। ऐसी स्थिति में यथाश्रुति पृथक् पृथक् वाक्यविहित तत्तत् कार्यों का साधकमात्र ही इन्हें मानना उचित है। इस सूत्र में 'स्फ्येनोद्धन्ति' आदि ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' कहा गया है।

Scanned by CamScanner

"नाशब्दं तत्प्रमाणत्वात् पूर्ववत्" (४।१।१४)—यहाँ "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इस वाक्य में पशुपदोत्तर प्रत्ययवाच्य संख्या विवक्षित है या अविवक्षित ?, ऐसा संशय होने पर 'अविवक्षित है' इस पूर्वपक्ष को सिद्ध करते हुए प्रस्तुत सूत्र द्वारा कहा गया है कि 'पशुमालभेत' यहाँ एकत्वसंख्या प्रतीत नहीं होती। जो एकत्व प्रतीत होता है, वह 'अशाब्द' अर्थात् शब्दजन्य प्रतीति का विषय नहीं है। क्योंकि 'पशुमालभेत' इस वाक्य में 'एकपदश्रुति'-रूप प्रमाण विद्यमान होने से वाक्य-प्रमाण से याग में पशुगत एकत्व का अन्वय असम्भव है। यहाँ "अग्नीषोमीयं पशुमालयेत" इस ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' कहकर उद्धृत किया है।

"शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तद्दृश्यते तस्य ज्ञानं यथाऽन्येषाम्" (४।१।१५)—यहाँ सिद्धान्त पक्ष में इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि 'पशुमालभेत' यहाँ पशुपदोत्तर प्रत्ययवाच्य जो एकत्वसंख्या है, तद्विषयक ज्ञान जन्यता-सम्बन्ध से शब्दविशिष्ट ही है। अर्थात् यहाँ एकत्वप्रतीति शब्दजन्य प्रतीति की विषय है ही, क्योंकि एकवचन श्रवण होने पर एकत्वविषयक स्मरण लोक में अनुभूत है। जिस पद के श्रवण से तद्विषयक स्मरण होता है, वह विषय शब्दजन्य प्रतीति का विषय ही कहा जाता है। इसलिए 'स्वाश्रयकरणकत्वसम्बन्धेन' अर्थात् एकत्वाश्रय-पशुकरणकत्व सम्बन्ध से पशुपदोत्तर प्रत्ययवाच्य एकत्वसंख्या का याग में ही अन्वय होगा। सफल याग में अन्वित होने से एकत्व भी सफल है। अतः उसकी विवक्षा अत्यन्त आवश्यक हो जाती है।

अब रह गयी बात यह कि इस तरह तो याग में

Scanned by CamScanner

एकत्व का अन्वय 'वाक्य'रूप प्रमाण से ही करना होगा। ऐसी स्थिति में एकपद-श्रुतिरूप प्रमाण से वाक्य का बोध होकर पशु में ही एकत्व का अन्वय उचित है। इसका उत्तर यही है कि 'एकपदश्रुति' एकत्वत्वेन रूपेण घटादि पदार्थान्तरगत एकत्व की भी उपस्थिति सम्भव होने पर उनकी व्यावृत्ति के साथ केवल स्वप्रकृत्यर्थ पशुगत एकत्व की उपस्थिति कराकर चरितार्थ है। अतः वह 'वाक्य'प्रमाण की बाधिका न होगी। इस सूत्र में भी "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इस ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' पद में कहा गया है।

"मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च" (४।१।२४)—यहाँ "तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्" यहाँ 'दधि का आनयन आमिक्षा और वाजिन दोनों के लिए है अथवा केवल आमिक्षा के लिए?' यह संशय होने पर 'केवल आमिक्षा के लिए ही है, इस सिद्धान्त पक्ष की पुष्टि में इस सूत्र द्वारा शब्दपद से "मिथुनं वै दधि च घृतं च यत्संसृष्टं वस्तु स गर्भ एव' इस अर्थवाद को प्रस्तुतकर कहा गया है कि अर्थवाद में आमिक्षा की स्तुति होने से वही प्रधान है। यहाँ "मिथुनं वै दधि च" आदि अर्थवाद को 'शब्द' पद से कहा गया है।

"स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्" (४।२।१)—यहाँ "यूपस्य स्वरुं करोति" यह श्रुत है। 'यूपक्रिया की अपेक्षा भिन्न क्रिया से 'स्वरु' उत्पन्न करना चाहिए अथवा यूपक्रिया से ही 'स्वरु' अनुनिष्पन्न है?' इस संशय पर इस सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष में कहा गया है कि 'स्वरु' अर्थात् काष्ठ-शकल 'अनेक-

Scanned by CamScanner

निष्पत्ति' अर्थात् यूपक्रिया की अपेक्षा भिन्न क्रियाओं से उत्पन्न होनेवाला है। क्योंकि 'स्वशब्दकर्मत्वात्' अर्थात् "स्वरुं करोति" इस स्वतन्त्र वाक्य से उसकी उत्पत्ति श्रुत है। इस सूत्र में "यूपस्य स्वरुं करोति" इस ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' पद से कहा गया है।

"शकलश्रुतेः" (४।२।४)—यहाँ "स्वरु' यूपक्रिया से ही अनुनिष्पन्न है" इस सिद्धान्त पक्ष को दृढ़ करते हुए इस सूत्र द्वारा "यः प्रथमः शकलः परापतेत् स स्वरुः कार्यः" इस अर्थवाद को 'श्रुति' पद से उद्धृत किया गया है।

"द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" (४।३।१) —यहाँ "यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति, यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते, यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते, वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते" ये फल को उद्देश्यकर विहित हैं अथवा अर्थवाद हैं? ऐसा संशय होने पर इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि द्रव्यप्रधान और संस्कारप्रधान कर्म की विधियों में ये उदाहृत वाक्य केवल अर्थवाद हैं, क्योंकि 'पर्णमयीत्व' आदि प्रकरण-प्रमाण से क्रत्वर्थ हैं, पुरुषार्थ नहीं। इस सूत्र में "यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति" आदि ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा गया है।

"चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत न ह्यशब्दं प्रतीयते" (४।३।६)—यहाँ "विश्वजिता यजेत" ऐसा श्रुत है। 'यह अफल है अथवा फलवान्?' ऐसा संशय होने पर इस सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष में कहा गया है कि 'चोदना' अर्थात् विधिवाक्य में फल का अश्रवण होने से फलरहित कर्ममात्र का ही यहाँ विधान है; क्योंकि शब्द से अगम्य अर्थ इस शास्त्र में ग्राह्य नहीं

Scanned by CamScanner

होता। इस सूत्र में "विश्वजिता यजेत" इस ब्राह्मण-वाक्य को शब्द' पद से कहा गया है।

"अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्यात् चोदनार्थेन गम्येतार्थानां ह्यर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्येण सम्बन्धस्तस्माच्छ्रुत्येकदेशः सः" (४।३।१०)—यहाँ उपर्युक्त संशय पर ही इस सूत्र द्वारा सिद्धान्त पक्ष में कहा गया है कि "विश्वजिता यजेत" यह फलवान् है। अर्थात् यहाँ फल की कल्पना अवश्य कर्तव्य है। क्योंकि 'विश्वजिन्नाम्ना यागेन कुर्यात्" ऐसा अर्थ करने पर 'किं कुर्यात्' इस आकांक्षा के अनिवृत्त होने से 'भावना' को भाव्य की अपेक्षा रहती ही है। अतः वाक्यपूर्ति के लिए किसी न किसी फल का अध्याहार उचित ही है। फल का अध्याहार होने पर उस फल की अभिलाषा रखनेवाले पुरुष की इस कर्म में प्रवृत्ति होने से याग का अनुष्ठान सम्पन्न होगा। अन्यथा फल के अभाव में किसी पुरुष की प्रवृत्ति न होने से 'विश्वजिता यजेत' यह विधि ही निरर्थक हो जायगी। इस सूत्र में भी 'विश्वजिता यजेत' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा गया है।

"प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्वम्" (४।४।१)—यहाँ "अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति" इत्यादि अयागरूप और 'अनुमत्यै पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति" इत्यादि यागरूप क्रियाओं का उपन्यासकर उन्हींकी सन्निधि में "राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत" ऐसा श्रुत है। यहाँ "राजसूय' शब्द उभय साधारण है अथवा यागमात्रपरक?" ऐसा संशय होनेपर इस सूत्र द्वारा

Scanned by CamScanner

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि "राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत" इस वाक्य की सन्निधि में याग और तद्भिन्न दोनों प्रकार की क्रियाओं के समान रूप से प्रतिपादक शब्दों के रहने से चोदनागम्य सभी अर्थ अनङ्ग अर्थात् प्रधान ही हैं। यहाँ 'अक्षैर्दीव्यति' आदि ब्राह्मणवाक्यों को 'शब्द' पद से कहा गया है।

"दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात्" (४।४।८)—यहाँ "प्राजापत्यं दधिग्रहं गृह्णीयात्' इस वाक्य में श्रुत दधिग्रह नैमित्तिक है या नित्य-नैमित्तिक उभयरूप है अथवा केवल नित्य है?" ऐसा संशय होनेपर इस सूत्र द्वारा प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हुए उसकी पुष्टि में "यां वै काञ्चिदध्वर्युश्च यजमानश्च देवतामन्तरितस्तस्या आवृश्चेत, यत् प्राजापत्यं दधिग्रहं गृह्णीयात्" इस अर्थवाद को 'श्रुति' पद से प्रस्तुत किया गया है।]

"नित्यश्च ज्येष्ठशब्दात्" (४।४।९)—इस सूत्र द्वारा उपर्युक्त पक्षों में से द्वितीय पक्ष को स्वीकार करते हुए उसकी पुष्टि में "ज्येष्ठो वा एष ग्रहाणाम्" इस अर्थवाद को 'शब्द' पद से प्रस्तुत किया गया है।

"पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः श्रुतितो व्यपदेशाच्च तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वं तत्सन्निधावसंयुक्तं तदङ्गं स्यात् भागित्वात्कारणस्याश्रुतेश्चान्यसम्बन्धः" (४।४।३४)—यहाँ 'दर्शपूर्णमास में जितने याग विहित हैं, वे सभी प्रधानभूत हैं अथवा उनमें से कुछ प्रधानभूत हैं तो कुछ अङ्गभूत?' ऐसा संशय होने पर इस सूत्र द्वारा सिद्धान्त पक्ष को दृढ़ करते हुए कहा गया है कि

Scanned by CamScanner

"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इस श्रुति द्वारा 'दर्श' और 'पूर्णमास' इन दोनों त्रिकों को द्विवचन-निर्देश से समुदित करते हुए इनमें स्वर्गरूप फल का सम्बन्ध किया गया है। इस तरह "फलसम्बन्धित्वेन श्रूयमाणत्वं प्रधानत्वम्" इस लक्षण के अनुसार ये दोनों त्रिक प्रधान हैं। इनकी सन्निधि में फल से असम्बद्ध जो 'समिधो यजति' इत्यादि पञ्च प्रयाज या तीन अनुयाज आदि श्रुत हैं, वे इन प्रधानभूत कर्मों के अङ्ग हैं। क्योंकि 'प्रयाज' आदि की 'किं भावयेत्' यह भाव्याकाङ्क्षा प्रधान दर्शपूर्णमास के साथ सम्बद्ध होने पर ही "प्रधानं भावयेत्" इस रूप में शान्त हो सकती है। यहाँ "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति शब्द से कहा गया है।

"शब्दविप्रतिषेधाच्च" (५।१।२६)—यहाँ ज्योतिष्टोम में प्रातः अनुष्ठेय अनुवाक पठित है। उसके बाद प्रचरणी-होम आदि पठित हैं। उसके बाद सवनीय पुरोडाश का निर्वाप पठित है। यहाँ अध्वर्यु होता के लिए प्रातरनुवाक का प्रैष देकर प्रतिप्रस्थाता के लिए सवनीय पुरोडाश के निर्वाप का प्रैष देता है। इस प्रैष के बल पर पाठक्रम के अनुसार प्रचरणी-होम के अनन्तर प्राप्त सवनीय पुरोडाश-निर्वाप का प्रचरणी-होम के पहले ही प्रातरनुवाककाल में अपकर्ष हो जाता है। इसी प्रकार सवनीय पुरोडाश-निर्वाप के बाद होनेवाले "देवस्त्वा सविता मध्वा अनक्तु" आदि वाक्यों द्वारा विहित 'पुरोडाश-अलङ्कार' आदि कर्मों का भी उत्कर्ष "बहिष्पवमाने स्तुत आह—अग्नीदग्नीन् विहर, बर्हिस्तृणीहि पुरोडाशानलङ्कुरु" इस प्रैष के

Scanned by CamScanner

अनुसार हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'प्रकृतिभूत याग में निर्वाप के अनन्तर और अलङ्करण से पूर्व होनेवाले जो प्रोक्षण आदि पदार्थ चोदक (प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या) से प्राप्त हैं, उनका निर्वाप के समान अपकर्षक या अलङ्करण के समान उत्कर्षक यहाँ अनुक्त होने से 'कब अनुष्ठान किया जाय' इसका नियमन अपनी इच्छा पर निर्भर है अथवा किसी शास्त्रीय युक्ति पर निर्भर है ?' ऐसा संशय होने पर इस सूत्र द्वारा 'शब्द'पद से "पुरोडाशानलङ्कुरु" इस ब्राह्मणवाक्य को प्रस्तुतकर उसका विप्रतिषेध दिखाकर सिद्धान्तपक्ष स्थिर किया गया है।

'शब्दविप्रतिषेधाच्च' से इस जैमिनि सूत्र का संक्षेप में यही आशय है कि सौमिक प्रचरणी-होम आदि प्रारम्भ करने के पहले ही सवनीय पुरोडाश-निर्वाप के अनन्तर प्रोक्षण आदि इष्टिसम्बन्धी कर्मों का अनुष्ठान कर लेना चाहिए। क्योंकि 'पुरोडाशनलङ्कुरु' इस प्रैष में 'अलङ्कुरु' में जो 'लोट्' लकार है, उसका प्राप्तकाल अर्थ है। यदि निर्वाप के अनन्तर प्रोक्षण से लेकर अलङ्कारपर्यन्त कर्म बिना किये ही सौमिक कर्मकलाप का प्रारम्भ होगा और उसके बाद 'पुरोडाशानलङ्कुरु" ऐसा प्रैष दिया जाय, तब तो अलङ्कार के पहले होनेवाले प्रोक्षण आदि को उस समय करने के लिए कुछ काल की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में अलंकरण-काल की अप्राप्ति में ही अलङ्करणकालप्राप्त्यर्थक लोट्-लकार-विशिष्ट 'अलङ्कुरु' इस प्रैष का प्रयोग विरुद्ध हो जायगा। यदि प्रोक्षणादि से लेकर अलङ्करणपर्यन्त का अनुष्ठान-कर सौमिक कर्मकलाप का प्रारम्भ किया जायगा, तो अलंकरण

के समय प्रोक्षण आदि के अनुष्ठित रहने से 'लोट्' का प्राप्त-कालार्थत्व सङ्गत हो जायगा।

"न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात् पात्रविवृद्धिः"(५।२।९) —यहाँ ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशु के प्रसङ्ग में यूपसंस्कार अंजन, उच्छ्रयण, परिबृहण परिव्याण आदि आम्नात हैं। 'एक यूप' पक्ष में तो ये संस्कार विधान-क्रम से अनुष्ठित होंगे, पर 'एकादश यूप' आदि पक्षों में इनका अनुष्ठान पदार्थानुसमय के अनुसार होगा या काण्डानुसमय के अनुसार ?" ऐसा संशय होने पर 'काण्डानुसमय' पक्ष को सिद्धान्ततः स्थिर करने के लिए इस सूत्र द्वारा 'शब्द' पद से "अञ्जनादिपरिव्याणान्तं यजमानो यूपं नोत्सृजति" इस ब्राह्मणवाक्य को उद्धृत किया गया है। अर्थात् 'अञ्जनाख्य संस्कार से लेकर परिव्याणाख्य संस्कारतक यजमान यूप का परित्याग न करे—इसके अनुसार यजमान का यूप से अन्वारब्ध रहना आवश्यक है। यह काण्डानुसमय में ही सम्भव है, अन्यथा नहीं।

"अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात्" (५।२।१९)—यहाँ नक्षत्र-सत्र में प्रधान होम के अनन्तर "अग्नये स्वाहा" आदि वैकृत उपहोम पठित हैं। साथ ही उसी समय प्रकृति से 'नारिष्ट-होम' भी प्राप्त हैं। इन 'उपहोम और नारिष्ट होमों में से पहले किसका अनुष्ठान किया जाय ?' ऐसा संशय होने पर 'पहले प्रकृति से प्राप्त नारिष्ट-होम का ही अनुष्ठान करना चाहिए' यह सिद्धान्त पक्ष इस सूत्र द्वारा बादरायण मत का उपन्यासकर सिद्ध किया गया है। सूत्र का आशय यह है कि बादरायण

Scanned by CamScanner

प्रकृति से प्राप्त धर्मों के अनुष्ठान के अनन्तर ही विकृतिप्राप्त धर्मों का अनुष्ठान उचित मानते हैं। क्योंकि प्रकृतिप्राप्त धर्म प्रधान कर्म के प्रतिपादक 'शब्द' अर्थात् उत्पत्तिवाक्य से ही अवगत होते हैं। यहाँ उत्पत्तिवाक्यरूप ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' पद से कहा गया है।

"पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात" (५।४।११)—यहाँ 'सोम और इष्टि के पौर्वापर्य में इच्छा ही नियामिका है, ऐसा सिद्धान्त हो जाने के अनन्तर "आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, स सोमेनेष्ट्वा अग्नीषोमीयो भवति यदेवादः पौर्णमासं हविष्ट्रस्तत्र हि अनुनिर्वपेत्। तर्हि उभयदेवत्यो भवति" इस श्रुति द्वारा ब्राह्मण के लिए सोम के उत्तर अग्नीषोमीय का उत्कर्ष श्रुत है। अतः ब्राह्मण को पहले सोमयाग-कर अनन्तर ही इष्टि करनी चाहिए, ऐसा एक पूर्वपक्ष प्रस्तुत होने पर इस सूत्र द्वारा "पौर्णमासं हविस्तत्र हि अनुनिर्वपेत्" इस श्रुति में केवल 'पौर्णमास' पद का संयोग होने से ब्राह्मण को सोमयाग से पूर्व केवल पौर्णमास-इष्टि ही करनी चाहिए, और का नियम नहीं है, ऐसा दूसरा पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है। यहाँ 'पौर्णमासं हविस्तत्र हि अनुनिर्वपेत्' आदि ब्राह्मणवाक्य को श्रुतिपद से कहा गया है।

"कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद् विधिः कार्त्स्न्येन गम्यते"—(६।१।५) यहाँ "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधियों द्वारा विहित कर्मों के करने का अधिकार अन्ध आदि सभी-को है या समस्त अङ्गसहित प्रधान के अनुष्ठान में समर्थ को ही है?" ऐसा संशय होने पर सिद्धान्त पक्ष में इस सूत्र द्वार

Scanned by CamScanner

कहा गया है कि समस्त अङ्गसहित प्रधान कर्म के अनुष्ठान में समर्थ को ही अधिकार है। क्योंकि सभी श्रुतियों अर्थात् तत्-तत् फलबोधक विधिवाक्यों का यही निष्कृष्ट तात्पर्य है कि समस्त इतिकर्तव्यताविशिष्ट प्रधान द्वारा ही उस परमापूर्व की उत्पत्ति होती है, जो तत्-तत् फलों को देने में समर्थ है। इस सूत्र में ब्राह्मणभाग के समस्त विधिवाक्यों को 'श्रुति' पद से कहा गया है।

"अशब्दमिति चेत्" (६।३।२९)—यहाँ अग्नीषोमीय पशु में खादिर यूप और पालाश यूप विकल्प से विहित है। ऐसी स्थिति में जिस प्रयोग में खादिर यूप का ही ग्रहण किया जाय और वह ग्रहण कर लेने के अनन्तर नष्ट हो जाय तथा दूसरा खादिर यूप मिल न रहा हो, तो वहाँ 'खादिरसदृश यूप का ग्रहण करना चाहिए या पालाश यूप का?' ऐसा संशय होने पर यह सिद्धान्त कर दिया गया कि दो द्रव्यों के विकल्प में जिस द्रव्य को स्वीकार कर लिया गया है, उसके नष्ट हो जाने पर नष्ट द्रव्य के सदृश ही दूसरे द्रव्य का ग्रहण करना चाहिए, वैकल्पिक का नहीं; अतः खादिर यूप के सदृश ही यूप का ग्रहण करना चाहिए। तब इस सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष में पुनः कहा गया है कि खादिर यूप के सदृश जिस यूप का ग्रहण किया गया है, वह 'अशब्द' अर्थात् शब्द से विहित नहीं है, अतः अविहित होने से उसका ग्रहण क्यों किया जाय? इस सूत्र में स्पष्ट ही ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों को 'शब्द' पद से कहा गया है।

"यथाश्रुतीति चेत्" (६।४।२२)—यहाँ "यस्योभयं हविरार्तिमा-

च्छेदैन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्" ऐसा श्रुत है। 'यह ओदन-निर्वाप सायङ्कालीन, प्रातःकालीन उभय हवि के नष्ट होने पर विहित है या किसी एक हवि के नष्ट होने पर भी ?' ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष में 'जैसी श्रुति है, वैसा ही करना चाहिए' अर्थात् उभय हवि के नष्ट होने पर ही ओदननिर्वाप करना चाहिए—ऐसा इस सूत्र द्वारा कहा गया है। यहाँ स्पष्ट ही 'यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत्' इस ब्राह्मणवाक्य को श्रुति-पद से कहा गया है।

"आदेशार्थेतरा श्रुतिः" (६।५।२७)—यहाँ "यदि सत्राय दीक्षिताः साम्युत्तिष्ठेरन् सोमं विभज्य विश्वजिता यजेत" ऐसा श्रुत है। ('सामि'का का अर्थ अपरिसमाप्य है)। इसका तात्पर्य यह है कि सत्र में प्रवृत्त जितने लोग हों, उनमें से यदि कोई सत्र के एकदेश का अनुष्ठान कर लेने के अनन्तर अवशिष्ट अंश का परित्याग कर जाना चाहता हो, तो अपने सोम का विभाग-कर उस सोम के द्वारा 'विश्वजित्' याग करे। अब 'विश्वजित् याग का यह अनुष्ठान जाने की इच्छा यदि सोमक्रयण के अनन्तर हो, तभी विहित है या उसके पूर्व भी ?' ऐसा संशय होने पर विश्वजिद्याग में निमित्त केवल 'जाने की इच्छा' ही है, अतः सोमक्रयण के पूर्व भी 'जाने की इच्छा' होने पर विश्वजित् याग का अनुष्ठान करना चाहिए, इस सिद्धान्त पक्ष को स्थिर करते हुए प्रस्तुत सूत्र से कहा गया है कि 'सोमं विभज्य विश्वजिता यजेत' यह श्रुति केवल आदेशार्थ है, अर्थात् लोक-प्रसिद्ध 'स्वीयांश-विभाग' मात्र की अनुवादिका है। यहाँ

Scanned by CamScanner

'सोमं विभज्य' आदि ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' पद से कहा गया है।

"माघी वैकाष्टकाश्रुतेः" (६।५।३२)—यहाँ "चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्या दीक्षेरन्। तेषामेकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते" ऐसा श्रुत है। यहाँ 'कौन-सी पौर्णमासी ली जाय ?' ऐसा संशय होने पर इस सूत्र द्वारा माघी पूर्णिमा ही ली जाय, यह सिद्धान्त स्थिर करने के लिए "तेषामेकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते" इस ब्राह्मण-वाक्य को 'श्रुति' पद से कहा गया है। (याज्ञिक प्रसिद्धि के अनुसार माघकृष्णा अष्टमी 'एकाष्टका' नाम से प्रसिद्ध हैं)।

"विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते" (६।५।४९)—यहाँ ज्योतिष्टोम में प्रातःसवन के समय बहिष्पवमान के द्वारा स्तोष्यमाण उद्गाता, प्रस्तोता आदि ऋत्विक् परस्पर एक दूसरे के 'कच्छ' को पकड़कर शाला से बाहर जाते हैं। अब वहाँ यदि प्रमाद से उद्गाता, प्रस्तोता आदि गृहीत कच्छ का परित्याग कर दें, तो उनके लिए प्रायश्चित्तविधायक वाक्य श्रुत है—"यदि प्रतिहर्त्ताऽपच्छिद्यात् तस्मिन्नेव सर्ववेदसं दद्यात्" आदि। यहाँ 'श्रुत परित्याग अन्यतरकर्त्तृक होने पर ही है या उभयकर्त्तृक होने पर भी ?' ऐसा इस संशय होने पर पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए इस सूत्र द्वारा उक्त प्रायश्चित्त-विधायक ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' पद से कहा गया है।

"विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् (६।७।२९)—यहाँ 'इति ह स्माह बर्कुर्वार्ष्णिर्माषान्मे पचत" इस ब्राह्मणवाक्य को अर्थवाद सिद्ध

Scanned by CamScanner

करने के प्रसङ्ग में पक्षान्तर उपस्थित करते हुए इस सूत्र द्वारा उक्त ब्राह्मणवाक्य को स्पष्ट ही वेदशब्द से कहा गया है।

"न श्रुतिविप्रतिषेधात्" (६।८।१६)—यहाँ 'उपनयन-होम लौकिक अग्नि में ही होना चाहिए' इस विचार के प्रसङ्ग में 'स्नात्वोद्वहेत्' इस ब्राह्मणवाक्य को श्रुतिपद से कहा गया है।

"श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे यथाधिकारं भावः स्यात्' (७।१।१)—यहाँ 'प्रयाज आदि केवल दर्शपूर्णमासार्थ ही हैं' यह सिद्ध करते हुए इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि अपूर्वभेद होने पर प्रयाज आदि जिस प्रकरण में पठित हैं, वहीं उनकी व्यवस्था उचित है, क्योंकि अंगत्व श्रुत्येकगम्य है। यहां 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' कहा गया है।

'अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात् प्रकरणनिबन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात् (७।४।१२)—यहाँ 'अतिदेशशास्त्र का आरम्भ अवश्य करना चाहिए' यह सिद्ध करते हुए इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि 'अङ्गकलाप के विध्येकगम्य होने से प्रकरणानुसार अङ्गों का नियमन हो जाता है। ऐसी स्थिति में उन अङ्गों का अन्य विकृतिकर्मों में अनुष्ठान अतिदेशशास्त्र द्वारा ही हो सकता है। यहाँ प्रथम 'शब्द' पद से ब्राह्मण-भाग के विधिवाक्यों को और द्वितीय 'शब्द' पद से अर्थवाद-वाक्यों को कहा गया है।

"नार्थाभावाच्छ्रुतेरसम्बन्धाः" (७,२।८)—यहाँ 'रथन्तर शब्द का अर्थ गानविशिष्ट ऋचा न होकर 'स्वरादिविशेषानुपूर्वीमात्र-स्वरूप ऋगक्षरव्यतिरिक्त गान ही है' इस विचार के प्रसङ्ग में

"कवतीषु रथन्तरं गायति" इस ब्राह्मण-वाक्य को श्रुतिपद से प्रस्तुत करते हुए सूत्र द्वारा पक्षान्तर में कहा गया है कि "अभि त्वा शूर नोनुमः' इस ऋचा के स्वर का "कयानश्चित्र आभुवत्" आदि ऋचाओं में अभाव है। अतः "कवतीषु रथन्तरं गायति" इस श्रुति का स्वर के साथ सम्बन्ध नहीं है।

"अपि वा सत्रकर्मणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात्" (७।३।५)—यहाँ 'प्रायणीय यह नामधेय धर्मों का अतिदेश नहीं करता' इस पक्ष को रखते हुए इस सूत्र द्वारा "द्वादशाहे प्रथममहः प्रायणीयः" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' पद से उद्धृतकर कहा गया है कि प्रकृति या विकृतिभूत सभी कर्मों में गुण विधान करनेवाली यह श्रुति है।

"द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगात् पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात्" (७।३।१६)—यहाँ 'वारुणप्राघासिक अवभृथ में अतिदेश से प्राप्त पुरोडाश का बाधकर "तुषैश्च निष्कासेन चावभृथमवयन्ति" इस वचन से प्रत्यक्ष उपदिष्ट तुष और निष्कास का ही द्रव्यत्वेन ग्रहण होगा' इस पक्षको निश्चित करते हुए उक्त सूत्र द्वारा "तुषैश्च-निष्कासेन" आदि ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति'पद से कहा गया है।

"परिसंख्यार्थं श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा" (७।३।२२)—यहाँ 'चातुर्मास्य में श्रुत "द्वयोः प्रणयन्ति,....तस्माद्द्वाभ्यां यन्ति।" इस वाक्य में प्रणयन शब्द सौमिक-प्रणयन कर्म का नामधेय नहीं है। यह वाक्य केवल अर्थवाद-सम्बन्ध के लिए है' यह सिद्ध करते हुए इस सूत्र द्वारा "तस्माद् द्वाभ्यां प्रणयन्ति" इस ब्राह्मण

Scanned by CamScanner

वाक्य को 'श्रवण' पद से कहते हुए कहा गया है कि यह 'श्रवण' प्राग्देशनयनरूप गुण विधान करने के लिए, परिसंख्या के लिए अथवा अर्थवाद है।

"तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः" (८।१।३६)—यहाँ "प्राजापत्यं शतकृष्णलं चरुं निर्वपेत्" ऐसा श्रुत है। 'शतकृष्णल' से सुवर्णशकल-शत गृहीत है। 'स्वर्ण में आज्यधर्म अनुष्ठेय हैं या ओषधिधर्म?' ऐसा संशय होने पर सिद्धान्त पक्ष में 'ओषधिधर्म ही अनुष्ठेय हैं' यह सिद्ध करते हुए इस सूत्र द्वारा 'आज्यं श्रपयति' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा गया है।

"न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात्" (८।४।६)—यहाँ "दर्विहोम' कर्मनामधेय है, गुणविधि नहीं" इस सिद्धान्त को स्थिर करने के प्रसङ्ग में इस सूत्र द्वारा 'शब्द' पद से "स्रुवेण जुहोति", "जुह्वा नारिष्टान् जुहोति" इन ब्राह्मणवाक्यों को प्रस्तुत किया गया है।

"शब्दसामर्थ्याच्च" (८।४।१६)—यहाँ 'दर्विहोम अपूर्व कर्म है' इस निश्चय के प्रसङ्ग में इस सूत्र द्वारा "नारिष्टान् जुहोति", "अग्निहोत्रं जुहोति" इन ब्राह्मणवाक्योंको 'शब्द' पद से कहा गया है।

"देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्याच्छ्रुतिनिर्देशात् तस्य च तत्र भावात्" (६।१।२०) यहाँ ज्योतिष्टोम में श्रुत है—"त्सरा वा एषा यज्ञस्य तस्माद्यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात् तेनोपांशु चरन्ति।" यहाँ 'उपांशुपरता अवान्तरापूर्व से ही सम्बद्ध है, परमापूर्व से नहीं'

Scanned by CamScanner

इस सिद्धान्त पक्ष को स्थिर करते हुए इस सूत्र द्वारा उक्त ब्राह्मण-वाक्य ("त्सरा वा एषा' आदि) 'श्रुति' पद से निर्दिष्ट है।

"तृचे स्याच्छ्रुतिनिर्देशात्" (९।२।१४)—यहाँ 'प्रत्येक ऋचा में 'साम' की समाप्ति होनी चाहिए' इस सिद्धान्त पक्ष के विपरीत पूर्वपक्ष में इस सूत्र द्वारा एक ही साम विभागपूर्वक तीनों ऋचाओं में समाप्त किया जाय, यह सिद्ध करने के लिए "एकं साम तृचे क्रियते" इस ब्राह्मणवाक्य का 'श्रुति' पद से निर्देश किया गया है।

"अभ्यासेनेतरा श्रुतिः" (९।२।२०)—इस सूत्र द्वारा सिद्धान्त पक्ष रखते हुए "तिसृषु गायति" इस ब्राह्मण-वाक्य का 'श्रुति' पद से निर्देशकर कहा गया है कि यह श्रुति सम्पूर्ण सामगान के अभ्यास से भी उपपन्न हो सकती है।

"नोत्पत्तिशब्दत्वात्" (९।३।१९)—यहाँ 'अग्निष्टोम के अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशु में श्रुत "अदितिः पाशान् प्रमुमोक्त्वेतान्" इस मन्त्र का बहुपशुयुक्त 'पशुगण' में उत्कर्ष न कर प्रकृतियाग में ही एकवचनान्त मन्त्र के साथ विकल्प करना चाहिए' इस पक्ष को स्थिर करने के प्रसङ्ग में इस सूत्र द्वारा "रशनया यूपं परिव्ययति इस ब्राह्मणभागस्थ वाक्य को 'शब्द' पद से कहा गया है।

"कर्म च द्रव्यसंयोगार्थमर्थाभावान्निवर्तेत तादर्थ्यं श्रुति संयोगात्" (१०।१।९)—यहाँ ज्योतिष्टोम में यूपसंस्कार के प्रकरण में "यूपमाच्छेत्स्यता परेणाहवनीयमाज्यं चारणिं चादाय यूपस्यान्तिकेऽग्निं मथित्वा 'उरु विष्णो विक्रमस्वे'ति यूपाहुतिं जुहोति"

इस ब्राह्मण-वाक्य से श्रुत आहुति 'खलेवाली में नहीं होती, इस पक्ष को सिद्ध करते हुए इस सूत्र द्वारा ऊपर उद्धृत आहुति-वाक्य का श्रुतिपद से निर्देश करते हुए कहा गया है कि खादिर आदि काष्ठविशेष को शास्त्रीय छेदन आदि संस्कारों द्वारा यूप बनाने के लिए काष्ठ में शास्त्रीय-छेदनयोग्यता हो सके, एतदर्थ उक्त आहुति विहित है। खलेवाली में तो शास्त्रीय छेदन है नहीं, क्योंकि जो पहले ही छिन्न काष्ठ कृषकों द्वारा खल (खलिहान) में गाड़ दिया जाता है, उसे ही 'खलेवाली' कहते हैं।

"स द्वयर्थः स्यादुभयोः श्रुतिभूतत्वाद्विप्रतिपत्तौ तादर्थ्याद् विकारत्व-मुक्तं तस्यार्थवादत्वम्" (१०।१।३१)—यहाँ 'पशुपुरोडाश-याग देवता-संस्कारक है' इस विचार के प्रसंग में "अग्नीषोमीयवपया प्रचर्याग्नीषोमीयं पुरोडाशमनुनिर्वपति" इस ब्राह्मणवाक्य का 'श्रुति' पद से निर्देशकर उक्त सूत्र द्वारा संक्षेप में कहा गया है कि देवता-संस्कार और छिद्रापिधान दोनों के लिए पशुपुरोडाश है, क्योंकि ये दोनों श्रौत हैं।

"तच्छ्रुतौ चान्यहविष्ट्वात्" (१०।१।४०)—यहां "सौर्यं चरु निर्वपेत्' इत्यादि वाक्यों में श्रुत 'चरु' शब्द हवि का विकार है, इसे सिद्ध करते हुए इस सूत्र द्वारा "प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेच्छत-कृष्णलमायुष्कामः" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' पद से प्रस्तुत किया गया है।

"स्याद्वोभयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात्" (१०।२।५७)-यहाँ 'यजमान के मरणोत्तर भी 'सर्वस्वार' क्रतु की समाप्ति होनी चाहिए' इस पक्ष को स्थिर करते हुए 'क्रतु और समाप्ति दोनों ही प्रत्यक्षशिष्ट

Scanned by CamScanner

हैं' ऐसा कहकर इस सूत्र द्वारा प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात्पठित वेदशब्द से "यः कामयेतानामयः सर्वलोकामियाम् स सर्वस्वारेण यजेत। मरण-कामो ह्येतेन यजेतार्भवपवमाने औदुम्बरीं दक्षिणेन देशेनाहतेन वाससा परिवेष्टय ब्राह्मणाः समापयत मे यज्ञमिति सम्प्रेष्याग्नौ संविशति" इस ब्राह्मणवाक्य का निर्देश किया गया है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि समाजियों के कथनानुसार ब्राह्मणभाग को पौरुषेय मान लिया जाय, तब तो ब्राह्मणभाग के वाक्य 'स्मृति' कहे जायँगे। ऐसी स्थिति में उक्त ब्राह्मणवाक्य में उपदिष्ट क्रतु-समाप्ति 'परोक्षशिष्ट' ही कही जायगी न कि 'प्रत्यक्षशिष्ट'। फिर जैमिनि ने उसे 'प्रत्यक्षशिष्ट' कैसे कहा? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जैमिनि को ब्राह्मणवाक्यों की अपौरुषे-यता, अतएव वेदता इष्ट है।

इसी प्रकार 'वेदान्तदर्शन' में श्रीव्यासजी ने भी "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इस सूत्र में 'प्रत्यक्ष' शब्द से वेद का और 'अनुमान' शब्द से स्मृति का ग्रहण किया है।

"षड्भिर्दीक्षयति तासां मन्त्रविकारः श्रुतिसंयोगात्" (१०।३।२३)—यहाँ "अग्निचयन में "षड्भिर्दीक्षयति" ऐसा श्रुत है। वहाँ प्रकृति से प्राप्त "आकूत्यै प्रयुजे" आदि षट् मन्त्र प्राप्त हैं। साथ ही "आकूतिमग्निम्" आदि वैकृत षट् मन्त्र प्राप्त हैं। ऐसी स्थिति में वैकृत मन्त्रों से प्राकृत मन्त्रों का बाध न होकर दोनों का समुच्चय ही होगा"—इस विचार के प्रसंग में इस सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष रखते हुए कहा गया है कि "षड्भिर्दीक्षयति" ऐसा श्रुति-संयोग होने से प्राकृत दीक्षाहुतियों का प्राकृत मन्त्र से अतिरिक्त

Scanned by CamScanner

वैकृत मन्त्र ही होना चाहिए। इस सूत्र में "षड्भिर्दीक्षयति" इस ब्राह्मणवाक्य को श्रुतिपद से कहा गया है।

"शङ्कते च निवृत्तेरुभयत्वं हि श्रूयते" (१०।३।३३)—यहाँ 'पुनः आधान में आग्न्याधान-दक्षिणा की निवृत्ति हो जाती है' इस विचार के प्रसंग में इस सूत्र के "यद् वैकृतीर्ददाति दक्षिणा उभय्योऽपि तेन दक्षिणाः प्रत्ता भवन्ति" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रूयते' शब्द से कहा गया है।

"असंयोगाद् विधिश्रुतावेकजाताधिकारः स्याच्छ्रुत्याकोपात् क्रतोः (१०।३।४३)—यहाँ 'गायों में ही द्वादशशत-दक्षिणात्व है' इसे सिद्ध करने के प्रसङ्ग में इस सूत्र द्वारा "गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्च गर्दभश्चाजाश्चावयश्च व्रीहयश्च तिलाश्च माषाश्च तस्य द्वादशशतं दक्षिणा" इस ब्राह्मणवाक्य को श्रुतिशब्द से कहा गया है।

"सर्वस्य वा क्रतुसंयोगादेकत्वं दक्षिणार्थस्य गुणानां कार्यैकत्वादर्थे विकृतौ श्रुतिभूतं स्यात् तस्मात् समवायाद्धि कर्मभिः" (१०।३।५७) —यहाँ 'भू' नामक एकाह-क्रतु में विशेषविहित धेनुरूप दक्षिणा द्वारा 'गौश्चाश्वश्च' आदि पूर्वोक्त वाक्य द्वारा विहित दक्षिणा का बाध हो जाता है, इस पक्ष के साधक इस सूत्र में भी पूर्वोद्धृत "गौश्चाश्वश्च" आदि ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' कहा गया है।

"एके तु श्रुतिभूतत्वात् संख्यया गवां लिङ्गविशेषेण" (१०।३।६२) —यहाँ 'साद्यस्क में प्रत्यक्ष विहित सोमक्रय के साधन त्रिवत्स द्वारा अजा, हिरण्य, वृषभ आदि सबका बाध हो जाता है'

Scanned by CamScanner

इस विचार के प्रसङ्ग में पूर्वस्थित पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए "एकां गां दक्षिणां दद्यात्तेभ्य एव" इस ब्राह्मणवाक्य को श्रुतिपद से कहा गया है।

"अपि वा श्रुतिमूलत्वात् सर्वासां तस्य भागो नियम्येत" (१०।३।७५) —यहाँ 'यजुर्युक्त रथ अध्वर्यु को अवश्य देना चाहिए' ऐसा नियम करने के पक्ष में इस सूत्र द्वारा 'सप्तदशरथाः सप्तदशनिष्काः सप्तदशदास्यो दक्षिणाः' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' कहा गया है।

"विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना" (१०।४।२३)— यहाँ 'दर्शपूर्णमास आदि याग में 'विधि' शब्द द्वारा ही देवता का अभिधान है' इस पक्ष को स्थिर करते हुए इस सूत्र में "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" इस ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' पद से कहा गया है।

"शेषाणां वा चोदनैकत्वात्तस्मात् सर्वत्र श्रूयते" (१०।४।२५)— पूर्वोक्त विचार के ही प्रसङ्ग का यह भी सूत्र है। इसमें भी 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रूयते' से कहा गया है।

"प्राकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेनाभिधानं स्यात्" (१०।४।२६)—यहाँ 'पावकत्वगुणयुक्त अग्नि ही आधान में अभिहित है' इसे सिद्ध करते हुए इस सूत्र में "अग्नये पावकायाष्टाकपालम्" इस ब्राह्मण-वाक्य को 'श्रुति' कहा है।

"आरम्भसमवायाद्वा चोदितेनाभिधानं स्यादथस्य श्रुतिसम-वायित्वादवचने च गुणशासनमनर्थकं स्यात्" (१०।४।२८)—पूर्वोक्त

विचार में ही इस सूत्र द्वारा ब्राह्मणभाग के सभी विधिवाक्यों को 'श्रुति' कहा गया है।

"उभयपानाद् पृषदाज्ये दध्नोऽप्युपलक्षणं निगमेषु पातव्यस्योपलक्षणत्वात्" (१०।४।५१), "दध्नस्तु गुणभूतत्वादाज्यपा निगमाः स्युर्गुणत्वं श्रुतेराज्यप्रधानत्वात्" (१०।४।५५)—'चातुर्मास्य में आज्य-शब्द का अविकारेण प्राधान्य होता है' इस विचार के प्रसङ्ग में इन दोनों सूत्रों द्वारा 'देवाँ आज्यपाँ आवह" इस मन्त्र को 'निगम' शब्द से कहा गया है। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के सप्तम समुल्लास में श्रीस्वामी दयानन्दजी ने 'इत्यपि निगमो भवतीति ब्राह्मणम्" (निरुक्त ५।३।४)—ऐसा उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि "ब्राह्मणभाग में 'निगम' शब्द का ही प्रयोग होता है, 'वेद' शब्द का नहीं; अतः ब्राह्मणभाग वेद नहीं हैं।" पर यह उनका प्रयास निष्फल हो जाता है क्योंकि जैसे निरुक्त के उपर्युक्त उद्धरण द्वारा ब्राह्मणभाग में 'निगम' शब्द का प्रयोग होना सिद्ध होता है, वैसे ही ऊपर निर्दिष्ट दो जैमिनीय सूत्रों द्वारा मन्त्रभाग में भी 'निगम' शब्द का प्रयोग होना सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में वेदशब्द के पर्याय 'निगम' शब्द का एक और ब्राह्मण दोनों में अविशेषेण मन्त्र प्रयोग उपलब्ध होने से ब्राह्मणभाग का वेदत्व स्थिर ही हो जाता है।

वस्तुतः निरुक्त में भी मन्त्रों के लिए ही 'निगम' शब्द का प्रयोग हुआ है। "इत्यपि निगमो भवतीति ब्राह्मणम्" यह पाठ उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार निरुक्त (५।३।४) में मिलता

Scanned by CamScanner

ही नहीं। वहाँ केवल "इत्यपि निगमो भवति" इतना ही मिलता है। फिर उसके उदाहरण में मन्त्र का ही उद्धरण है, ब्राह्मण का नहीं। यदि निरुक्त में कहीं 'इति ब्राह्मणम्' के साथ 'इत्यपि निगमो भवति' यह पाठ हो, तो भी यह कहा जा सकता है कि यदि निगमशब्द से निर्दिष्ट ब्राह्मण वेद नहीं हैं, तो 'वेद'शब्द से निर्दिष्ट होने पर भी मन्त्र 'वेद' कैसे हो सकेंगे, क्योंकि 'वेद' और 'निगम' दोनों समानार्थक होने से इसमें कोई विनिगमना नहीं कि 'वेद'शब्द से ही वेद होना सिद्ध हो और 'निगम' शब्द से नहीं।

इसी प्रकार श्रीस्वामी दयानन्दजी ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में जो यह लिखा है कि "देखो, संहिता-पुस्तक के आरम्भ और अध्याय की समाप्ति में 'वेद' यह शब्द सनातन से लिखा आता है और ब्राह्मण-पुस्तक के आरम्भ व समाप्ति में वेदशब्द कहीं नहीं लिखा", वह भी सर्वथा सारहीन है। कारण, ब्राह्मणभाग में 'वेद'शब्द का व्यवहार पूर्व में उदाहृत जैमिनिसूत्रों से दिखाया जा चुका है। श्रीदयानन्दजी तो मन्त्रभाग के लिए वेदशब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं दिखला सके। केवल पुस्तक के आदि-अन्त में वेदशब्द के उल्लेख का हवाला देना कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। क्योंकि ब्राह्मणभाग की कई मुद्रित पुस्तकों के आरम्भ और अन्त में 'वेदशब्द' का उल्लेख मिलता है, तो कई मन्त्रभाग की पुस्तकों के आरम्भ और अन्त में 'वेदशब्द' का उल्लेख नहीं मिलता। यथा—

'मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर' द्वारा १९२६ में प्रकाशित

Scanned by CamScanner

'शतपथ ब्राह्मण' में "श्रीशुक्लयजुर्वेदशतपथब्राह्मणम्" ऐसा लिखा हुआ है। श्री 'वेबर' द्वारा बर्लिन (जर्मनी) से सन् १८५५ में प्रकाशित 'शतपथ ब्राह्मण' में भी 'श्रीशुक्लयजुर्वेदे शतपथब्राह्मणम्' ऐसा लिखा है। चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी' से सन् १९३६ में प्रकाशित 'ताण्डय-ब्राह्मण' में "सामवेदीयं ताण्डयब्राह्मणम्" लिखा हुआ है।

इसके अतिरिक्त वेददीप-भाष्य सहित 'शुक्लयजुःसंहिता' में केवल "शुक्लयजुःसंहिता" ऐसा लिखा है, उसमें वेदनाम ही नहीं है। 'माध्यन्दिनीय संहिता' की प्रकाशित पुस्तक में भी "माध्यन्दिनीयायां वाजसनेयि-संहितायां चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः" इतना ही प्रकाशित है। उसमें वेदशब्द है ही नहीं। सं० १८९७ में हस्तलिखित एक पुस्तक (जो श्रीबालकरामजी अग्निहोत्री, ऋषीकेश के पास है) के अन्त में "इति श्रीसंहितायां दीर्घपाठे चत्वारिंशोऽध्यायः" इतना ही लिखा है। 'शुक्लयजुःकाण्व-संहिता-भाष्य' में भी 'वेद' शब्द के बिना "शुक्लयजुःकाण्व, संहिताभाष्यम्' इतना ही लिखा है। उसीमें भाष्य के अन्त में "माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहिताभाष्ये" यह लिखा है।

इतना ही नहीं, यदि केवल किसी पुस्तक के आरम्भ एवं अन्त में 'वेद' शब्द लिखनेमात्र से उस पुस्तक का वेदत्व समाजियों के मत से सिद्ध होता है, तब तो उपनिषदों के अन्त में "यह अमुक वेद की उपनिषद् है" ऐसा लिखा रहने से उनके मत के उपनिषद् में भी 'वेदत्व' सिद्ध हो सकता है। वस्तुतः जैसे जिस वेद के जो मन्त्र होते हैं, वे उस वेद

Scanned by CamScanner

के नाम से प्रसिद्ध होते हैं, वैसे ही जिस वेद की जो संहिता या जो ब्राह्मण होते हैं, वे उस वेद के नाम से प्रसिद्ध होते ही हैं, चाहे उनका पुस्तकों के आरम्भ और अन्त में 'वेद' शब्द का उल्लेख हो या न हो। अतः इस प्रसंग को यहीं समाप्तकर प्रकृत विषय (द्वादशलक्षणी द्वारा ब्राह्मण के वेदत्व का साधन) पर ध्यान दें।

"न वा संस्कारशब्दत्वात्" (१०।४।५३)—'चातुर्मास्य में 'आज्य' शब्द का ही अविकारेण प्राधान्य है' इस विचार के प्रसंग में यह भी सूत्र है। इसमें "पृषदाज्येन यजति" इस ब्राह्मण-वाक्य को 'शब्द' पद से कहा गया है।

"एक त्रिके तृचादिषु माध्यन्दिनश्छन्दसां श्रुतिभूतत्वात्" (१०।५।७)—यहाँ "एक त्रिक' नामक क्रतु में आद्य तृच में ही गान होता है" इस विचार के प्रसङ्ग से पूर्वपक्ष के इस सूत्र में "त्रिच्छन्दा वै माध्यन्दिनः पवमानः" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' कहा गया है।

"अपि वा परिसंख्या स्यादवदानीयशब्दत्वात्" (१०।७।७)—यहाँ 'पशु के हृदयादि अङ्गविशेषों द्वारा ही याग का अनुष्ठान होना चाहिए' इस पक्ष को स्थिर करते हुए इस सूत्र द्वारा "सुरग्रहांश्चानवदानीयान्" आदि ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति'शब्द से कहा गया है।

"विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्ग्रहणात् पुनः श्रुतिरनर्थकः स्यात्" (१०।७।१४)—यहाँ "आज्यभागौ यजति" द्वारा अपूर्व गृहमेधीय आज्यभाग का विधान है, इस विचार के प्रसंग में प्रथम पक्ष

Scanned by CamScanner

रखते हुए इस सूत्र द्वारा "आज्यभागौ यजति", "यज्ञस्यैव चक्षुषी नान्तरेति" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' पद से कहा गया है।

"श्रुत्यानर्थक्यमिति चेत्" (१०।७।५६)—यहाँ "वाजपेय आदि यूप का खादिरत्व आदि नियमित है" इस सिद्धान्त पक्ष में आशङ्का उठाते हुए इस सूत्र द्वारा "यवमयो मध्यः" इस ब्राह्मण-वाक्य को 'श्रुति' पद से कहा गया है।

"यावच्छ्रुतीति चेत्" (१०।७।७२)—यहाँ 'काम्येष्टियों में प्रकृति से प्राप्त द्रव्य और देवता की निवृत्ति हो जाती है' इस विचार के प्रसङ्ग में इस सूत्र में "औदुम्बरो यूपो भवति" इस ब्राह्मण-वाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा गया है।

"न प्राकृतावशब्दत्वात्" (१०।७।६३)—यहाँ 'सौमापौष्ण-पशु-याग में खादिर यूप नियमित है' इस विचार के प्रसङ्ग में इस सूत्र द्वारा ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों को 'शब्द' पद से कहा गया है।

"यथाश्रुतीति चेत्" (१०।७।७२) यहाँ 'पञ्चावदानता सर्वाङ्ग-साधारण है' इस पक्ष में पूर्वपक्ष रखते हुए इस सूत्र द्वारा "चतुरवत्ती यजमानः पञ्चावत्तैव वपा कार्या" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा गया है।

"न तुल्यहेतुत्वादुभयं शब्दलक्षणम्" (१०।८।३)—यहाँ 'नञर्थ-विचार' के प्रसङ्ग में इस सूत्र द्वारा "यजतिषु ये यजामहं करोति, नानुयाजेषु" इस ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' पद से कहा गया है।

Scanned by CamScanner

"न शब्दपूर्वत्वात्" (१०।८।११)—यहाँ 'आधान में उपवाद का विकल्प है' इस विचार के प्रसङ्ग में 'रथन्तरमभिगायते गार्हपत्यस्य आधीयमाने' इस ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' पद से कहा गया है।

"अक्रतुयुक्तानां वा धर्मः स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात्" (१०।८।१३)—यहाँ "दीक्षितो न ददाति" यह निषेध पर्युदासरूप है, इस सिद्धान्त पक्ष के विपरीत पक्षान्तर उपस्थित करते हुए इस सूत्र द्वारा "आत्रेयाय हिरण्यं ददाति", "दक्षिणानि जुहोति" इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों को प्रत्यक्षशिष्ट (साक्षात् पठित वेद) कहा गया है।

"तत्संस्कारश्रुतेश्च" (१०।८।३०)—यहाँ 'पुरोडाश का द्विरवदान ही होता है, उपस्तरण और अभिघारण के साथ चतुरवदान हो जाता है, इस विचार के प्रसंग में इस सूत्र द्वारा "यदुपस्तृणात्यभिघारयत्यमृताहुतिमेवैनां करोति" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा गया है।

"उपांशुयाजमन्तरा यजतीति हविर्लिङ्गाश्रुतित्वाद्याथाकामी प्रतीयेत" (१०।८।४७) यहाँ उपांशुयाज ध्रौवाज्य से होता है, इस सिद्धांत से विपरीत पूर्वपक्ष में इस सूत्र द्वारा "पौष्णमास्यामुपांशुयाजमन्तरा यजति" इस ब्राह्मणवाक्य को श्रुतिपद से कहा गया है।

"ऐकशब्द्यादिति चेत्" (११।१।१४)—यहाँ 'दर्शपूर्णमास आदि काम्यकर्मों में सभी अंगों का उपसंहार होना चाहिए' इस विचार के प्रसंग में इस सूत्र द्वारा 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' पद से कहा गया है।

Scanned by CamScanner

"विधिस्त्वेकश्रुतित्वादपर्यायविधानान्नित्यवच्छ्रुतभूताभिसंयोगादर्थेन युगपत् प्राप्तेर्यथाक्रमं निवीतवत् तस्मात् सर्वप्रयोगे प्रवृत्तिः स्यात्" (११।१।१६)—यहाँ पूर्वोक्त विचार में ही सिद्धान्तपक्षीय इस सूत्र द्वारा ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों को 'श्रुति' पद से कहा गया है।

"धर्ममात्रे त्वदर्शनाच्छब्दार्थेनापवर्गः स्यात्" (११।१।२८)—यहाँ अदृष्टफलक अवघात आदि का सकृत् अनुष्ठान होता है' इस पक्ष को सिद्ध करते हुए इस सूत्र द्वारा ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों को शब्दपद से कहा गया है।

"तुल्यानां तु यौगपद्यमेकशब्दोपदेशात् स्याद्विशेषाग्रहणात्" (११।१।५४)—यहाँ आग्नेय आदि प्रधान कर्मों में भेद होने पर भी आघार आदि अङ्गों का एकतन्त्र से ही अनुष्ठान होता है, इस पक्ष को स्थिर करते हुए इस सूत्र में "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इस ब्राह्मणवाक्य को वेदसमानार्थक 'उपदेश' पद से कहा गया है।

"विधेस्वितरार्थत्वात्सकृदिज्याश्रुतिव्यतिक्रमः स्यात्" (११।१।६२)—यहां पूर्वोक्त सिद्धान्त पक्ष के विपरीत पूर्वपक्ष में इस सूत्र द्वारा ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों को 'श्रुति' पद से कहा गया है।

"एकदेशकालकर्तृत्वं मुख्यानामेकशब्दोपदेशात्" (११।३।१)। यहाँ 'एक प्रयोग में देश, काल, कर्ता आदि का तन्त्रेण अनुष्ठान होता है' इस सिद्धान्त पक्ष में इस सूत्र द्वारा "समे दर्श-

Scanned by CamScanner

पूर्णमासाभ्यां यजेत", "दर्शपूर्णमासयोश्चत्वार ऋत्विजः" इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों को 'शब्दोपदेश' पद से कहा गया है।

"आम्नायवचनं तद्वत्" (११।२।४१)-यहाँ 'उत्तर विहार, दक्षिण विहार आदि देशभेद होने पर सभी अङ्गों का प्रति देश-भेद से पुनः अनुष्ठान होता है' इस सिद्धान्त पक्ष में इस सूत्र द्वारा "यदेवाध्वर्युः करोति तत्प्रतिप्रस्थाता करोति" इस ब्राह्मणावक्य को आम्नायवचन (वेदवाक्य) शब्द से कहा गया है।

"पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे प्राजापत्यानां कर्मोत्सर्गः श्रुतिसामान्यादारण्य-वत्तस्माद् ब्रह्मसाम्नि चोदनापृथक्त्वं स्यात्" (११।२।४६)—यहाँ 'वाजपेय-याग में उक्त प्राजापत्य पश्वालम्भशेष का ब्रह्मसाम-काल में उत्कर्ष होना चाहिए' इस विचार के प्रसंग में इस पूर्व-पक्षीय सूत्र द्वारा 'पर्यग्निकृतानारण्यानुत्सृजत्यहिंसायै' इस ब्राह्मण-वाक्य में "उत्सृजति" पद को 'वेदपद' के समानार्थक 'शब्द' पद से कहा गया है।

"न श्रुतिविप्रतिषेधात्" (११।३।५०) — यहाँ 'सभी सोमों के अनन्तर प्राजापत्य-पशुप्रचार होता है' इस सिद्धान्त पक्ष के विपरीत एक पक्षान्तर प्रस्तुत करते हुए इस सूत्र में 'उपरिष्टात् सोमानां प्राजापत्यैश्चरन्ति" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति'शब्द से कहा गया है।

"भेदस्तु तद्भेदात् कर्मभेदः प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात्" (११।४।२४)—यहाँ 'मुख्यकाल में भेद होने से अङ्गों का पुनः अनुष्ठान होना चाहिए' इस पक्ष को स्वीकार करते हुए

Scanned by CamScanner

इस सूत्र द्वारा ब्राह्मणभाग के मुख्य विधिवाक्यों को 'प्रधान शब्द' पद से कहा गया है।

"अपि वा प्रतिपत्तित्वात्तन्त्रं स्यात्स्वत्वस्याश्रुतिभूतत्वात्" (११।४।३४) यहाँ 'कुम्भ्यादि का तन्त्रत्व ही इष्ट है' इस सिद्धान्त पक्ष के इस सूत्र में "अर्धर्चे वसाहोमं जुहोति" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' कहा गया है।

"तन्त्रिसमवाये चोदनातः समानानामैकतन्त्र्यमतुल्येषु तु भेदो विधिक्रमतादर्थ्यात्तादर्थ्यं श्रुतिकालनिर्देशात्" (१२।१।१)—यहाँ 'अग्नीषोमीय प्रयाजादि से पुरोडाश का उपकार हो जाता है' इस सिद्धान्त पक्ष के विपरीत पूर्वपक्ष में इस सूत्र द्वारा "अग्नीषोमीयं प्रणीयाग्नीषोमीयतन्त्रं प्रक्रमयति", "वपया प्रचर्य पुरोडाशतन्त्रं प्रक्रमयति" इन ब्राह्मणवाक्यों को 'श्रुति' कहा गया है।

'निर्देशाद् वा वैदिकानां स्यात्" (१२।२।३)—यहाँ 'गार्हपत्य आदि त्रेताग्नि केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के लिए ही हैं' इस सिद्धान्त पक्ष के विरुद्ध पूर्वपक्ष रखते हुए इस सूत्र द्वारा "गार्हपत्ये पत्नीः संयाजयन्ति", "दक्षिणाग्नौ फलीकरणहोमं करोति" "यदाहवनीये जुहोति" इन ब्राह्मणवाक्यों को वेदशब्द से कहा है।

"निशियज्ञे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः स्यात्प्रत्यक्षशिष्टत्वात्" १२।२।१४) —यहाँ 'निशियज्ञ में प्राकृतदर्शेष्टितन्त्र की प्रवृत्ति होती है' इस विचार के प्रसंग में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए इस सूत्र द्वारा "अग्नये रक्षोघ्ने पुरोडासमष्टाकपालं निर्वपेत् यं रक्षांसि संचेरन्" इत्यादि ब्राह्मणवाक्य को प्रत्यक्ष (साक्षात्पठित वेद) कहा गया है।

Scanned by CamScanner

"संख्यासु तु विकल्पः स्याच्छ्रुतिविप्रतिषेधात्" (१२।४।९)—यहाँ 'आधान में विविधसंख्याक दक्षिणाओं का विकल्प है' इस सिद्धान्तपक्ष में इस सूत्र द्वारा "एका देया षड् देया द्वादश देया" इस ब्राह्मणवाक्य को श्रुति कहा गया है।

"आम्नायवचनाच्च" (१२।४।३६)—यहाँ 'सत्र में अञ्जन आदि संस्कार सभीके लिए हैं' इस विचार के प्रसंग में इस सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए "सत्रे भूयसां यजमानानां यो गृहपतिः स भूयिष्ठामृद्धिमृध्नोति" इस ब्राह्मणवाक्य को आम्नायवचन (वेदवाक्य) कहा गया है।

इस तरह स्पष्ट है कि "अथातो धर्मजिज्ञासा" से लेकर "अन्वाहार्ये च दर्शनात्" इस सूत्रतक पूर्वमीमांसा-दर्शन में ६० पादों एवं ९१३ अधिकरणों से युक्त १२ अध्याय हैं। प्रायः सभी अध्यायों के सभी अधिकरणों में ब्राह्मणभाग के ही वाक्यार्थों पर विचार है। वह युक्त भी है, क्योंकि एक तो मन्त्र ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों द्वारा विहित कर्मों के स्मारकमात्र हैं। अतएव किसी नवीन अर्थ के विधायक न होने अनुवादक होते हैं। ऐसी स्थिति में जैसे लोक में मूलवाक्यों पर विचार कर लेनेमात्र से स्वयम् गतार्थ अनुवादक-वाक्यों पर विचार नहीं किया जाता, वैसे ही मानान्तर से सर्वथा अप्राप्त कर्मों के विधायक ब्राह्मण-भागस्थ मूलवाक्यों पर विचार कर लेनेमात्र से स्वयं गतार्थ उनके अनुवादक मन्त्रभागस्थ वाक्यों पर विचार करने का अवसर ही नहीं आता। और दूसरे अर्थ में सन्देह उपस्थित होने पर ही विचार का प्रसङ्ग आता है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण-

Scanned by CamScanner

भाग के जिन मूलभूत विधिवाक्यों के अनुवादक मन्त्रभाग के वाक्य हैं, उनके अर्थ का विचारपूर्वक निश्चय हो जाने के अनन्तर अनुवादक मन्त्रभागस्थ वाक्यों के अर्थ में सन्देह ही उपस्थित नहीं हो सकता। फिर विचार करने का अवसर ही कैसे आये ?

दार्शनिक लोगों में 'वेदवाक्य-विचार' को ही 'मीमांसा' कहा जाता है। अतएव पूर्वोत्तर मीमांसा-दर्शन में पौरुषेय मन्वादि-स्मृति, इतिहास, पुराण आदिगत वाक्यों के अर्थों पर विचार न कर अधिकतर ब्राह्मणभाग के वाक्यों पर ही प्राधान्येन विचार किया गया है। ऊपर उद्धृत सूत्रों से अतिरिक्त सैकड़ों सूत्र ब्राह्मणभाग के वाक्यों को ही 'श्रुति, वेद, आम्नाय, प्रत्यक्ष' आदि शब्दों से स्मरण करते हैं। फिर भी ब्राह्मणभाग को वेद न मानकर 'पौरुषेय' कहने का साहस करना करना जड़ता ही है।

यद्यपि समाजी अनेक आर्षग्रन्थों को प्रमाण मानने से इनकार कर जाते हैं, पर श्रीस्वामी दयानन्दजी ने मीमांसा-दर्शन को प्रमाण मानकर उसके "द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" (४।३।१), "द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्" (४।३।८) इन सूत्रों को स्वपक्ष के साधकरूप में प्रस्तुत किया है। इस तरह जिस पूर्वोत्तर मीमांसादर्शन का प्रामाण्य समाजियों की दृष्टि में मान्य है, उसी पूर्वोत्तर मीमांसा-दर्शन के आधार पर ब्राह्मणभाग के वेद होने में विद्वानों द्वारा हजारों प्रमाण उपस्थित किये गये हैं।

Scanned by CamScanner

वस्तुतः प्रमादियों को प्रसन्नकर अपना अनुयायी बनाने के लिए कुछ मनमाने स्वतन्त्र विचार को ही श्रीस्वामी दयानन्दजी ने 'धर्म' बताया है। 'ब्राह्मणभाग वेद नहीं है, सभी मन्त्रों का तात्पर्य ईश्वरस्तुति में ही है, भागवत आदि पुराण प्रमाण नहीं हैं, सभी यज्ञ होमविशेष ही हैं, यज्ञों का वह स्वरूप नहीं, जो ब्राह्मणभाग में विहित है, सत्य आदि सामान्य धर्म (जिनमें सभी का अधिकार है) धर्म हैं, वर्णाश्रम के विशेषधर्म प्रायः प्रामाणिक नहीं हैं' आदि कुकल्पनाओं को सही सिद्ध करने के लिए ही, वैदिक धर्म-कर्म एवं ज्ञान-विज्ञान के परममूल ब्राह्मणभाग की वेदता को न मानने का दुःसाहसकर सम्पूर्ण वैदिक-धर्म को बाधा पहुँचायी है। अनन्त मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायरूप वेद में मानवलभ्य ग्यारह सौ एकतीस शाखाएँ हैं। उनमें से चार संहितामात्र को 'वेद' बताकर वेदस्वरूप पर भी कुठाराघात ही किया है।

इसी तरह उन्होंने वेदविषयक विचार के प्रसङ्ग में कहा है कि "सब कर्मकाण्ड क्रियामय हैं। इसके बिना कोई भी विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं होता। इसके दो भेद हैं—एक परमार्थ, दूसरा व्यवहारार्थ। पहले के द्वारा ईश्वर-स्तुति, ईश्वरोपासना तथा ईश्वराज्ञापालनरूप धर्मानुष्ठानपूर्वक मोक्ष प्राप्त होता है। दूसरे के द्वारा अर्थ-काम की प्राप्ति होती है। अग्निहोत्रादि से लेकर अश्वमेधादिपर्यन्त यज्ञों में सुगन्धगुणयुक्त कस्तूरी, केशर आदि; मिष्टगुणयुक्त 'शहद' आदि; पुष्टियुक्त घृत, दुग्ध, अन्न आदि और रोगनाशक सोमलता आदि सम्यक् संस्कार

Scanned by CamScanner

द्वारा शोधित द्रव्यों से, वायु, वृष्टि, जलशुद्धि करने के लिए अग्निहोत्र किया जाता है। इस तरह वह सब जगत् के लिए सुखकारी होता है। जो कर्म भोजनाच्छादन, पान, कला-कौशल, यन्त्र, सामाजिक नियम के प्रयोजनसिद्धि के लिए किया जाता है, वह सुखार्थ ही होता है। इस विषय में पूर्वमीमांसा का प्रमाण है—

"द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" (४।३।१)

"द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्" (४।३।८)।

अर्थात् द्रव्य, संस्कार और कर्म ये तीनों यज्ञकर्ता को अवश्य करने चाहिए। पूर्वोक्त सुगन्ध, मिष्ट, पुष्ट और रोगनाशक चतुर्विध द्रव्य लेकर उनका परस्पर उत्तमगुण-सम्पादनार्थ संस्कार करना चाहिए। जैसे सूप (दाल) आदि के संस्कारार्थ सुगन्धयुक्त घृत को चमस (चम्मच) में डालकर अग्नि में प्रतप्त करके सधूप होने पर उसे सूपपात्र में डालकर पात्र का मुख बन्द करके प्रचालन करने से सूप आदि सुगन्धित पुष्ट एवं रुचिकर हो जाते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो बाष्प उत्पन्न होता है' वह वायु एवं वृष्टिजल को निर्दोष बनाकर सब जगत् के लिए सुखकारी होता है। इसीलिए कहा गया है कि "यज्ञोऽऽपि तस्य जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति" (ऐ० ब्रा० १।२)। अर्थात् जिस यज्ञ में इस प्रकार विद्वान् होता संस्कृत द्रव्यों का अग्नि में होम करता है, वह यज्ञ भी जनता के सुखार्थ होता है। क्योंकि वह यज्ञ परार्थ अर्थात् परोपकारार्थ ही होता है। अतएव फलश्रुति, अर्थवाद अनर्थनिवारणार्थ ही होता है। इसी तरह

Scanned by CamScanner

होम-क्रियार्थ द्रव्यों एवं पुरुषों का जो संस्कार होता है, वह भी क्रतुधर्म ही है। इस प्रकार क्रतु-यज्ञ से धर्म होता है, अन्यथा नहीं।"

किन्तु इस ढङ्ग का वेद-विचार केवल बाल-विलास है। इस सूत्रार्थ का सूत्र से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। पूर्वोक्त अर्थ के लिए "द्रव्यसंस्कारकर्मसु" में विद्यमान सप्तमी विभक्ति निरर्थक हो जायगी। सूत्रोक्त सप्तमी के स्थान में प्रथमा विभक्ति की कल्पना पड़ेगी। "कर्त्तव्यः" पद का अध्याहार भी करना पड़ेगा। इसी तरह 'परार्थ' शब्द से 'जगत् का उपकार' अर्थ निकालना भी बाल-विलास ही है। क्योंकि "स्वर्गकामो यजेत्" आदि वैदिक विधियों द्वारा यज्ञकर्त्ता के ही स्वर्गादि सुख के लिए यज्ञ का विधान है, परोपकार तो आनुषङ्गिक ही होता है। जैसे कोई अपने गृह एवं द्वार को प्रकाशित करने के लिए ही दीपक जलाता है, पर उस दीपक द्वारा मार्ग का भी प्रकाशन हो जाने से अनुषङ्गतः उस प्रकाशित मार्ग से चलनेवाले यात्रियों का उपकार हो जाता है। पूर्वोक्त ऐतरेय वचन किसी कर्म का विधायक नहीं है, किन्तु आनुषंगिक फल का केवल अनुवादक है। इस ढंग से तो भोजन आदि क्रियाएँ भी परम्परया उपकारक होने से परार्थ हो सकती हैं। फिर यज्ञ ही को परार्थ कहने में क्या विशेष अभिप्राय हो सकता है? घृत, दुग्ध के हवन का विधान सभी यज्ञों में है ही नहीं। कस्तूरी, केशर एवं शहदके होम का विधान तो किसी भी यज्ञ में नहीं है। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्य में सोम का भी होम नहीं होता।

Scanned by CamScanner

इसके अतिरिक्त उक्त सूत्र का श्रीदयानन्द स्वामीजी के ढंग का उपर्युक्त अर्थ मानने पर "उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात्" इस दूसरे सूत्र के साथ उस सूत्र की संगति ही नहीं बैठेगी। पूर्व-मीमांसा के चौथे अध्याय को 'प्रयोग-लक्षण' कहा जाता है। इसमें कौन-कौन कर्म क्रतु के साक्षात् उपकारी हैं और कौन-कौन पुरुष के, इस विषय पर विचार है। इस अध्याय के तृतीय पाद में फलबोधक वाक्यों का विचार है। तीसरे पाद का "द्रव्यसंस्कार-कर्मस्तु" यह पहला सूत्र है। इसी प्रकार के १८ अधिकरणों से युक्त ३६ सूत्र इस पाद में हैं। यदि हर एक सूत्र का दयानन्दजी के ढंग का मनमाना अर्थ किया जाय, तो सभी सूत्रों की परस्पर संगति ही विच्छिन्न हो जायगी। इसीलिए मीमांसक अध्याय, पाद, अधिकरण आदि की संगति के अनुसार ही सूत्रार्थ करते हैं, मनमानी नहीं। अध्याय, पाद, अधिकरण, सूत्र आदि की परस्पर संगति के साथ शाबरभाष्य आदि आप्तग्रन्थों में पठित सूत्रार्थ ही ग्रहण करना उचित है।

जैमिनि ने कर्मों के गुणकर्म और प्रधान कर्म ये दो भेद माने हैं। "द्रव्यसंस्कार कर्मसु" इस सूत्र का पूर्वोक्त ढंग का अर्थ करने पर ये विभाग भी असंगत हो जाते हैं। क्योंकि इस अर्थ के अनुसार तो सभी कर्म जल, वायु आदि की शुद्धि के लिए ही होंगे। ऐसी स्थिति में कर्म का प्राधान्य न होकर द्रव्यमात्र का प्राधान्य होने से सभी यज्ञ केवल गुणकर्म ही ठहरेंगे।

"यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्" (७)
"यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयते तस्य द्रव्यप्रधानत्वात्" (८)

Scanned by CamScanner

अर्थात् सभी आख्यातोक्त वैदिक कर्म दो प्रकार के होते हैं—१गुणकर्म (द्रव्यों के अधीन कर्म) और २ प्रधान कर्म (द्रव्य जिनके अधीन होते हैं)। जो कर्म द्रव्यों के संस्कारार्थ न किये जाकर स्वर्गादिरूप फलार्थ किये जाते हैं, वे प्रधान कर्म होते हैं। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों से विहित भाग 'ददाति' से विहित 'दान' आदि प्रधान कर्म होते हैं। जो कर्म द्रव्यों के संस्कारार्थ हैं, वे गुणकर्म कहलाते हैं। जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि वाक्यों से विहित अवघात आदि 'तण्डुलान् पिनष्टि' से विहित पेषण आदि कर्म द्रव्यों के संस्कारार्थ होते हैं, स्वर्गादि फल के लिए नहीं। कर्म द्रव्य के अधीन होता है, यहाँ व्रीही आदि द्रव्य ही प्रधान हैं अतः कर्म और गुण ही है।

जिस मत के अनुसार जल, वायु आदि की शुद्धि ही यज्ञों का फल है, स्वर्ग आदि नहीं, वह मत अवश्य ही चार्वाक-मत है, आस्तिक-मत नहीं। जैमिनि एवं व्यास दोनों मीमांसाओं के आचार्यों का तो स्पष्टरूप से यही कहना है कि प्रत्यक्षानुमान से अविदित अर्थ का वेदक होने से ही वेदों का मुख्य वेदत्व है। जैमिनि ने—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो व्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणास्यानपेक्ष्यत्वात्" (१।१।५)

इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट कहा है कि शब्द का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। विधिवाक्यार्थ का ज्ञान ही अबाधित उपदेश है। लौकिक प्रमाण से जिन स्वर्गादि एवं यज्ञादिनिष्ठ तत्साधनता आदि का बोध नहीं होता, उन्हीं अर्थों में वैदिक

Scanned by CamScanner

विधिवाक्य स्वतन्त्र प्रमाण होते हैं। अर्थात् प्रमाणान्तर से अनुपलब्ध अर्थ में वेदवाक्य प्रमाण होते हैं। यही बादरायण (व्यास) का भी मत है।

"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" इस सूत्र पर भट्टपाद ने भी उपर्युक्त ढंग के चार्वाक-समान मत रखनेवाले नास्तिकों से अर्थात् प्रच्छन्न चार्वाकों से मीमांसकों को सावधान किया है—

"लौकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत् कर्म विद्यते।
यावत्किञ्चिददृष्टार्थं तद्दृष्टार्थं हि कुर्वते ॥ १ ॥
वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव ते विदुः।
अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं योजयन्ति च ॥ २ ॥
तेभ्यश्चेत् प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित्।
न च कश्चन मुञ्चेयुर्धर्ममार्गं हि ते तदा ॥ ३ ॥
प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः।
नाभिद्रवन्ति ते तावत्पिशाचा वा स्वगोचरे ॥ ४ ॥
क्वचिद्दत्तेऽवकाशे हि स्वोत्प्रेक्षालब्धधामभिः।
जीवितुं लभते कस्तैस्तन्मार्गपतितः स्वयम् ॥ ५ ॥
तस्माल्लोकायतस्थानां धर्मनाशनशालिनाम्।
एवं मीमांसकैः कार्यं न मनोरथपूरणम् ॥ ६ ॥"

मूर्ख लौकायतिकों का काम ही यह है कि वे अदृष्टार्थ वैदिक कर्मों को भी दृष्टार्थ अर्थात् वायु-शुद्धि आदि के लिए ही बताते हैं। कुछ संहिताओं को वेद मानकर और उनका मनमानी अर्थकर जनता को धोखा देना चार्वाकों से भी बढ़कर भीषण कुकृत्य है।

Scanned by CamScanner

'क्रतुधर्मो बोध्यः" यह अर्थ भी मनमाना एवं असंगत ही है। वस्तुतः इस अधिकरण में द्रव्य एवं संस्कारप्रधान कर्मों की क्रत्वर्थता बतायी गयी है। इसका विचार इस तरह है कि "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति", "यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य ङ्क्ते", "यत्प्रयाजा इज्यन्ते वर्मैव तद्यज्ञस्य क्रियते" आदि उक्त वाक्य तत्-तत् फल के लिए पर्णमयीत्व आदि का विधान करते हैं अथवा अर्थवादमात्र (दुष्कीर्ति श्रवण आदि फल दिखाकर पर्णमयीत्व आदि के द्वारा प्रशंसकमात्र हैं), ऐसा संशय उठाकर "द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" उस सूत्र द्वारा सिद्धान्त किया गया कि अर्थवादमात्र ही है। संक्षेप में सूत्र का अर्थ यही है कि 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' आदि जुहू आदि द्रव्यों के संस्कारकर्म बतानेवाले वाक्यों में श्रुत दुष्कीर्तिनिवारण आदि फल अर्थवाद ही हैं। क्योंकि 'पर्णमयीत्व आदि प्रकरणवशात् क्रत्वर्थ ही हो सकते हैं— "द्रव्यसंस्कारप्रधानकर्मविधिषु उदाहृतवाक्येषु फलश्रुतिः अर्थवादः, कुतः पर्णमयीत्वादीनां प्रकरणेन क्रत्वर्थत्वात्"। यज्ञ के प्रकरण में होने से उनका फलों के लिए विधान नहीं है, किन्तु यज्ञ के लिए विहित पर्णमयीत्व आदि की प्रशंसा ही उनका अर्थ है।

इस सिद्धान्त पर यह प्रश्न होता है कि 'जब पुरुष के उद्देश्य से इन वाक्यों में फलश्रुति है, तब ये वाक्य फलविधायक होकर पुरुषों के भी उपकारक क्यों न हों?' इसके उत्तर में यह सूत्र है—"उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात्।" अर्थात् उक्त फलश्रुतियां अर्थवाद ही हैं, क्योंकि इन उत्पत्ति (कर्मस्वरूप-बोधक)-श्रुतियों में

Scanned by CamScanner

'अमुक-अमुक फलों की कामनावाला पुरुष अमुक-अमुक कर्मों को करे' इस प्रकार की पुरुषप्रधानता नहीं है।

'जैसे पुरुष के उद्देश्य से फल विहित होते हैं, वैसे ही जुहू भी उसी को ही उद्देश्य कर विहित है। फिर जुहू को ही फल क्यों न माना जाय?' उस ढंग की आशङ्का का निराकरण अनुमान आदि द्वारा जुहू में फलत्व का निरास करते हुए शाबरभाष्य आदि में किया गया है। "द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मत्वात्' उस सूत्र में 'क्रतुधर्मत्वात्' के स्थान में श्रीदयानन्दजी ने क्रतुधर्मः रखा है, यह भी निष्प्रमाण ही है।

ज्योतिष्टोम में श्रुत—है "पयोव्रतं ब्राह्मणस्य" (ब्राह्मण के लिए दुग्धपान का व्रत है)। यहाँ संशय है कि 'यह पयोव्रत पुरुष का उपकारक है या क्रतु का उपकारक?' पूर्वपक्ष है कि "ब्राह्मणस्य" इस षष्ठी से पुरुष की प्रधानता विदित होती है, अतः पयोव्रत पुरुषार्थ होना चाहिए।" इसपर ऊपर उद्धृत सूत्र द्वारा सिद्धान्त पक्ष में कहा गया है कि ज्योतिष्टादि में अधिकृत द्रव्यों का अर्थात् यज्ञकर्ता का संस्कार ही यहां अभिप्रेत है, क्योंकि क्रतु की सन्निधि में पठित होने से यह भी प्रयोगविधि से ही परिगृहीत है। अतः क्रत्वर्थ ही पयोव्रत है, पुरुषार्थ नहीं। यदि वाक्य के अनुसार यह व्रत पुरुषार्थ माना जाय, तो इसके फल की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि इस वाक्य में तो कोई फल श्रुत नहीं है। ऐसी स्थिति में फलकल्पनारूप गौरव न हो, इसके लिए उचित है कि यह व्रत क्रत्वर्थ ही मान लिया जाय, जिससे क्रत्वङ्ग इस व्रत का वही फल हो सके, जो क्रतु का है।

Scanned by CamScanner

इसपर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'यदि उक्त व्रत क्रत्वर्थ है, तो उक्त वाक्य में 'ब्राह्मणस्य' कहकर ब्राह्मण का ग्रहण क्यों है ?' इसीका उत्तर "पृथक्त्वात् व्यवतिष्ठेत्" इस सूत्र से किया गया है। सूत्रार्थ यह है कि व्यवस्था (नियम) के लिए 'ब्राह्मणस्य" कहा गया है। इस व्यवस्था का आशय यह है कि पयोव्रत उसी ज्योतिष्टोम यज्ञ का अङ्ग है, जो ब्राह्मणकर्तृक है, न कि क्षत्रियादिकर्तृक का। अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रियादि द्वारा क्रियमाण यज्ञों में भेद है।

इस तरह दोनों अधिकरणों का वास्तविक अर्थ श्रीदयानन्द-कृत अर्थ से सर्वथा विपरीत है। यदि जल, वायु आदि की शुद्धि ही यज्ञ का प्रयोजन है, तब तो 'स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्यों का विरोध सर्वथा अपरिहार्य ही होगा। क्योंकि उनमें स्वर्गादि फल स्पष्टरूप से श्रुत हैं।

अतएव अपने अर्थ के समर्थन में "अग्नेर्वै धूमो जायते। धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिर्वृष्टेरन्नमग्नेर्वा एता जायन्ते। तस्मादाह तपोजा इति"(शत० ५। ३), "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः, पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" (तैत्तिरीय-उप०, आनन्दवल्ली १) इन दोनों वाक्यों का प्रमाणरूप में श्री दयानन्द द्वारा उपन्यास करना व्यर्थ हो जाता है। कारण इन वाक्यों में "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधि-वाक्यों को बाधित करने की क्षमता नहीं है। प्रथम वाक्य से तो यज्ञसामान्य से धूमादिक्रमेण प्रजा की उत्पत्ति कही गयी है।

Scanned by CamScanner

इस तरह यह एक अनुवादक वाक्यमात्र है। इस ढंग के अनुवादक सामान्य वचनों से तत्पर विधिवाक्यों का बाध नहीं हो सकता। दूसरे वचन का यज्ञ से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वह तो वेदान्त के अनुसार परमेश्वर से सृष्टि का वर्णन करता है।

'ऋग्वेद-भाष्यभूमिका' में यह भी कहा है कि "ईश्वर ने आज्ञा दी है कि सत्य ही भाषण करना चाहिए। अनृत-भाषण नहीं करना चाहिए। जो इसका उल्लंघन करता है, वह पापीयान् होकर ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार क्लेश का भागी होता है। ऐसे ही 'यज्ञ करना चाहिए' यह भी आज्ञा ईश्वर ने ही दी है। इसका भी जो उल्लंघन करता है, वह भी पापीयान् होकर क्लेश का भागी होता है।" पर यह सब उपहासास्पद ही है, क्योंकि श्रीदयानन्दजी के मत में मन्त्रभाग ही तो वेद हैं। उसमें भी चार संहिताएँ ही वेद हैं। उनमें उपर्युक्त ईश्वर की आज्ञाएँ कहीं भी उपलब्ध नहीं होतीं। जब ब्राह्मण-भाग को वेद माना जाय, तभी इस ढंग की ईश्वराज्ञाएँ मिल सकती हैं। पीछे कहा जा चुका है कि मन्त्र केवल अभिधायक होते हैं, विधायक नहीं।

साथ ही 'यदि होम करने से वायुशुद्धि आदि फल होता ही है, तब तो मन्त्रोच्चारण का क्या प्रयोजन है' इस शंका पर उनका उत्तर है कि "उसका अन्य ही फल है। जिस तरह हाथ से होम किया जाता है, नेत्र से दर्शन वा त्वक् से स्पर्श, उसी तरह वाणी से मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। मन्त्रपाठ से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि की जाती है और

Scanned by CamScanner

होम करने से क्या फल होता है, इसका ज्ञान होता है तथा वेदमंत्रों का रक्षण होता है, ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि होती है। इन सबके अतिरिक्त यह उपदेश भी प्राप्त होता है कि सभी कर्मों में ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए। यज्ञ में तो वेद-मन्त्रोच्चारण से सर्वत्र ईश्वर की प्रार्थना ही होती है।

"यदि कोई कहे कि वेदमन्त्रोच्चारण को छोड़कर और किसी उपयोगी ग्रन्थ का पाठ क्यों न किया जाय? तो इसका उत्तर यह है कि अन्य किसी ग्रन्थ के पाठ से वे सब प्रयोजन सिद्ध नहीं होते, क्योंकि वह ईश्वरोक्त नहीं है। अतएव उसमें निरपेक्ष सत्य नहीं है। अन्यत्र जहाँ कहीं भी जो सत्य प्रसिद्ध है, वह सब वेद से ही फैला है। जो-जो अनृत है, वह सब अनीश्वरोक्त और वेद से बहिर्भूत है। इसी सम्बन्ध में मनु ने कहा है—

"त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतात्त्वार्थवित् प्रभो॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥"

—(१३।९७—९९)

इनका संक्षिप्त अर्थ यह है कि महाराज मनु से ऋषि लोगों ने कहा—'आप ही सम्पूर्ण विद्याओं के मूल, अचिन्त्य, अप्रमेय, स्वयम्भू एवं सनातन वेद के रहस्यज्ञ हैं। चार

Scanned by CamScanner

वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्य, वर्तमान आदि सब कुछ वेद से ही प्रसिद्ध होते हैं। सनातन वेद-शास्त्र सभी विद्याओं के दान द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों का धारक एवं सभी सुखों का प्रापक है। अतः प्राणियों के लिए सर्वोत्कृष्ट कल्याण-साधन यही है।"

किन्तु यह सब तभी हो सकता है, जब कि वेद मन्त्र-ब्राह्मण-समुदायरूप हो। यदि केवल मन्त्रभाग ही वेद है, तो पहले किये गये विवेचन के अनुसार उसमें विधायकता न होने से 'मन्त्रों के पाठ से होम के फल का ज्ञान होता है' यह कहना अविचारपूर्ण ही है। इसके अतिरिक्त यदि वेद ईश्वरोक्त हैं, तो लौकिक वाक्यों की अपेक्षा उनमें क्या विशेषता है—दृष्ट या अदृष्ट? यदि कोई दृष्ट विशेषता है, तो वह क्या है—सत्यार्थ-प्रतिपादकत्वरूप या माधुर्यादि गुणरूप? यदि सत्यार्थ प्रतिपादकत्वरूप है, तब तो लौकिक वाक्य भी सत्यार्थप्रतिपादक होने पर मन्त्रों के समान उनका ही पाठ क्यों न किया जाय? यदि माधुर्यादि गुणरूप दूसरी विशेषता है, तो कर्मकाल में मन्त्रपाठ न न केवल व्यर्थ ही, अपितु अकार्य भी होगा। मन्त्र की अपेक्षा माधुर्य आदि गुणयुक्त सुन्दर से सुन्दर अन्य बहुत से श्लोकबद्ध वाक्य हैं। उनके पाठ की उपेक्षा करना अन्याय्य ही है। यदि ईश्वरोक्त वाक्य में कोई अदृष्ट विशेषता है, तो फिर जब अन्त में अदृष्ट मानना ही पड़ता है, तो सर्वास्तिकसम्मत यज्ञ आदि से जन्य अदृष्ट ही क्यों न मान लिया जाय?

इसी तरह 'ईश्वरोक्त से भिन्न वाक्य में निरतिशय सत्य नहीं

होता' यह हेतु भी असङ्गत है, क्योंकि अर्थबाधराहित्य ही सत्यता है। वह लौकिक वाक्यों में भी होती है। दृष्ट उपकार के प्रति निरतिशयता का कोई उपयोग भी नहीं हो सकता। अदृष्ट उपकार तो समाजियों को मान्य ही नहीं है।

फिर, उपर्युक्त मनुवचन का प्रकृत से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। मन्त्रपाठ से यदि कोई अदृष्ट नहीं होता, तब तो मन्त्र के समानार्थक रस, रीति, गुण, अलंकार आदि से युक्त काव्यश्लोकों का ही पाठ क्यों न किया जाय ? इस तरह स्पष्ट है कि वेदों का मीमांसकसम्मत यज्ञ आदि धर्म में ही प्रामाण्य है, वायु-शुद्धि आदि में नहीं।

यही बात महाभारत आदि से भी स्पष्ट है यथा—

"नारद उवाच—

कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलं धनम्।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम्॥

युधिष्ठिर उवाच—

केन वै सफला वेदाः केन वै सफलं धनम्।
केन वै सफला दाराः केन वै सफलं श्रुतम्॥

नारद उवाच—

अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम्।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम्॥

—(महाभारत, सभापर्व)।

Scanned by CamScanner

अर्थात् नारद ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया कि तुम्हारे अधीन वेद सफल हुए हैं, तुम्हारा धन सफल हुआ है, तुम्हारी दाराएँ सफल हुई हैं तथा तुम्हारा श्रुत सफल हुआ है ? इसपर युधिष्ठिर ने 'वेदादि की सफलता किस प्रकार होती है' ऐसा प्रति-प्रश्न किया। इसके उत्तर में नारद ने बताया कि वेदों की सफलता अग्निहोत्र आदि कर्मों से ही होती है, दान एवं भोग से धन की सफलता होती है। रति एवं पुत्र की प्राप्ति से दाराओं की सफलता होती है और शील एवं वृत्त से ही श्रुत की सफलता होती है।

इस वचन में स्पष्टरूप से मीमांसकसम्मत अग्निहोत्रादि कर्मों से ही 'वेद' की सफलता कही गयी है। "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" आदि जैमिनीय सूत्र द्वारा वेद में क्रियार्थत्वप्रतिपादन तभी सम्भव है, जब कि ब्राह्मणभाग वेद हो, क्योंकि उसीमें अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान मिलता है। जिनके यहाँ मन्त्रभाग ही वेद है, उनके यहाँ "अग्निहोत्रफला वेदाः" यह वचन सङ्गत ही न होगा। आर्यसमाजियों का अवैध होम केवल वायुशुद्धि के लिए भले ही हो, पर शास्त्रीय अग्निहोत्र आदि से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता।

ब्राह्मणों के वेदत्व पर विशिष्ट विचार : ४ :

ब्राह्मण-भाग के वेदत्व पर विचार करने के प्रसंग में यह समझ लेना अत्यन्त अपेक्षित है कि मीमांसा के अनुसार केवल 'ऋक्, यजुः, साम' शब्द मन्त्रभाग के वाचक होते हैं और 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदशब्द ऋगादि मन्त्र तथा शतपथ

Scanned by CamScanner

आदि ब्राह्मण-समुदाय के अभिधेय या बोधक हैं। मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों को ही वेदपदाभिधेय निश्चितकर किसी स्थल में दोनों का संग्रह करने के लिए केवल मन्त्रभाग के बोधक 'ऋक्, यजुः, साम' के सन्निधान में ब्राह्मणभाग के बोध के लिए 'ब्राह्मण' पद का भी प्रयोग किया जाता है। श्रीसुरेश्वराचार्य ने कहा है—

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयत्वकारणात् ।
ऋग्वेदादिगिरा तस्मान्मन्त्रब्राह्मणयोर्ग्रहः ॥"

—(बृहदारण्यक वार्तिक, २।४)।

अथर्ववेद में "ऋचश्च सामानि च यजूंषि" शब्द आये हैं, जो मन्त्रमात्र के वाचक हैं और अवशिष्ट 'ब्रह्म'पद ब्राह्मण का वाचक। इसी तरह "तस्माद् यज्ञात्" मन्त्र में 'ऋचः, सामानि' पठित हैं। उनके साथ 'वेद' शब्द जुड़ा नहीं है। अतः उनका केवल 'मन्त्र-समुदाय' ही अर्थ होता है, ब्राह्मणभाग नहीं। यहाँ 'छन्दांसि' पद से ब्राह्मण गृहीत है। सायण के अनुसार भी केवल ऋगादि शब्दों का वेद अर्थ होता ही नहीं, मन्त्रमात्र ही अर्थ होता है। सायण के शब्द ये हैं—"ऋचः = पादबद्धा मन्त्राः, सामानि = गीत्यात्मकानि, जज्ञिरे।....ऋगादीनां लक्षणं जैमिनिना सूत्रितम्—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्याः' (२।१।३२), 'तेषां ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (२।१।३५), 'गीतिषु सामाख्या' (२।१।३६), 'शेषे यजुःशब्दः' (२।१।३७)"—(अथर्व सं० १९।६।१३)।

कहा जाता है कि "एक वेद का दूसरे वेद में उल्लेख होना आश्चर्यजनक या अनुचित नहीं, क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है

और ईश्वरीय ज्ञान में समानता है, कालकृत-पौर्वापर्य नहीं। .... आश्चर्य तो तब है, जब कि अथर्ववेद में ब्राह्मण का उल्लेख होना माना जाय।" इसपर इतना ही कहना है कि ऋक्-संहिता, जो श्रीस्वामी दयानन्दजी द्वारा संख्याक्रम से प्रथम परिगणित है, में अन्य संहिताओं के नाम आ सकते हैं, तो ब्राह्मण का उल्लेख भी हो ही सकता है, क्योंकि ब्राह्मण भी वेद ही है। यह बात कई बार स्पष्ट की गयी है कि वेद के प्रत्येक भाग में वर्णों की पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वी मान्य होती है। अर्थात् नित्य एवं विभु वर्णों में देशकृत या कालकृत पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वी नहीं बन सकती। आनुपूर्वी के बिना वर्णों में पदत्व एवं वाक्यत्व ही नहीं बन सकेगा, क्योंकि आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णों में ही पदत्व एवं वाक्यत्व का व्यवहार होता है। ऐसी स्थिति में विशिष्टवर्णाभिव्यक्तियों की आनुपूर्वी के अनुसार वर्णों में पदत्व एवं वाक्यत्व व्यवहार मानकर जैसे मंत्रों में परस्पर पौर्वापर्य हो सकता है, वैसे ही मन्त्रों और ब्राह्मण का भी पौर्वापर्य हो, तो कोई हानि नहीं।

गीता भी 'ब्रह्म' शब्द का 'ब्राह्मणप्रधान वेद' अर्थ मानती है। गीता के अनुसार यज्ञ से पर्जन्यादि-क्रम द्वारा भूतों की उत्पत्ति मानी जाती है। यज्ञ तत्तत्-फलजनक अदृष्ट, अग्निहोत्रादि कर्मों से, वह कर्म ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मणप्रधान वेदों से और वह ब्रह्म परमात्मा से निःश्वासन्यायेन उद्भूत होता है—"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि" (गीता ३। १५)। आर्यसमाजियों ने भी माना है कि यज्ञादि ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित हैं।

Scanned by CamScanner

वृद्ध्यर्थक 'बृहि' धातु से निष्पन्न ब्रह्मशब्द का मुख्य अर्थ है—जगत्कारण परब्रह्म। "तत्प्रतिपादकत्वात् तत्पर्यवसायित्वाच्च" उपनिषत्प्रधान ब्राह्मण और ब्राह्मण-प्रधान वेद भी ब्रह्मशब्द के अर्थ हैं। विशेष रूप से उपनिषदों द्वारा ही ब्रह्म का प्रतिपादन होता है। अतएव "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा", "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि ब्रह्मसूत्रों द्वारा उपनिषत्प्रधान ब्राह्मणों के ही वचनों की मीमांसा की गयी है। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" के अनुसार कर्मकाण्ड एवं उपासना-काण्डपरक वेदों का अपने स्वार्थ में अवान्तर तात्पर्य होते हुए भी महा-तात्पर्य मलविक्षेप-निवृत्ति द्वारा परब्रह्म में ही है। ब्रह्मपर्यवसायी होने से सभी वेद 'ब्रह्म' शब्द से कहे जाते हैं।

ब्राह्मण ही प्रधान सम्राट्-स्थानीय है, मन्त्र तो उसके द्वारा विनियोज्य भृत्यस्थानीय है। अतः अथर्वमन्त्र में इसका भी बोधन उचित ही है। इसीलिए "तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्॥ इस मन्त्र में ऋक्, साम, यजुः शब्दों से मन्त्र भाग गृहीत होते हैं और 'ब्रह्म' शब्द से ब्राह्मण का बोध होता है। इसी तरह 'तस्माद्यज्ञात्' इस मन्त्र में छन्दशब्द से ब्राह्मणभाग की भी उत्पत्ति का वर्णन है, क्योंकि यही आव-श्यक है। श्रीस्वामी दयानन्दजी ने छन्दशब्द से अथर्ववेद का जो ग्रहण किया है, वह सर्वथा असंगत है। 'अथर्व की उत्पत्ति न कहने से न्यूनता होगी, तत्परिहारार्थ छन्दशब्द का अथर्व अर्थ है' यह कहना भी असंगत है। क्योंकि ऋक् में अथर्व का अन्तर्भाव हो जाता है। यह सब पीछे विस्तार से

Scanned by CamScanner

कहा गया है। सच तो यह है कि ब्राह्मण की उत्पत्ति न कहने से ही न्यूनता होगी। अतः छन्दशब्द से ब्राह्मण का ग्रहण करना चाहिए, यही सर्वथा संगत है। यद्यपि अन्य आचार्यों ने छन्दशब्द से गायत्री आदि छन्दों का ग्रहण किया है, तथापि श्रीस्वामी दयानन्दजी ने छन्दशब्द का अथर्ववेद ही अर्थ किया है। प्रस्तुत मन्त्र में 'ऋचः सामानि' आदि पदों की जगह यदि 'ऋग्वेद, सामवेद' आदि पद पढ़े होते, तो उनसे ब्राह्मण गृहीत हो जाते। किन्तु केवल 'ऋचः' आदि पढ़ा है, अतः उनसे मन्त्रभाग का ही ग्रहण होगा।

"यस्माद्दचोऽपातक्षन्" इत्यादि मन्त्रों के अनुसार यहाँ भी चारों वेदों का वर्णन आवश्यक है, यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि अनेक स्थलों में तीन के ही निर्देश से चारों का निर्देश मान लिया गया है। जैसे—"अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सताम्" (तै० ब्रा० १।२।२६) यहाँ तीन वेदों की ही चर्चा है। इसी तरह "त्रयं ब्रह्म सनातनम्" (मनु० १।१३), "एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना" (गीता), "त्रयो वेदा असृज्यन्त—अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः" (शत० ११।५), "वेदो वा प्रायदर्शनात्" (जै०३।३।२) आदि स्थलों में भी त्रयी की ही चर्चा है। जैमिनि ने भी "साऋक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु, सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः" इत्यादि सूत्रों द्वारा ऋक्, यजुः, साम तीन की ही चर्चा की है। इस तरह यह कथन कि "वैदिक-साहित्य में जहाँ-कहीं वेदों की उत्पत्ति का वर्णन है, वहाँ चारों वेदों का एक साथ

Scanned by CamScanner

उल्लेख है", सर्वथा मिथ्या है। आर्यसमाज इसे कभी सिद्ध नहीं कर सकता।

यह कथन भी कि 'वेद ईश्वरीय ज्ञान है और ईश्वरीय ज्ञान में समानता है, कालकृत पौर्वापर्य नहीं', अत्यंत असंगत है। आर्यसमाजी जिन मन्त्रों को वेद मानते हैं, वे शब्दात्मक हैं या ज्ञानात्मक ? यदि शब्दात्मक हैं, तो ज्ञानात्मक कैसे ? क्या ज्ञान एवं शब्द का अभेद है ? यदि है, तो लोकप्रसिद्ध शब्द और अर्थ के भेद की क्या गति होगी ? व्यवहार में शब्द प्रमा का करण, अतएव प्रमाणरूप माना जाता है। यदि ईश्वरीय ज्ञान से जन्य होने के कारण उसे ज्ञानरूप कहा जाय, तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान से जन्य तो पृथिव्यादि प्रपञ्च भी हैं ; फिर क्या वे भी ज्ञानरूप ही हैं ? शब्द विषय है और उसका ज्ञान विषयी ; फिर विषय-विषयी का अभेद कैसा ? पौर्वापर्य के बिना वर्णों में पदत्व, वाक्यत्व, मन्त्रत्व कुछ भी नहीं बन सकता। इसके लिए हजारों प्रयत्न व्यर्थ हैं।

फिर 'वेद ईश्वरीय ज्ञान है' इस प्रतिज्ञा का साधक प्रमाण क्या है ? प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब ईश्वर और ज्ञान ही प्रत्यक्ष नहीं, तो वेद में ईश्वरज्ञानरूपता का प्रत्यक्ष कैसे होगा ? अनुमान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी वस्तु में 'कार्यत्व का सर्वज्ञपूर्वकत्व के साथ व्याप्ति-ग्रह' ही नहीं है। वेद-प्रमाण के आधार पर भी उक्त प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय होगा। जब आप के अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध हो जाय, तभी उसका

Scanned by CamScanner

प्रामाण्य हो एवं वेद का प्रामाण्य सिद्ध होने पर ही उसके आधार पर वेद की ईश्वरज्ञानरूपता सिद्ध हो सके। वेद भी आप केवल मन्त्र को ही मानते हैं, अतः मन्त्र से ही वेद की ज्ञानरूपता सिद्ध करनी होगी। अन्य वचन तो आपके मत में पौरुषेय ही हैं। ब्राह्मण या आर्ष-वचन भी आपको निरपवाद रूप से मान्य नहीं हैं, तब उनका प्रमाणरूप से उपन्यासा करना व्यर्थ ही है। इसलिए वेद ईश्वरीय ज्ञानरूप नहीं, अपितु शब्दात्मक है और शब्दों में पौर्वापर्य का होना अवश्यंभावी है।

वास्तव में अपौरुषेय वाक्यसमूह ही वेद है। अपौरुषेयता का मूल 'सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' है। यह लक्षण मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में समान रूप से है। अतः दोनों भाग वेद हैं। उत्तर-मीमांसा की दृष्टि से 'प्रमाणान्तरेणार्थ-मुपलभ्य विरचितत्व, पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्षोच्चारितत्व', या 'प्रथमोच्चारितत्व' पौरुषेयत्व है और 'तद्भिन्नत्व' ही अपौरुषेयत्व है। वेद अनादि हैं, ईश्वर भी पूर्वकल्प के अनुसार ही आनुपूर्वी का निरूपण करता है। अतः वेद में 'प्रमाणान्तरपूर्वक विरचितत्व' नहीं है, 'निरपेक्षोच्चारितत्व' और 'प्रथमोच्चारितत्व' भी नहीं है। भारतादि वाक्यों में 'प्रथमोच्चारितत्व' आदि हैं, अतः वे पौरुषय हैं। ये सभी बातें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में समान रूप से हैं। अतः मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही अपौरुषेय वाक्य हैं; इस तरह दोनों ही वेद हैं।

कौन-सी पुस्तक ईश्वर की है और कौन-सी अनीश्वर की, इसमें किसीका वचन ही प्रमाण है या कुछ अन्य भी?

Scanned by CamScanner

संसार में किसीके यहाँ वचनों की तो कोई कमी है नहीं। यदि समाजी अपने वचन के आधार पर मन्त्र को ईश्वरीय पुस्तक कहता है, तो नमाजी (मुसलमान) भी अपने वचन के आधार पर कुरान को ईश्वरीय पुस्तक कहता ही है।

सर्वज्ञ के ज्ञान में भी यदि वाक्य स्फुरित होगा, तो उसमें पदों का पौर्वापर्य एवं पदों में वर्णों का पौर्वापर्य रहेगा ही। इसी तरह ऋक्, यजुः, साम, इनका भी पौर्वापर्य रहेगा। यदि सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर की पिछली पुस्तक का नाम पहली पुस्तक में आ सकता है, तो ब्राह्मण का भी नाम आ ही सकता है। सायण आदि का भाष्य ईश्वरीय न होने से उसका नाम यदि ईश्वरीय पुस्तकों में न हो, तो ठीक ही है। किन्तु ईश्वरीय ब्राह्मण-ग्रन्थ ईश्वरीय मन्त्र-पुस्तक में हो ही सकता है। जैसे पातञ्जल-महाभाष्य एवं शाङ्कर-भाष्य में उनके सूत्रानुकारी वाक्य और व्याख्यान दोनों ही हैं, वैसे ही ईश्वरीय वेद में व्याख्येय मन्त्र और व्याख्यान ब्राह्मण दोनों ही हो सकते हैं।

वस्तुतः मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद एकरूप ही थे। युगह्रास से मेधा-शक्ति का ह्रास देख व्यास आदि महर्षियों ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद रूप से उनका विभाजन किया। फिर ऋग्वेद आदि में भी ब्राह्मणभाग एवं मन्त्रभाग रूप से विभाग किया। यह सब पुराणों में प्रसिद्ध है। इनमें विधिप्रधान ब्राह्मण का प्राधान्य है। मन्त्र तो व्रीहि, यवादि के समान विनियोज्य हैं। विनियोक्ता की प्रधानता और विनियोज्य की अप्रधानता प्रसिद्ध ही है। विधि जिस मन्त्र को जहां विनि-

Scanned by CamScanner

युक्त करता है, मन्त्र द्वारा वही कार्य किया जाता है। यहाँतक कि इन्द्र-प्रकाशनसामर्थ्यरूप लिंग से यद्यपि ऐन्द्री ऋक् से इन्द्र की ही स्तुति होनी चाहिए, तथापि 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस श्रुति के बल पर ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का ही उपस्थान और गौणी वृत्ति से परमैश्वर्यगुणयोगात् गार्हपत्य अग्नि को ही इन्द्रशब्द से सम्बुद्ध किया जाता है।

ब्राह्मण को व्याख्यान कहना सर्वथा असंगत है। क्या आर्यसमाज किसी ब्राह्मण-ग्रन्थ को किसी संहिता का आद्योपान्त व्याख्यान सिद्ध कर सकता है? वस्तुतः ब्राह्मण अनन्यलभ्य अपरिगणित कर्मों का विधान करते हैं, उनमें मन्त्र-प्रतिपाद्यता नहीं है। उन ब्राह्मणबोध्य कर्मों में ही मन्त्रों का पाठ विहित है। जैसे ब्राह्मण यज्ञों में व्रीहि-यवादि का विधानकर "व्रीहीन् प्रोक्षति", "व्रीहीन् अवहन्ति" आदि वाक्यों द्वारा उनके प्रोक्षण, अवहनन आदि संस्कारों का विधान करते हैं, वैसे ही मन्त्रों का भी विनियोगकर, उनका अर्थ-विवरण कर मन्त्रों का संस्कार करते हैं। अतएव मन्त्रों का द्रव्य-देवता के स्मरण कराने में ही उपयोग माना गया है। स्मारक होने से ही मन्त्र प्रायः अनधिगत-गमक नहीं होते। अतः मन्त्रों का स्वार्थ में मुख्य प्रामाण्य नहीं है। बहुत ही थोड़े मन्त्र ऐसे हैं, जो विधायक भी हैं। अनधिगत-गन्तृत्व ही प्रमाणों का प्रामाण्य होता है। यद्यपि द्रव्य-देवता का बोध कराने से मन्त्र विधायक हो सकते थे, परन्तु मीमांसकों की दृष्टि से उनका उपयोग केवल कर्मकाल में पाठ द्वारा द्रव्य-देवता का स्मरण कराना ही है,

Scanned by CamScanner

क्योंकि विधिप्रधान ब्राह्मण ने उनका विधान कर ही दिया है। इसीलिए मन्त्र अनुवादक या स्मारक होते हैं, विधायक नहीं। 'कपिञ्जलानालभते' इत्यादि विधायक मन्त्र भी वस्तुतः ब्राह्मण ही हैं। वे मन्त्र-धर्म से पढ़े जाते हैं, अतएव मन्त्र कहे जाते हैं। कारण, वहाँ द्रव्य-देवता का विधायक अन्य कोई ब्राह्मण नहीं है। इस तरह जब मन्त्र ब्राह्मणविहित द्रव्य-देवतोपलक्षित कर्मों के स्मारक हैं, तब ब्राह्मणों का पूर्वभावित्व एवं मन्त्रों का अनन्तरभावित्व सुतरां सिद्ध हो जाता है।

यदि ब्राह्मण वेद न हों, तो सम्पूर्ण धर्मशास्त्र एवं अन्य-शास्त्रसमर्थित अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, ज्योतिष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि सभी यज्ञादि कर्म निरालंब हो जायँ। मन्त्रों में यज्ञ, अध्वर, होता, अध्वर्यु उद्गाता आदि यज्ञसम्बन्धी सहस्रों वचन हैं; किन्तु उनका विधान ब्राह्मणों में है, मन्त्रों में नहीं। आर्यसमाजी जैमिनि-मीमांसा, व्यास-मीमांसा, न्यायसूत्र-भाष्य, कात्यायन, आश्वलायन, लाट्यायन आदि सूत्रों को प्रमाण मानते हैं। इन सबमें यज्ञादि कर्मों की चर्चा है। ब्राह्मणवाक्यों एवं महाभारत आदि के वाक्यों से भी वेद को यज्ञप्रतिष्ठ कहा गया है—'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' (गीता)।

आर्यसमाजी कहते हैं कि "वेद ईश्वर का निःश्वसित है, यह हमारा सिद्धान्त है।" वे केवल मन्त्र-मात्र को ही प्रमाण मानते हैं। ऐसी स्थिति में अपने सिद्धान्त की पुष्टि में उन्हें कोई मन्त्र प्रस्तुत करना चाहिए। दूसरे, यदि ब्राह्मण

Scanned by CamScanner

मन्त्र का व्याख्यान-मात्र है, तो "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित् मेतद् यदृग्वेदो०" यह ब्राह्मण किस मन्त्र का व्याख्यान है, यह भी स्पष्ट करना चाहिए। फिर, इसी ब्राह्मण से जो अष्टविध ब्राह्मणों का भी ईश्वर-निःश्वसितत्व सिद्ध हो रहा है, उसका अपलाप क्यों किया जाता है? 'बृहदारण्यक-उपनिषद्' 'शतपथ ब्राह्मण' का ही एकदेश है, यह सर्वथा प्रमाणित है!

यदि महाभारत-काल के व्यक्तियों की चर्चा आने से ब्राह्मण का वेदत्व संदिग्ध हो सकता है, तो क्या रामायण-काल के व्यक्तियों की चर्चा होने से मन्त्रभाग का वेदत्व संदिग्ध नहीं होगा? वशिष्ठ, पुरूरवा, विश्वामित्र, शुनःशेप आदि व्यक्तियों के पीछे क्या ऋग्वेद का बनना मानें? आख्यान तो मन्त्रभाग में भी आते हैं। यम-यमी का संवाद, उर्वशी-पुरूरवा, शुनःशेप आदि के आख्यान प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद के १ले मंडल के २४वें सूक्त से ३० सूक्त तक शुनःशेपकृत स्तुति मिलती है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' की सातवीं पञ्जिका में यह आख्यान देखा जा सकता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ९५ सूक्त की १८ ऋचाओं में उर्वशी और पुरूरवा का संवाद है। दसवें मण्डल के दसवें 'सूक्त में यम-यमी का आख्यान है।

ऋग्वेद का शुनःशेप का आख्यान इस प्रकार है—यूप में बँधा शुनःशेप सोचने लगा कि मैं किस देवता का नाम लूँ, जो मुझे मृत्यु के मुखसे बचा सके और पुनः अपने माता-पिता का दर्शन कर सकूँ। उसने प्रजापति देवता की स्तुति प्रारम्भ की, तो उन्होंने बतलाया—'अग्नि देवता की स्तुति करो।' यही

बात निम्नलिखित 'ऐतरेय ब्राह्मण' में कही गयी है—"हन्ताहं देवता उपधावामीति। स प्रजापतिमेव प्रथमं देवतानामुपससार, कस्य नूनं कतमस्यामृतानामित्येतयर्चा" (७।१६) तथा "तं प्रजापतिरुवाच, अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठस्तमेवोपधावेति। सोऽग्निमुपससार—अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानामित्येतयर्चा" (७। १६)। ऋग्वेद में 'कस्य नूनम्' और 'अग्निर्वयम्' आदि ऋचाओं में भी यही बात कही गयी है। पूरी ऋचाएँ इस प्रकार हैं—

"कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरञ्च॥
'अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरञ्च दृशेयं मातरञ्च॥"

—(मंडल १। अनुवाक ६। सूक्त २४। मंत्र १, २)।

फिर अग्नि की प्रेरणा से उसने सविता की स्तुति की—"तमग्निरुवाच—सविता वै प्रसवानामीशे, तमेवोपधावेति। स सवितारमुपससार—अभित्वादेव सवितरित्येतेन तृचेन" (ऐ० ब्रा० ७। १६)। यही बात "अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम्। सदावन् भागमीमहे।" आदि तीन ऋचाओं में कही गयी है। फिर सविता की प्रेरणा से शुनःशेप ने 'नहि ते क्षत्रम्' आदि सूक्त से (३१ ऋचाओं से) वरुण की स्तुति की। ऐतरेय ब्राह्मण में भी यही बात कही गयी है—"तं सवितोवाच—वरुणाय वैराज्ञे नियुक्तोऽसि, तमेवोपधावेति। स वरुणं राजानमुपससार—अत उत्तराभिरेकत्रिंशता" (७। १६)।

वरुण की प्रेरणा से शुनःशेप ने 'वसिष्वा हि' इत्यादि २२

ऋचाओं से अग्नि की स्तुति की। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भी लिखा है—'तं वरुण उवाच, अग्निर्वै देवानां मुखं सुहृदयतमस्तं नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति। सोऽग्निं तुष्टाव—अत उत्तराभिर्द्वाविंशत्या" (७।१६)।

फिर अग्नि की प्रेरणा से 'नमो महद्भ्यो नम अर्भकेभ्यो' आदि ऋचाओं से शुनःशेप ने विश्वेदेवा की स्तुति की। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है—"तमग्निरुवाच, विश्वान्नु देवान् स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति। सोविश्वांदेवाँस्तुष्टाव, नमो महद्भ्यो नम अर्भकेभ्य इत्येतया ऋचा" (७।१६)। फिर विश्वेदेवों की प्रेरणा से 'यच्चिद्धि सत्य-सोमपा०' आदि २२ ऋचाओं से शुनःशेप ने इन्द्र की स्तुति की। यही बात ऐतरेय ब्राह्मण में कही है—"तं विश्वेदेवा ऊचुरिन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारविष्णुतमस्तं नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति। स इन्द्रं तुष्टाव यच्चिद्धि सत्य सोमपा इति चैतेन सूक्तेनोत्तरस्य च पञ्चदशभिः" (७।१६)।

फिर इन्द्र ने सन्तुष्ट होकर शुनःशेप को हिरण्य-रथ दिया और शुनःशेप ने 'शश्वदिन्द्रः०' आदि ऋक् से उसे लिया। इस विषय में यह ब्राह्मण है—"तस्मा इन्द्रः स्तूयमानः प्रीतो मनसा हिरण्यरथं ददौ, तमेतया प्रतीयाय शश्वदिन्द्र इति।' (ऐ. ब्रा. ७।१६)। फिर इन्द्र की प्रेरणा से शुनःशेप ने अश्विनीकुमार की स्तुति की। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है—"तमिन्द्र उवाच, अश्विनौ नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति। सोऽश्विनौ तुष्टाव, अत उत्तरेण तृचेन" (७।१६)। अन्त में अश्विनीकुमार की प्रेरणा से शुनःशेप ने ऊषा की स्तुति की, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है—"तमश्विना ऊचतुः, उषसं नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति। स उषसं तुष्टाव, अत उत्तरेण तृचेन। तस्य ह स्मर्यु-

च्युक्तायां विपाशो मुमुचे" (७ । १६) । फलतः शुनःशेप पाश से छूट गया ।

इसी प्रकार ऋग्वेद १०म मण्डल, अनुवाक, ७ सूक्त ९५ की १८ ऋचाओं में उर्वशी और पुरूरवा का इतिहास है । 'शतपथ ब्राह्मण' में यह कथा है कि उर्वशी अप्सरा ने ऐल पुरूरवा को शर्त के साथ पतिरूप में वरण किया । शर्त यह रखी कि 'हमारे सामने नङ्गे होकर न आना ।' इस तरह रहते हुए कुछ दिनों में उसे गर्भ रह गया ।

इधर गन्धर्वों ने सोचा कि उर्वशी मनुष्यलोक में चली गयी है । ऐसा करना चाहिए कि वह पुनः यहाँ आ जाय । उन्होंने अपना दाँव चला दिया । उर्वशी की शय्या के पास दो भेड़ के बच्चे बँधे हुए थे । गन्धर्व एक भेड़ को लेकर चले, तो वह चिल्लाया । उर्वशी ने कहा कि 'क्या अब कोई वीर नहीं रहा या यह मेरा अरण्य-रोदन है, जो मेरी भेड़ कोई चुराकर ले जा रहा है, पर कोई बचानेवाला नहीं ।' इतने में गन्धर्वों ने दूसरा भेड़ उठाया, तो वह भी चिल्लाया । उर्वशी ने फिर वही वाक्य दुहराया । पुरूरवा ने सोचा कि 'जहाँ मैं हूँ, वहाँ कोई वीर नहीं, यह कहना या अरण्यरोदन कहना ठीक नहीं है । जबतक वस्त्र पहनूँगा, तबतक तो ये दूर चले जायँगे ।' यह सोच वह नङ्गा ही तलवार लेकर दौड़ पड़ा । गन्धर्वों ने मौका देख विद्युत् का प्रकाश कर दिया और उस प्रकाश में पुरूरवा को उर्वशी ने नंगा देख लिया । बस, नंगा देखकर उर्वशी अपने लोक में चली गयी ।

Scanned by CamScanner

अब पुरूरवा उर्वशी के वियोग में पागल-सा घूम रहा था। एक बार अन्य अप्सराओं के साथ उर्वशी भी कुरुक्षेत्र में आयी। वहाँ पुरूरवा को देख तत्काल सभी अन्तर्धान हो गयीं। उर्वशी ने अप्सराओं को बताया कि 'यह वही मनुष्य है, जिसके पास मैं रही थी।' सब अप्सराओं ने कहा कि 'इसके सामने तो प्रकट हो ही जाना चाहिए।' सभी पुनः प्रकट हो गयीं। उर्वशी को देखकर पुरूरवा ने कहा—'हये जाये' आदि। 'शतपथ ब्राह्मण' का यह अंश निम्नलिखित है—

"उर्वशी हाप्सरा। पुरूरवसमैडं चकमे तं ह विन्दमानोवाच त्रिः स्मम्माह्नो वेतसेन दण्डेन हतादकामांस्म। मा निपद्यासै मो स्म त्वा नग्नं दर्शमेष वै न स्त्रीणामुपचार इति। स हास्मिन्यो गुवास। अपि हास्माद्रमिण्यास। तावज्ज्योग्घास्मिन्नुवास। ततो ह गन्धर्वाः समूदिरे ज्योग्वाऽइयमुर्वशी मनुष्येष्ववात्सीदुपजानीत यथेयं पुनरागच्छेदिति। तस्ये हाविद्वत्तुरणा शयनऽउपवद्धास। ततो ह गन्धर्वा अन्यतरमुरणं प्रमेथुः। सा होवाच। अवीर इव बत मेऽजनऽइव पुत्रं हरन्तीति। द्वितीयं प्रमेथुः, साह तथैवोवाच। अथ हायमीक्षाञ्चक्रे। कथं नु तदवीरं कथमजनं स्याद्यत्राहं स्यामिति। स नग्न एवानूत्पपात चिरं तन्मेने यद्वासः पर्यधास्यत ततो ह गन्धर्वा विद्युतं जनयां चक्रुस्तं यथा दिवैवं नग्नं ददर्श। ततो हैवेयं तिरोबभूव। पुनरैमीत्येत्तिरोभूतां स आध्या जल्पन् कुरुक्षेत्रं समया चचारान्यतः प्लक्षेति बिसवती तस्यै हाध्यन्तेन वव्राज। तद्ध ता अप्सरस आतयो भूत्वा परिपुप्लुविरे। तं हेयं ज्ञात्वोवाच। अयं वै स मनुष्यो यस्मिन्नहमवात्समिति। ता होचुस्तस्मै वाऽआविरसामेति। तथेति तस्मै हाविरासुः। तां हायं ज्ञात्वाभिपरोवाद। हये जाये मनसा निष्ठ घोरे" आदि (श. ब्रा. ११, ५, १)।

Scanned by CamScanner

इसी कथाभाग को लक्ष्यकर ऋग्वेद में यह मन्त्र आता है—"हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु। न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन्॥" (मण्डल १०। अनुवाक ७। सूक्त ९५। मं. च १) अर्थात् हे जाये, तू बड़ा घोर कर्म करनेवाली है। पहले की तरह अनुरागयुक्त चित्त से थोड़ी देर तो मेरे पास रह। हम लोगों की बहुत-सी एकान्त की बातें बच रही हैं। वे आज आखिरी दिन में भी सुख देनेवाली हों।

इसपर उर्वशी ने जवाब दिया कि कोरी बातों से क्या मामला हल होगा? मैं तुम्हें छोड़कर चली आयी हूँ, पुरुरवा, तू अपने घर वापस जा। मैं वायु की तरह दुष्प्राप्य हूँ।

"किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि॥

(ऋग्वेद १०।७।९५।२)। शतपथ में भी यही बात कही गयी है—"दुरापा वाऽअहं त्वयैतर्ह्यस्मि युनर्गृहानिहीति हैवैनं तदुवाच" (११।५।१।७)।

इस तरह काफी वार्तालाप के बाद अनन्तर पुरूरवा ने कहा कि मैं तुम्हारे सामने ही मर जाऊँगा।' तब एक अन्य अप्सरा पुरूरवा को समझाते हुए बोली—

"पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता॥"
—(ऋग्वेद, १०।७।९५।१५)

हे पुरूरवा, ऐसा मत करो। पहाड़ से गिरो नहीं और न तुम्हें अशुभ भेड़िये आदि जानवर ही खाये। स्त्रियों का स्नेह

Scanned by CamScanner

स्थायी नहीं होता, क्योंकि स्त्रियों का हृदय साल-वृकों के समान विश्वासघाती होता है। शतपथ में भी यही कहा है—

"मैतदाहथा न वै स्त्रैणं सख्यमस्ति पुनर्गृहानिहीति है वैनं तदुवाच" (११।५।१।६)।

ऋग्वेद के १० म मण्डल के (नुवाक ।१। १० वें सूक्त में यम-यमी का संवाद की मिलता है। पहली ऋचा में यमी यम से कहती है कि कहीं विस्तीर्ण निर्जन प्रदेश में या समुद्र के किसी एकदेश में (अवान्तर द्वीप में) चलकर आप हमसे विवाह करके रहें।

"ओचित् त्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः॥"

इसपर यमी से यम ने कहा कि हम तुम दोनों ही एक उदर से उत्पन्न हुए हैं। हम लोग द्युलोक धारण करनेवाले प्रजापति के वीर पुत्र हैं। अतः हम लोगों के लिए भाई-बहन का विवाह ठीक नहीं।

"न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन्॥२॥"

(असुरस्य = महाप्राणवतः महाप्रज्ञावता वा प्रजापतेः)

यमी के अत्यन्त आग्रह करने पर यम ने कहा कि जब भगिनी अपने भाई को पति बनाने लगेंगी, ऐसा समय सुदूर भविष्य में आयेगा। अतएव आज तुम हमसे भिन्न किसीको अपना पति बना लो।

Scanned by CamScanner

"आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥"

—(ऋ० मं० १०, अनु० १ सूक्त १०, मन्त्र १०)

जैसे शतपथ में पारीक्षित जनमेजय का नाम आता है, वैसे ही अथर्वसंहिता में प्राह्लादि विरोचन, वैवस्वत मनु, वैन्य पृथी और आंगिरस बृहस्पति आदि के भी तो नाम आते हैं। ये मन्त्र इस प्रकार हैं—"सोदक्रामत्, सासुरानागच्छत्। तामसुरा उपाह्वयात् माय एहीति॥ १॥ तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीत्॥ २॥ तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्....॥ १०॥ तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्॥ ११॥ सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत्॥ १३॥ तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक्.....॥ २५॥ (अथर्व का० ८ सू० १३)।

मन्त्र के इन आख्यानों को नित्य मानें, तो ब्राह्मणों के आख्यानों को भी तो नित्य माना जायगा। यदि उनके आध्यात्मिक, आधिभौतिक आदि अर्थ हो सकते हैं, तो ब्राह्मणभाग के आख्यानों के भी अन्य अर्थ क्यों नहीं हो सकते? यदि ब्राह्मणों में कहीं ऋषिकर्तृकता श्रुत है, तो मन्त्रों की भी तो ऋषिकर्तृकता श्रुत है। "ऋषेर्मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः" (ऋ० ९।११४।२) में स्पष्ट ही 'मन्त्रकृत्' शब्द आया है। ऐतरेय ब्राह्मण (पञ्चिका १ खण्ड ९) में "ऋषिर्मन्त्रकृत्", आश्वलायन श्रौतसूत्र (उत्तराभाग २।१४,) में "मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुः" तथा रघुवंश (५।५) में भी "अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतां ऋषीणाम्" में 'मन्त्रकृत्' शब्द आया है।

Scanned by CamScanner

कहा जाता है कि "श्रीशंकराचार्य ने भी अष्टविध ब्राह्मण-भासों को ब्राह्मण कहकर पुकारा है।" किन्तु पूछा जा सकता है कि यहाँ 'ब्राह्मणभास' शब्द का क्या अर्थ है? ब्राह्मण की क्या परिभाषा है? श्रीस्वामी दयानन्द ने जिस शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ऋक् आदि को ईश्वर का निश्वसित माना है, उसी वाक्य से जब इतिहास आदि का भी निःश्वसित होना सिद्ध होता है, तो उसे अस्वीकार कैसे किया जा सकता है! अथर्व-संहिता आदि के इतिहास का वही अर्थ है, जो ब्राह्मण के इतिहास आदि का अर्थ किया जाता है, यह स्पष्ट है। उर्वशी आदि शब्द का वही अर्थ है, जो ब्राह्मणभाग ने किया है। कम-से-कम आर्य-समाजी ब्राह्मणों को मन्त्रों का व्याख्यान मानते ही हैं। रूपकों-विन्यास तो सनातनियों को भी मान्य है। किन्तु 'सति कुड्ये चित्रोल्लेखः' के अनुसार किसी लोकप्रसिद्ध वस्तु में ही आध्या-त्मिक, आधिभौतिक तत्त्वों का आरोपकर व्यवहार किया जाता है। गीता में ब्रह्म में ही अर्पण, हवि, अग्नि आदि बतलाया है। यदि वास्तविक अग्नि आदि न हों, तो ब्रह्म में अग्नि आदि के आरोप का प्रसंग ही कैसे आ सकता है? उर्वशी शब्द का अर्थ इतिहास-पुराणप्रसिद्ध देवलोक की अप्सरा ही है, जैसा कि "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" इस जैमिनिसूत्र से स्पष्ट है। इस सूत्र में कहा गया है कि लोक में जैसा शब्दार्थ लिया जाता है, वैसा ही वेद में भी लेना चाहिए। "लोके यानि पदानि ये च तेषामर्थास्तेभ्यो-ऽविलक्षणो वेदे पदसहितोऽर्थः। यथा लोक उच्चरितशब्दार्थो विवक्षित-स्तथा वेदेऽपि।" आर्यसमाजी कहते हैं कि "उर्वशी' शब्द का अर्थ विद्युत् आदि है, यह विचारकों ने प्रमाणित कर दिया है।" जो

व्यक्ति वेदस्वरूप ब्राह्मण एवं आर्ष इतिहास-पुराणों को प्रमाण नहीं मानता, उसका विचार स्वकपोलकल्पित या अन्धविश्वासस्पद व्यक्तियों के आश्रित के सिवा और क्या हो सकता है ?

वैदिक सनातन सिद्धान्त के अनुयायियों का तो कहना है कि वैदिक आख्यान घटना का अनुसरण ही नहीं करते, किन्तु घटना ही उनका अनुसरण करती है। उत्तरमीमांसा के देवताधिकरण में भगवान् शंकराचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वेदशब्दों के आधार पर ही सृष्टि होती है। उन्होंने श्रुति का प्रमाण दिया है—"एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति श्रुतिः।" यह ताण्ड्य-ब्राह्मण (६।९।१५) का वचन है। "वेदशब्देभ्य एवादौ", "पृथक्संस्थाश्च निर्ममे" (मनु० १।२१) आदि कई वचन भाष्यकार ने प्रस्तुत किये हैं और इनसे शब्द-पूर्विका सृष्टि सिद्ध की है। 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' इस न्याय से भी कोई व्यक्ति पहले जानता है, इच्छा करता है, फिर कार्य सम्पन्न करता है। इस दृष्टि से ईश्वर भी ईक्षणपूर्वक ही सृष्टि का निर्माण करता है। प्रत्येक ज्ञान में "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" के नियम से शब्दानुवेध रहता ही है। अतः यदि कोई घटना वैदिक आख्यायिकाओं के अनुसार घटती है, तो भी कोई हर्ज नहीं। लौकिक कवि लोगों की वाणी अर्थानुसारिणी होती है, किन्तु आद्य ऋषि की वाणी का तो अर्थ ही अनुसरण करते हैं। वाल्मीकि ने रामायण के कुछ अंश घटना घटने से पहले ही लिखे। बीती घटनाओं का उल्लेख भी उन्होंने

Scanned by CamScanner

ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रत्यक्ष कर ही दिया है, संवाददाताओं द्वारा प्रचारित समाचारों के आधार पर नहीं। फिर यदि वैदिक शब्दों के आधार पर जनमेजय, शौनक तथा भगवान् देवकीनन्दन कृष्ण का आविर्भाव हो गया, तो कौन-सी आश्चर्य की बात है? यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आख्यायिकाएँ सुखावबोधार्थ होती हैं। उनका स्वार्थ में मुख्य तात्पर्य नहीं होता। मन्त्र-संहिताओं में भी आख्यायिकाएँ होती हैं। इनका स्वार्थ में अवान्तर तात्पर्य होता है, मुख्य नहीं। स्वार्थ में वह अवान्तर तात्पर्य भी तभी होता है, जब प्रमाणान्तर-विरोध न हो। इसलिए प्रमाणान्तर-सिद्धार्थबोधक आख्यायिकाएँ अनुवादिका होती हैं, प्रमाणान्तरविरुद्धार्थबोधिका गुणवादिनी और प्रमाणान्तरासिद्ध एवं प्रमाणान्तराविरुद्ध अर्थों को बोधिका भूतार्थवादिनी होती हैं।

कहा जाता है कि उपनिषदों में भी मिश्रण होता रहा है। अतएव 'इतिहासः पुराणम्' इत्यादि वाक्य भी बाद का सम्मिश्रण हो, तो क्या यह असम्भव है?' किन्तु यह घोर नास्तिकता है। अपने समाजियों विचार से जो वचन टकराये, उसे प्रक्षिप्त कह डालने की भावना आर्यसमाजियों को कहीं टिकने न देगी। कोई अथर्व-संहिता में आये 'इतिहासपुराण' शब्द को भी प्रक्षिप्त कह सकता है। सम्भवतः समाजी उसे भी मान लेंगे? जो ११३१ ब्राह्मणों और ११२७ संहिताओं को व्याख्यान और शाखा का नाम देकर अवेद मान सकता है, उसे एक-दो शब्दों को प्रक्षिप्त मान लेने में क्या हिचक हो सकती है? तभी तो वेद अल्पश्रुत लोगों से डरता है—'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।"

वस्तुतः वेदशास्त्र ईश्वर का वाङ्मय-शरीर है। उसमें से कुछ निकालना मांस नोचकर अङ्ग-भङ्ग करने और कुछ घुसेड़ना काँटा चुभाने जैसा पाप है।

व्याख्यान-व्याख्येयभाव मन्त्रगत ही होते हैं। व्याख्येय ग्रन्थ का शब्दान्तरों से अर्थ विवरण ही 'व्याख्यान' होता है। इस तरह वेदादि-व्यपदेश्य वाक्य-समूह का पदान्तर से अर्थ-समूह ही 'वेदव्याख्यान' है। यदि इससे अन्य कोई लक्षण समाजियों को अभिप्रेत हो, तो वे उसे बतायें और इस लक्षण में क्या दोष है, यह भी दिखायें। शुक्लयजुः के 'पुरुषसूक्त' से अथर्व के पुरुषसूक्त का मिलान करने पर यह व्याख्यान-व्याख्येय-भाव स्पष्ट हो जाता है। यथा—

"स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।" —(यजुः ३१।१)

"स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्।"—(अथर्व १९।६।१)

"त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः।
ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥" —(यजुः ३१।४)

"त्रिभिः पद्भिर्धामरोहत् पादोस्येहाभवत्पुनः।
तथा व्यक्रामद् विष्वङ्शनानशने अनु।" —(अथर्व १९।६।२)

"एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥"—(यजुः ३१।३)

"तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायाँश्च पूरुषः।"—(अथर्व १९।६।३)

"ऊरू तदस्य यद् वैश्यः।" —(यजुः ३१।११)

"मध्यं तदस्य यद् वैश्यः।" —(अथर्व १९।६।६)

Scanned by CamScanner

"ततो विराडजायत ।" —(यजुः ३१ । ५)

"विराडग्रे समभवत् । —(अथर्व १९।६।९)

"उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।" —(यजुः ३१।२)

"उतामृतत्यस्येश्वरो यदन्नेनाभवत् सह । (अथर्व १९।६।४) ।

पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार इन मन्त्रों में व्याख्यान-व्याख्येय-भाव क्यों नहीं हो सकता ? मन्त्र और ब्राह्मण दोनों अनादि हैं। एक के द्वारा दूसरे के अर्थ में स्पष्टता होने पर भी अनादिता अक्षुण्ण ही रहती है ।

अतएव कहीं मन्त्र द्वारा मन्त्र की व्याख्या प्रतीत होती है, तो कहीं ब्राह्मण द्वारा । कहीं-कहीं मन्त्र द्वारा भी ब्राह्मण की व्याख्या होती है । तैत्तिरीय उपनिषद् में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' यह सूत्रानुकारी ब्राह्मणवाक्य है । इसकी व्याख्या निम्नलिखित मन्त्र से होती है—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।" वस्तुस्थिति यह है कि कर्म, उपासना और ज्ञान में मन्त्र, ब्राह्मण दोनों का उपयोग होता है । अतः दोनों का परस्पर सम्बन्ध है । ब्राह्मण-विधियों द्वारा तत्तत् कर्मों का विधान होता है । ब्राह्मण-विधि के अनुसार ही कर्मकाल में मन्त्रों का पाठ होता है। जैसे महाभाष्य, न्यायभाष्य, शांकरभाष्य में सूत्रानुकारी वाक्य एवं उनके व्याख्यान भाष्यकारों की ही कृति है । कण्ठ करने की दृष्टि से यदि कोई सूत्रानुकारी वाक्यों को पृथक् कर दें, तो इससे उनमें भिन्नता नहीं आती । वैसे ही स्थिति यहाँ भी है ।

कहा जा चुका है कि पहले मन्त्र-ब्राह्मण मिले-जुले

Scanned by CamScanner

ही थे। इनका पृथक्करण याज्ञिकसम्प्रदाय की प्रसिद्धि के आधार पर ही हुआ। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि शबरस्वामी आदि ने विविध उदाहरणों से सिद्ध कर दिया है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में मन्त्रों के सब लक्षण समन्वित हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि याज्ञिक साम्प्रदायिक निर्णय के आधार पर ही मन्त्र और ब्राह्मण का भेद होता है। याज्ञिक सम्प्रदाय आर्यसमाजियों में नहीं है। वे यज्ञादि नहीं मानते। यज्ञ की अनादि-अविच्छिन्न परम्परा तो सनातनियों में ही प्रचलित है। वे ही यज्ञ के ढंग से मन्त्रों का उच्चारण करते है। आर्यसमाजियों का उच्चारण तो याज्ञिक ढंग से अशुद्ध ही होता है। अनादि-अविच्छिन्न परम्परा के ढंग से एक मन्त्र का भी शुद्ध उच्चारण आर्यसमाजियों के लिए कठिन है। फिर भी यदि आर्यसमाजी अपनी परम्परा को अनादि कहें, तो आश्चर्य ही है।

सभी वैदिक वेद को शब्द-राशि मानते हैं, किन्तु समाजियों का यह नया इलहाम है कि 'वेद ज्ञानमय अर्थराशि है और उसका प्रादुर्भाव ऋषियों के हृदय में एकदम हुआ। इसमें पौर्वापर्य की सम्भावना नहीं।' यदि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, तो वे ऋषि के हृदय में प्रकाशित कैसे हो गये? क्या अन्यसमवेत ज्ञान अन्यसमवायी भी हो सकता है? संसार के लोग ज्ञान को 'विषयी' और अर्थ को 'विषय' समझते हैं। दोनों का ऐक्य नहीं होता। यदि प्रकाशक ज्ञान भी किसी अन्य से प्रकाशित हुआ करेगा, तो अनवस्था ही हो जायगी। किन्तु आर्यसमाजी इसपर क्यों विचार करने लगे।

Scanned by CamScanner

एक समाजी का कहना है कि "आप यह मानकर शंका उठा रहे हैं कि जैसे 'अग्निम्' बोलने के आध घण्टे बाद 'ईडे' बोला गया। अतः 'अग्निमीडे' में पौर्वापर्य हो गया।" किन्तु क्या आध घण्टे के पौर्वापर्य को ही 'पौर्वापर्य' कहते हैं? क्या संहत सहस्रशतपत्र-पत्र के सूची-प्रवेश में पौर्वापर्य नहीं होता? क्या अतिशीघ्र सूचीवेध करने पर भी यौगपद्येन सब पत्रों में सूची-प्रवेश हो जाता है? इसी तरह कोई एकदम 'अग्निमीडे' बोल जाय, तो क्या उसमें यौगपद्य है, क्रम नहीं?

कहा जाता है कि "अनित्यदर्शनात्" इस जैमिनिसूत्र के भाष्यमें शबरमुनि ने तैत्तिरीय-संहिता का उदाहरण सुबोध और प्रसिद्ध होने से दिया है। इस दृष्टि से नहीं कि वे ब्राह्मणवाक्य को भी वेद मानते हैं। वस्तुतः यहाँ वेद की अपौरुषेयता पर विचार चल रहा है। वर्ण, शब्द एवं वेद की नित्यता पर ही वेद की अपौरुषेयता अवलम्बित है। शब्द एवं अर्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध दिखलाया जा चुका है। अब अर्थ की अनित्यता में वैदिक शब्द की अनित्यता की प्रसक्ति दिखलायी जा रही है। उसीका समाधान करना है—वेद की अनित्यता पर उठनेवाले आक्षेपों का समाधान करना है और सुविधा के लिए उदाहृत किये जा रहे हैं पौरुषेय अवैदिक वाक्य। क्या यह "आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे" का उदाहरण नहीं है? वस्तुतः तैत्तिरीय-संहिता को वेद मानकर ही उसके वाक्य के अनित्य अर्थ द्वारा उसकी अनित्यता की शंका का समाधानकर उसकी नित्यता एवं वेदता स्पष्ट की गयी है। अन्त में समाजियों ने जिस शाबरभाष्य की प्रामाणिकता

Scanned by CamScanner

स्वीकार कर रखी है, उसीको गलत ठहरा दिया। यह दिखाया जा चुका है कि शबरस्वामी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। फिर भी उसके विपरीत यह कहना कि शबरस्वामी ब्राह्मण को वेद नहीं मानते, सर्वथा झूठ बोलना तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश' में उक्त चतुर्थ नियम का हनन करना है।

कुछ लोग कहते हैं कि वस्तुतः 'अनित्यदर्शनात्' इस सूत्र के उदाहरण के लिए जिन मन्त्रों में 'वशिष्ठ, उर्वशी आदि शब्द आते हैं और अनित्यता की शंका हो सकती है, वे ही मन्त्र उदाहरणरूप में देने चाहिए।" शाबरभाष्य सूत्रों का परम्परा-प्राप्त अर्थ है। भगवान् शंकराचार्य शबरस्वामी को 'शास्त्र-तात्पर्यविदः' कहकर स्मरण करते हैं। सभी याज्ञिक-संप्रदायों में उन्हींके अर्थ का अनुष्ठान किया जाता है। फिर यदि उनका अर्थ ठीक नहीं, तो क्या समाजियों का मनमाना अर्थ मान्य होगा?

समाजी चार पुस्तकों को ही चार वेद मानते हैं। किन्तु चारों वेदों का अर्थ केवल चार पुस्तकें नहीं, अपितु ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चार जातियाँ हैं। "एकशतमध्वर्यु-शाखा, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधा आथर्वणो वेदः" (महाभाष्य) आदि सहस्रों पुस्तकें चारों वेदों के भीतर हैं। महाभाष्यकार तो सबको वेद ही कहते हैं। समा-जियों ने महाभाष्य को भी प्रमाण मान रखा है।

"यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपा" इत्यादि मन्त्रों में वेदशब्द

Scanned by CamScanner

का ब्राह्मण अर्थ नहीं है" यह समाजियों का कहना है। पर इसमें प्रमाण क्या है ?

कुछ समाजी "अनन्ता वै वेदाः" का अर्थ करते हैं कि 'वेदों का अर्थ गम्भीर एवं दुरवबोध है।' किन्तु क्या कहीं किसी गम्भीर एवं दुर्बोध ज्ञानवाले ग्रन्थ या वाक्य को 'अनन्त' कहा जाता है ? अनन्त 'वेद' का विशेषण है, 'ज्ञान' का नहीं। यदि समाजियों की चार पुस्तकें अनन्त बन जायँ, तो अन्य व्यक्ति चार मन्त्रों को लेकर भी कह सकेगा कि ये ही चार वेद हैं और ये ही अनन्त हैं, क्योंकि इनका ज्ञान दुर्बोध है। "अनन्ता वै वेदाः" यह वचन जहाँ है, वहीं इस सम्बन्ध की आख्यायिका भी है। भारद्वाज ऋषि ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक वेद का अध्ययन करते-करते अत्यंत जीर्ण हो गये। इन्द्र के पूछने पर उन्होंने और आगे भी पढ़ने की इच्छा व्यक्त की। इन्द्र ने फिर दूसरी पुरुषायु दी। इसी प्रकार दूसरी, तीसरी बार इन्द्र ने आकर पूछा, तो पुनः पुनः उन्होंने पढ़ने की ही इच्छा व्यक्त की। इसपर इन्द्र ने तीन महान् पर्वत दिखलाकर कहा कि 'ये अनन्त वेद हैं'। अभी इनमें से तुमने तीन आयु में (तीन सौ वर्षों में) तीन मुष्टिमात्र अध्ययन किया हो—"अनन्ता वै वेदाः। "भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं जीर्णिं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच—भरद्वाज यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमनेन कुर्याः ? ब्रह्मचर्यमनेन चरेयमिति होवाच। तं त्रीन् ह गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां ह्येकस्मान् मुष्टिमुपाददे। स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य, वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः। एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुभिरन्ववोचथाः। अथ तइतरदनन्तमेव इति।" (तै० ब्रा० ३।१०।११।३।४)।

समाजी कहते हैं—"ऋगादिशब्द उपलक्षण-वृत्ति से वेद के बोधक हैं, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं।" किन्तु पूछा जा सकता है कि आखिर यह 'उपलक्षण' कौन-सी वृत्ति है? शक्ति और लक्षणा तो वृत्तिरूपमें प्रसिद्ध हैं, परन्तु 'उपलक्षण' नाम की कोई वृत्ति शास्त्रज्ञों में प्रसिद्ध नहीं है। "काकवत् देवदत्तस्य गृहम्" यहाँ काक उद्गततृणत्वादि का उपलक्षण होता है। विशेषण, उपाधि एवं उपलक्षण ये सब व्यावर्तक धर्म होते हैं, शब्द की वृत्ति नहीं कहे जाते। फिर, समाजियों के मतानुसार जब ऋगादिशब्द शक्तिवृत्ति से ही वेद के बोधक हो सकते हैं, तो वहाँ लक्षणा या उपलक्षण की क्या आवश्यकता है? आर्य-समाज ऋगादि मन्त्रों को ही वेद कहता है, फिर 'ऋक्'शब्द शक्तिवृत्ति से ही ऋग्वेद का बोध करायेगा।

यहाँ कहना यह है कि ऋक्, यजुः साम आदि शब्दों का वेद अर्थ है ही नहीं। इनका तो ऋक् आदि मन्त्र ही अर्थ है। वेदशब्द तो मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय का ही बोधक है। ऋक् आदि का वेद अर्थ लक्षणा से किया जाता है। "वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः" इस वाक्य से सूर्य का त्रिवेद-साहित्य कहा गया है। तदनुसार "यजुर्वेदस्तिष्ठति मध्ये अह्नः", "सामवेदेनास्तमये महीयते" इन वाक्यों में वेदशब्द आया है। "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते" यहाँ वेदशब्द आया ही नहीं। अतः कहा गया कि 'ऋग्भिः' पद से लक्षणा द्वारा ऋग्वेद अर्थ ही लेना चाहिए। इस बात को बिना समझे ही किन्हीं समाजियों ने उपलक्षणवृत्ति का नाम लेकर भाष्यकार का भी समर्थन कर दिया और लिख दिया

Scanned by CamScanner

कि "ऋग्भिः पूर्वाह्णे" इत्यादि वाक्य में ऋक् और वेद दोनों शब्दों को पर्यायवाचक रूप में प्रयुक्त किया गया है।" यह वाक्य भी बिना समझे ही उन्होंने अपने विरुद्ध लिख डाला। पहले तो उक्त वाक्यों में से किसी वाक्य में भी ऋक् और वेद दोनों शब्द प्रयुक्त नहीं हैं। "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते" इसमें केवल ऋक् शब्द का ही प्रयोग है, वेदशब्द का नहीं। "यजुर्वेदस्तिष्ठति मध्ये अह्नः, सामवेदेनास्तमये" इन वाक्यों में वेदशब्द है, ऋक्-शब्द नहीं। क्या इसीका नाम अनर्गल प्रलाप नहीं है? इसके अतिरिक्त यदि ऋगादि शब्द और वेदशब्द पर्यायवाची माने जाते हों, तो दोनों का एक साथ प्रयोग पुनरुक्तिदोष से भी ग्रस्त होगा।

किन्हीं समाजियों ने यह भी लिखा है कि "त्रयी विद्याख्या च तद्विदि" इस सूत्र द्वारा जो लोग मन्त्र और ब्राह्मणों को वेद सिद्ध करते हैं, मुझे उनकी बुद्धि पर दया आती है।" परन्तु उन्हें अपनी बुद्धि पर दया आती, तो उसमें कुछ सुधार भी होता और कम-से-कम वे कुछ समझकर लिखने का प्रयास करते। "त्रयी विद्याख्या च तद्विदि" यह सूत्र "उच्चैर्ऋचा क्रियते" इत्यादि उपसंहारस्थ श्रुतिवाक्य में 'ऋक् आदि शब्द लक्षणा से ऋग्वेद (मन्त्र-ब्राह्मणात्मक) अर्थ में प्रयुक्त है, केवल ऋक्-मन्त्र में नहीं,' इस अर्थ की पुष्टि में उपस्थापित किया जाता है। सूत्रार्थ यह है कि यद्यपि त्रयी शब्द ऋक्, साम, यजुः आदि मन्त्रों में ही प्रयुक्त होता है, तथापि लक्षणा से त्रयीपद से वेदत्रय का बोध होता है। इसीलिए "त्रयीविद्य" शब्द वेदवित् अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेद-शब्द का पूर्वोक्त रीति से मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय अर्थ होता है।

Scanned by CamScanner

आश्चर्य है कि ऐसा अर्थ बतलानेवाले परमशास्त्रतात्पर्यविद् भाष्यकार आदि की बुद्धि पर तो इन्हें दया आती है और यह सामान्य अर्थ भी समझने में असमर्थ अपनी बुद्धि पर दया नहीं आती !

छन्द, वेद, त्रयी, आम्नाय, श्रुति आदि शब्दों से मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय लिया जाता है, यह बात अनादि-परम्परा से मन्त्रों, ब्राह्मणों, सूत्रों, भाष्यों धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों से सिद्ध ही है। आग्रही तो उसे ही कहा जा सकता है, जो उक्त ग्रन्थों को प्रमाण मानने की घोषणा करके भी उससे मुकर जाता है। वेद की हजारों पुस्तकों में से सिर्फ चार को वेद मानकर अन्य सबको ठुकरा देता है। अनन्त आकाश को केवल सूच्याकाश के भीतर बन्द करना चाहता है। फिर भी कहता जाता है कि ब्राह्मण के वेद होने में एक भी प्रमाण नहीं है। कोई किसीका मुख तो बन्द नहीं कर सकता ?

इसके बाद समाजियों ने अपनी समझ से यह अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किया है कि "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" में ब्राह्मण का पृथक् उल्लेख होने से ब्राह्मणभाग वेद नहीं हो सकता। अन्यथा सूत्र में पुनरुक्तिदोष आयेगा।" उनका यह अकाट्य प्रमाण कई बार अन्य लोगों ने भी प्रस्तुत किया था और वह कट भी चुका है।

यद्यपि छन्दशब्द से मन्त्र-ब्राह्मण दोनों गृहीत होते हैं, फिर भी ब्राह्मणशब्द का जो पृथक् उपादान हुआ है, वह ब्राह्मण-विशेष के परिग्रहण के लिए ही है। "अधिकमधिकार्थम्" यह न्याय

यहाँ लागू होता है। तथाच यहाँ ब्राह्मणशब्द से प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रोक्त एवं अध्यापित ब्राह्मणों का ही ग्रहण होता है। नवीन ऋषियों से प्रोक्त ब्राह्मणों के विषय में यह सूत्र लागू नहीं होता। यथा—"याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि।" काशिका-वृत्ति में भी लिखा है—"ब्राह्मणग्रहणं किम्, यावता छन्द एव तत्? ब्राह्मणविशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। इह तद्विषयताम भूत्—याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि।" 'काशिका-वृत्ति' के इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि काशिकाकार ब्राह्मण को स्पष्ट शब्दों में छन्द स्वीकार कर रहे हैं—"यावता छन्द एव तत् (ब्राह्मणम्)।" "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" सूत्र की तरह पाणिनि के अन्य सूत्र भी विद्यमान हैं, जिनमें 'अधिकमधिकार्थम्" न्याय से वैशिष्ट्य का बोध कराया गया है। जैसे—"तनादि-कृञ्भ्य उः" (३।१।७९) सूत्र है। यहाँ 'कृञ्' धातु तनादि धातुओं में होने से तनादि के ग्रहण से ही गृहीत था। फिर भी तनादि से पृथक् कृञ् का जो पाठ किया गया है, वह उसके वैशिष्ट्य के लिए ही है। वादी के अनुसार तो 'कृञ्' का पृथक् उल्लेख होने से 'कृञ्' तनादि नहीं हो सकता। अन्यथा सूत्र में पुनरुक्तिदोष आता है, ऐसा कहा जाता है। इस तरह उनका प्रमाण तो कटा-कटाया है।

महाभाष्यकार ने इस सूत्र में ब्राह्मणग्रहण का प्रयोजन सूचित करते हुए लिखा है कि "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकाल-त्वात्" यही बात "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" (४।३।१०५) इस सूत्र में 'पुराणप्रोक्तेषु' इस विशेषण द्वारा कही गयी है। यदि ब्राह्मण-

Scanned by CamScanner

शब्द से ब्राह्मण-विशेष का परिग्रह अभीष्ट न होता, तो 'पुराण-प्रोक्तेषु' यह विशेषण व्यर्थ ही होता।

"द्वितीया ब्राह्मणे", "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" "पुराण-प्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" इत्यादि सूत्र भी समाजियों के द्वारा ब्राह्मण के वेद न होने में उठाये जाते हैं। किन्तु यह स्पष्ट कहा जा चुका है कि छन्द, वेद, आम्नाय, श्रुति, निगम आदि शब्द मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय के वाचक हैं। मन्त्रशब्द मन्त्रमात्र का वाचक होता, है तो ब्राह्मणशब्द ब्राह्मणमात्र का। अतः "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र का ब्राह्मणशब्द मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय का बोधक नहीं होता। छन्दशब्द मंत्र-ब्राह्मणसमुदाय का बोधक होता है। इसीलिए छन्दशब्द का ग्रहण करना आवश्यक है। जैसे "मन्त्रे श्वेतवहोक्थ०" (३।२।७१), "अवे यजः" (३।२।७२), "विजुपे छन्दसि" (३।२।७३) सूत्रों में 'मन्त्रे श्वेत०' सूत्र से मन्त्र की अनुवृत्ति से काम नहीं चल सकता था। इसलिए "विजुपे छन्दसि" में छन्दशब्द का ग्रहण करना सार्थक होता है। सनातन सिद्धान्तानुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही शब्द वेद के पर्याय-वाचक नहीं होते। अतः इनमें से किसी एक के रहने पर वेद, छन्द आदि पदव्यपदेश्य मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय का बोध नहीं हो सकता। किन्तु समाजियों के मत में मन्त्रपद-व्यपदेश्य तथा वेद, छन्द आम्नाय आदि पद-व्यपदेश्य एक ही वस्तु है। अतः जहाँ मन्त्रशब्द है या उसकी अनुवृत्ति हो सकती है, वहाँ छन्द आदि का उपादान सर्वथा व्यर्थ ही होगा।

समाजी कहते हैं कि "ब्राह्मण' शब्द तद्धित अण्-प्रत्ययान्त है—

Scanned by CamScanner

'ब्रह्मणः वेदस्य इदं व्याख्यानं ब्राह्मणम्।" वस्तुतस्तु वेद, आम्नाय आदि संज्ञाशब्दों के समान मन्त्र और 'ब्राह्मण' भी संज्ञाशब्द है। जैसे मन्त्रशब्द वेद के एक भाग का वाचक है, वैसे ही ब्राह्मण शब्द भी वेद के दूसरे भाग का वाचक है। जैमिनि ने "शेषे ब्राह्मण-शब्दः" से यही कहा है। समाजियों की तरह उन्होंने ब्राह्मण को वेद का व्याख्यान नहीं कहा। अतः व्युत्पत्ति ही करनी हो, तो 'ब्रह्म एव ब्राह्मणम्' ऐसी व्युत्पत्ति कीजिये। स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है। "छन्दसि दृष्टानुविधिः' के अनुसार छन्द में दृष्ट के अनुसार विधि होती है, यह भी स्पष्ट ही है। समाजियों द्वारा की गयी ब्राह्मणशब्द की व्युत्पत्ति यदि ठीक है तो, मन्त्रशब्द की "प्रभुसम्मितस्य विधिप्रधानस्य ब्राह्मणस्य नियोगं मत्वा त्रायते पालयतीति मन्त्रः" (अर्थात् प्रभुसम्मित ब्राह्मण की आज्ञा मानकर या मननकर पालन करनेवाला मन्त्र है) इस व्युत्पत्ति के अनुसार मन्त्र की अपेक्षा ब्राह्मणभाग की ही प्रधानता सिद्ध होती है।

कुछ समाजी कहते हैं कि "ब्राह्मण मन्त्र का प्रतीक उद्धृत-कर व्याख्या करता है, अतः वह वेद नहीं।" उनका यह कथन सर्वथा मिथ्या है। "शाखां छिनत्ति' यह मन्त्र के किस अंश की व्याख्या है? दूसरी बात यह है कि यदि ब्राह्मण मन्त्र की व्याख्या होता, तो मन्त्र ही विधायक होता और ब्राह्मण अनुवादक। किन्तु ऐसा नहीं है। मीमांसकों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि मन्त्र अनुवादकतया स्मारक होते हैं, विधायक तो ब्राह्मण ही होते हैं। "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" इत्यादि भी ब्राह्मण ही हैं, ये मन्त्र-धर्म से पढ़े जाने के कारण मन्त्र कहलाते हैं। उनका 'इषे त्वा'

Scanned by CamScanner

वाला प्रमाण तो उनके मन्त्र को नियोज्य (भृत्य) सिद्ध कर रहा है और ब्राह्मण व्रीहि-यवादि के समान मन्त्रों को भी कर्मों में विनियुक्त करता है—सम्प्रोक्षणादि संस्कार-विधान के समान ही मन्त्र को विवरणरूप संस्कार द्वारा यज्ञोपयुक्त बनाता है। जैसे ब्राह्मण व्रीहि-यवादि की व्याख्या नहीं, वैसे ही वे मन्त्र की भी व्याख्या नहीं।

ब्राह्मण के वेद होने में तो हजारों प्रमाण है, परन्तु समाजी उनके वेद न होने में कोई भी आर्ष प्रमाण नहीं देते। इसपर कुछ समाजी कात्यायन मुनि का प्रमाण उपस्थित करते हैं। किन्तु वह प्रमाण उनके सिद्धान्त को सर्वथा डुबो देता है। "मन्त्रचोदन-योर्मन्त्रबलं प्रयोगित्वात्" का वे जो अर्थ करते हैं, वह कम से कम कात्यायन-सूत्र, उसके भाष्य एवं याज्ञिकों को तो सम्मत ही नहीं है। वस्तुतः सूत्र के अक्षरों से उपर्युक्त अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः वे उक्त सूत्र का उदाहरण भी नहीं दे सकते।

वस्तुतः यहाँ चोदना और मन्त्र के प्रामाण्याप्रामाण्य पर कोई विचार नहीं चल रहा है और न उसके वेदत्वावेदत्व पर ही कोई विचार है। मूलत्व और व्याख्यानत्व की भी यहाँ चर्चा नहीं है। इनका न तो कोई प्रसंग है और न उदाहरण ही। यहाँ तो ब्राह्मण को वेद मानकर उन्हींके द्वारा विहित यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान-क्रम पर विचार चल रहा है। तदनुकूल ही 'प्रयोगित्वात् यह हेतु है। यदि प्रामाण्याप्रामाण्य, वेदत्वावेदत्व, ईश्वरीयत्वा-नीश्वरीत्व, मूलत्व-व्याख्यानत्व आदि के सम्बन्ध में विचार

Scanned by CamScanner

होता, तो 'अपौरुषेयत्वात्, ईश्वरोक्तत्वात्' आदि हेतु उपन्यस्त किये जाते।

सूत्र में इस विषय पर विचार है कि ब्राह्मणभाग द्वारा आज्याधिश्रयण एवं आज्योद्वासन विहित है। ब्राह्मणविहित उक्त कर्मों में उनके द्वारा या लिङ्गों द्वारा मन्त्रों का द्रव्य-देवता-स्मरणार्थ विनियोग होता है। ब्राह्मणगत क्रम के अनुसार आज्याधिश्रयण के अनन्तर ही आज्योद्वासन का क्रम प्राप्त होता है। परन्तु मन्त्रों के क्रम के अनुसार आज्याधिश्रयण के अनन्तर पत्नीसन्नाहान्त कर्मों के अनन्तर आज्योद्वासन प्राप्त होता है। द्रव्य-देवता का स्मरण कराने के लिए ही मन्त्रों का प्रयोग होता है। मन्त्र प्रयोगसमवेत होते हैं, अतः अन्तरङ्ग हैं और ब्राह्मण विधायक होते हुए भी प्रयोगसमवेत नहीं हैं अतः बहिरङ्ग हैं। ब्राह्मण द्वारा मन्त्र का प्रयोग में पाठ विहित है, परन्तु ब्राह्मण का पाठ विहित नहीं है। मन्त्रों के द्वारा प्रयोगानुष्ठान में स्मरण-सौविध्य होता है, किन्तु ब्राह्मण में अर्थवादों का व्यवधान होने से स्मरण में सौविध्य नहीं होता। इस तरह यहाँ ब्राह्मण की अपेक्षा मन्त्र का प्राबल्य नहीं कहा गया है। किन्तु ब्राह्मण-पाठक्रम की अपेक्षा मन्त्र-पाठक्रम प्रयोगसमवेत होने से अनुष्ठान में सुविधा-कारक होने के कारण प्रबल माना गया है।

चोदना तो स्वार्थबोधन द्वारा चरितार्थ है, किन्तु मन्त्र का स्वार्थ में तात्पर्य न होने से उसकी चरितार्थता पाठ द्वारा ही होती है। शब्द की महत्ता स्वार्थपर्यवसायी होने में ही होती है। मन्त्र का पाठमात्र में उपयोग होना उसकी महत्ता नहीं है।

Scanned by CamScanner

प्रामाण्य की दृष्टि से मन्त्र की अपेक्षा चोदना का ही प्राबल्य है। जैमिनि के अनुसार क्रियार्थक आम्नाय ही सार्थक है। अक्रियार्थक आम्नाय में अनर्थकता ही प्राप्त होती है। अर्थवाद एवं मन्त्र दोनों की ही क्रियार्थकता न होने से अनर्थकता प्राप्त होती है। अतः विधिस्तुति द्वारा अर्थवाद की सार्थकता मानी जाती है और द्रव्य-देवता का स्मरण कराकर मन्त्र की सार्थकता सम्पन्न की जाती है। इस तरह चोदना तत्पर होती है और मन्त्र अतत्पर। "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" के अनुसार शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है, वही उसका अर्थ होता है। इस तरह अर्थवाद एवं मन्त्र अपने वाच्यार्थ में तात्पर्य न रखते हुए लक्षणा द्वारा परम्परा से क्रियार्थक होकर सार्थक एवं प्रमाण होते हैं। किन्तु चोदना क्रियार्थक होने से साक्षात् सार्थक एवं प्रमाण है।

"तदर्थशास्त्रात्" (जै० १।२।३१) में कहा गया है कि 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रों में विधायकता नहीं होती; क्योंकि उनका विधान 'उरु प्रथस्वेति पुराडाशं प्रथयति' इस विधिवाक्य द्वारा होता है। जैसे अविस्पष्ट नेत्ररोगवाले व्यक्ति को देखकर भ्रम होता है कि यह देखता होगा, किन्तु जब उसे दूसरे की अंगुली पकड़कर चलते देखते हैं, तो उसमें दृक्-शक्ति का अभाव मालूम पड़ता है, वैसे ही 'उरु प्रथस्व' आदि में विधायकता प्रतीत होती है, परन्तु 'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इस ब्राह्मणवाक्य से उसका विनियोग होता देखकर प्रतीत होता है कि उनमें विधायकता नहीं है। 'विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्' (२।१।

३०) "अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात् मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्" (२।१।३१) इन सूत्रों में विचार किया गया है कि "देवांश्च याभिर्यजते ददाति" इस मन्त्र में 'यजते' यह आख्यातपद विधायक है या नहीं? पूर्वपक्ष होता है कि विधि और मन्त्र दोनों के ही आख्यात विधायक हो सकते हैं, क्योंकि दोनों में ही समान रूप से आख्यात-जातीयता होती है। सिद्धान्त किया गया कि मन्त्रस्थ आख्यात-पद अभिधानवाची हैं, अर्थात् अर्थप्रकाशन द्वारा प्रयोगकाल में अर्थ-स्मरण कराते हैं। अतः वे विधायक नहीं होते। यद्यपि "समिधो यजति' के समान 'याभिर्यजते' इस मन्त्रस्थ आख्यात से विधान सम्भव हो सकता था, तथापि ब्राह्मणस्थ विधिवाक्य किसी कर्म का अनुवाद कर किसी अन्य वाक्य से विनियुज्यमान नहीं होते, अतः विधायक होते हैं। मन्त्रस्थ आख्यात तत्तत् कर्मों का अनुवादकर तत्स्मारकरूप से ब्राह्मणवाक्य से विनियुज्य-मान होते हैं। अतः वे विधायक नहीं होते। यत्-शब्द, सम्बोधन विभक्ति उत्तम पुरुष, यदि-शब्द आदि मन्त्रों की विधि-शक्ति के विधायक होते हैं, यह सब पीछे कहा ही जा चुका है।

जैसे "व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा" इत्यादि वाक्यों को कोई विनियोज्य व्रीह्यादिमूलक नहीं कहता, वैसे ही ब्राह्मण भी स्वविनियोज्य मन्त्र-मूलक नहीं हो सकते। 'बुद्धशास्त्रात्' से कहा गया है कि 'अग्नीदग्नीन् विहरेत्' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य से अग्नीत् ऋत्विक् को अध्ययनकाल से ही अग्नि-विहरणादि कार्य ज्ञात हैं, तब 'अग्नीत्' इत्यादि मन्त्रों से ज्ञात का ज्ञान कराना व्यर्थ ही है। अतः मन्त्र निष्प्रयोजन है। इन सब सूत्रों से ब्राह्मण की पूर्वभाविता

Scanned by CamScanner

स्पष्ट है। फिर भी ब्राह्मण को मन्त्र की टीका या व्याख्या कहना अनभिज्ञता ही है।

यद्यपि ये पूर्वपक्ष के सूत्र हैं, तथापि इनका खण्डन न करके 'मन्त्रैरेव द्रव्यदेवते स्मर्तव्ये' इत्यादि नियमादृष्ट के लिए कर्मकाल में मन्त्रपाठ का समर्थनकर क्रियापरत्वेन मन्त्रों की सार्थकता कही गयी है। 'तत् प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि' (तत्प्रधान वाक्य अतत्प्रधान वाक्यों से प्रबल होते हैं) यह शाब्दन्यायविदों का उद्घोष है। चोदना तत्प्रधान है और मन्त्र अतत्प्रधान। सुतरां चोदना मन्त्र से प्रबल होती है—'मन्त्राः अतत्पराः अन्यशेषत्वात् कर्मविधिशेषत्वाद्वा, अर्थवादवाक्यवत्, व्रीहियवादिवद् वा।" अन्य प्रमाण का विरोध होने पर तत्पर श्रुति द्वारा अन्य प्रमाण का ही बाध होता है। यदि श्रुति तत्पर न हुई, तो अन्य प्रमाण को बाधित न कर सकने के कारण वह गौणार्थक हो जाती है। अतएव भट्टपाद का कहना है–"यस्माद् व्रीह्यादिवन्मन्त्राः करणत्वेन कर्मणाम्। ब्राह्मणेन वियुज्यन्ते तस्मात्ते न विधायकाः॥" अतएव इस अंश में मन्त्रविधि परतन्त्र होता है। इसीलिए "कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रसश्चसि दाशुषे" इस मन्त्र से यद्यपि अभिधा से इन्द्र का उपस्थान होना चाहिए, तथापि "ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते" इस श्रुति द्वारा गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में इसका विनियोग होता है। ब्राह्मण की प्रबलता के सम्बन्ध में ऐसे सैकड़ों ही प्रमाण हैं।

'आदित्यो यूपः' इत्यादि श्रुति गौणार्थक होती है। 'ईशावास्यम्' आदि बहुत थोड़े-से मन्त्र ऐसे हैं, जो कर्म में विनियुक्त नहीं

Scanned by CamScanner

होते, इसलिए कि उनके विनियोजक प्रमाण नहीं मिलते। अतः वे अन्यशेष नहीं हैं। अन्यशेष न होने से तत्पर हैं। तत्पर होने से अन्य विरोधी प्रमाणों को बाधित करके भी स्वार्थपर्यवसायी होते हैं। 'ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मसु विनियुक्ताः मन्त्रत्वात् इषे त्वेति मन्त्रवत्' इत्यादि अनुमान विनियोजक प्रमाणसत्व रूप उपाधि से दूषित हैं।

यदि वे महर्षि कात्यायन की भी बात मानें, तो प्रस्तुत विचार-विनिमय में बहुत ही लाभ हो जाय। महर्षि कात्यायन ने कण्ठ-रव से ब्राह्मण को वेद कहा है। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (कात्यायन प्रति....)—श्री स्वामी दयानन्द ने कात्यायन का ही यह सूत्र माना है। कात्यायन-सूत्र में ब्राह्मणभाग के अनुसार ही सब यज्ञों की विधियाँ लिखी हैं। स्थल-स्थल पर 'श्रुति' शब्द से उन्होंने ब्राह्मण-वचनों का स्मरण किया है। 'ब्राह्मण-राजन्य-वैश्यानां श्रुतेः' (अ. १। क. १। सू. ६) इस सूत्र में "वसन्ते ब्रामणोऽग्नीनादधीतः ग्रीष्मे राजन्यो वर्षासु वैश्यः" इस शतपथ-श्रुति (२।१।३।५) का ग्रहण है। "न श्रुतिलक्षणत्वात्" (१।२।२१) में "चित्रया यजते पशुकामः" (तै० २।४५) इत्यादि श्रुति का निर्देश है। "सत्रेषु तु श्रुतेः" (१।६।११) में 'यदि दीक्षितानां कश्चित् प्रमीयेत तस्य यो नेदिष्ठो स्यात् न मुपदीक्ष्य तेन सह यजेरन्" (ता. ९।८।१) का निर्देश है।

कात्यायन के सूत्रों का उन लोगों ने जो मनगढ़न्त अर्थ किया है, वह अत्यन्त उपहासास्पद है। कात्यायन ने सूत्रार्थ करते समय 'मन्त्रोच्चारण से अपूर्व की उत्पत्ति मानी है' किन्तु आर्य-

Scanned by CamScanner

समाज को मन्त्रों के उच्चारण से अपूर्व की उत्पत्ति मान्य नहीं है। वह तो यज्ञों से वायुशुद्धिरूप केवल दृष्टफल ही मानता है, कर्मकाल में मन्त्रों का उच्चारण केवल अभ्यासार्थ मानता है। अतः ऐसे लोगों का सूत्रार्थ उन्हींके आर्यसमाजियों को मान्य नहीं हो सकता। सनातनियों की दृष्टि से तो उनका अर्थ मूर्खतापूर्ण है ही। उनका तो वही अर्थ है, जो ऊपर दिखाया जा चुका है, यही कर्क आदि आचार्यों एवं याज्ञिकों को भी मान्य है। आजकल के मस्तिष्क में जो तर्क उठते भी नहीं, ऐसे भी तर्कों का उत्थापन एवं निराकरण पूर्वोत्तर-मीमांसा के ग्रन्थों में है। इन दोनों ही सम्प्रदायों के मीमांसक, दुनिया जिनसे तर्क सीखती है वे न्यायसूत्रकार गौतम, न्यायभाष्यकार वात्स्यायन, वार्तिककार भरद्वाज, तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र एवं तार्किकशिरोमणि उदयनाचार्य ये सभी तथा व्यास, जैमिनि, कणाद, पाणिनि, पतञ्जलि आदि भी ब्राह्मण को वेद मानते हैं।

इसी प्रसङ्ग में कुछ आर्यसमाजी कहते हैं कि 'विधिवाक्य अर्थवादादि के द्वारा मन्त्र को स्मरण कराकर अपनी प्रामाणिकता लाता है, अर्थात् विधिवाक्य की प्रामाणिकता व्यवहित है, साक्षात् नहीं।' यह कथन अत्यन्त असत्य है। 'विधिवाक्य अर्थवादादि द्वारा मन्त्र को स्मरण कराकर अपनी प्रामाणिकता लाता है' इस कथन में क्या प्रमाण है, केवल इसी एक बात पर विचार समाप्त हो सकता है। आर्यसमाज सिद्ध करे कि कौन-सी विधि किस अर्थवाद द्वारा किस मन्त्र का स्मरण कराती है और मन्त्र का स्मरण कराना प्रामाणिकता का प्रयोजक कैसे हुआ?

Scanned by CamScanner

वस्तुतः स्मारकता के विपरीत अनधिगतगमकता अननुभूत-अनुभावकता प्रमाणता की प्रयोजिका होती है। जब चक्षु आदि प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य है, तब अपौरुषेय विधिवाक्य की प्रमाणता अन्यसापेक्ष्य क्यों? हाँ, क्रियार्थक न होने से अर्थवाद की अनर्थकता की शंका भी होती है। किन्तु साक्षात् क्रियार्थक विधिभाग में अनर्थकता की तो शंका भी नहीं हो सकती। 'मन्त्र स्वतः प्रमाण और विधि परतः प्रमाण है' यह कहना प्रामाण्याप्रामाण्य के वृत्तान्त से अनभिज्ञ को ही शोभा देता है। इस कथन में शपथ के अतिरिक्त और क्या आधार है?

कुछ समाजी कहते हैं—'मन्त्र और ब्राह्मण दोनों एक नहीं माने जा सकते। परन्तु कौन कहता है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों एक हैं? मन्त्र नियोज्य है, तो ब्राह्मण नियोक्ता। दोनों को एक कहनेवाला मूर्ख ही है। यह कहना भी ठीक नहीं कि 'ब्राह्मण के मध्य निन्दा, स्तुति आदि पड़ जाने से उसे वेद नहीं कहा जा सकता।' क्योंकि ये सब बातें मन्त्रों में भी हैं। स्तुति मन्त्रों का वाच्य अर्थ ही है। इस तरह तो समाजियों के हेतु से उन्हींके मन्त्रों का भी वेदत्व कट जाता है। महान् का अतिक्रमण अपने ही माथे बीतता है—"एवमेव खलु महदभिचारक्रमः कार्त्स्न्यं-नात्मने फलति।", "महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः।"

"ब्राह्मणो नाम कर्मणां तन्मन्त्राणाञ्च व्याख्यानग्रन्थः" सायण का यह उद्धरण देकर कुछ समाजियों ने ब्राह्मण को तथाकथित व्याख्यान होना बतलाया है। परन्तु जो लोग सायण को प्रमाण मानते हैं, वे उनके दो तरह के वाक्यों का समन्वय करते हैं।

Scanned by CamScanner

सायण ने ऋग्वेद के उपोद्घात में "मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावत् वेदस्यादुष्टं लक्षणम्" लिखकर स्पष्टशब्दों में ब्राह्मण को वेद मान लिया है। अतः यहाँ व्याख्यान का अर्थ प्रकाशन ही है। समाजियों को भी यही अर्थ मानना पड़ेगा। नहीं तो उनके द्वारा उद्धृत वाक्य में जो ब्राह्मण को कर्म का भी व्याख्यान कहा है, उसका क्या अर्थ करेंगे? बात यह है कि ब्राह्मणों द्वारा जिस तरह कर्मों का प्रकाशन होता है, उसी तरह मन्त्रों की कर्माङ्गता भी उसी के द्वारा प्रकाशित होती है। व्रीहि, यवादि का भी ब्राह्मण द्वारा ही प्रकाशन होता है। क्या इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे सायण-भाष्य मन्त्र का व्याख्यान है, वैसे ही ब्राह्मण कर्म एवं मन्त्र का व्याख्यान है? क्या 'व्याख्येय वाक्य का पदान्तरेण अर्थकथनरूप' व्याख्यान कर्मों का भी हो सकता है? क्या कर्म भी वाक्य हैं? जिस तरह ब्राह्मण को व्याख्यान कहा जाता है, उसी तरह वेदादि सर्वप्रपञ्च को भी प्रणव का व्याख्यान कहा जाता है—"तस्योपव्याख्यानभूतम्" (मा० का०)। प्रणव का व्याख्यान होने पर भी जैसे वेद का वेदत्व नहीं जाता, वैसे ब्राह्मण के व्याख्यान होने पर भी उसकी वेदता अक्षुण्ण ही है।

व्याख्येयत्व या व्याख्यानत्व वेदत्वावेदत्व का प्रयोजक नहीं है। अन्यथा कोई कह सकता है कि 'व्याख्येयत्व ही अवेदत्व का प्रयोजक है। जैसे कर्म व्याख्येय है और वेद नहीं है, वैसे ही मन्त्र भी व्याख्येय है, अतः वेद नहीं है।' समाजी इसका क्या उत्तर देंगे? वेदत्व का प्रयोजक तो अपौरुषेयवाक्यत्व ही है। उसीके रहने पर मन्त्र या ब्राह्मण में वेदत्व होता है।

Scanned by CamScanner

कुछ आर्यसमाजी कहते हैं कि "खण्डदेव के अनुसार 'श्रुति-लिंगवाक्यं' आदि सूत्र में श्रुति का अर्थ मन्त्र है।" किन्तु वे खण्ड-देव की बात नहीं समझ सकते। जिसे मीमांसा का प्रारम्भिक भी ज्ञान होगा, वह 'श्रुतिलिङ्गवाक्य' वाली श्रुति का मन्त्रभाग अर्थ नहीं कर सकता। यहाँ श्रुतिशब्द का अर्थ 'लिङ्गादिनिरपेक्ष ब्राह्मणादि-रव' ही है। अतएव "ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस ब्राह्मणवाक्य में 'ऐन्द्र्या' को तृतीया एवं 'गार्हपत्यम्' को द्वितीयाश्रुति कहा जाता है। शबर, कुमारिल, शंकर, मण्डन, वाचस्पति, रामानुज वेदान्तदेशिक आदि सभी 'श्रुतिलिङ्गादि' सूत्र के श्रुतिशब्द का यही अर्थ मानते हैं।

स्वर के सम्बन्ध में कही गयी कात्यायनसूत्र के बातों से भी समाजियों की मनोरथपूर्ति असम्भव है। स्वरभेद भी वेदत्वा-वेदत्व का प्रयोजक नहीं है। जिस ग्रन्थ में जिन स्वरों के पढ़ने का सम्प्रदाय है, वहाँ वही स्वर मान्य होता है। माध्यन्दिनी शाखा के स्वर आदि के उच्चारण की तरह का उच्चारण शाकली, शौनकीय, कौथुमीय शाखाओं में नहीं होता। इससे किसीमें अवेदत्व नहीं आता। इसी तरह मन्त्रस्वर और ब्राह्मणस्वर में भेद होने पर भी किसीके वेदत्व में आँच नहीं आती। ब्राह्मण को 'मन्त्रभिन्न' कहना तो ठीक है, पर उसे 'आम्नायभिन्न' कहना जड़ नास्तिकों का ही काम है। कात्यायन ने ब्राह्मण को वेद कहा है, अतः उनके सूत्रों से ब्राह्मण का अवेदत्व सिद्ध करना उपहासास्पद है। कात्यायन ने मन्त्र-ब्राह्मण में स्वरभेद ही कहा है।

Scanned by CamScanner

कुछ समाजी कहते हैं कि "सायण ने 'ब्रह्मणस्पते' में ब्रह्म-शब्द का अर्थ मन्त्र किया है। किन्तु अथर्व के 'ब्रह्मणस्पति' शब्द का सायण ने जो अर्थ किया है, वह सनातनी मत से प्रतिकूल नहीं है। सायण की बात माननी है, तो उनकी स्पष्ट बातों को मान लेना चाहिए। पीछे दिखलाया जा चुका है कि ब्राह्मणप्रधान वेद 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है। लक्षण से ब्रह्मशब्द का मन्त्र भी अर्थ है। ब्रह्म का ऋगादि वेदत्रयी या परब्रह्म अर्थ असंगत नहीं है। वेदशब्द का मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय अर्थ है, यह न भूलना चाहिए। इसी अभिप्राय से उव्वट, महीधर आदि वेद-शब्द का वेदत्रयी अर्थ करते हैं। प्रसङ्गवशात् 'ब्रह्म' का परब्रह्म अर्थ हो ही सकता है।

जहाँ 'ऋचः' आदि शब्दों से मन्त्रों का बोध हो गया है और वेद का प्रसंग है, वहाँ सुतरां ब्रह्मशब्द का श्रौती संज्ञा के अनुसार ब्राह्मण ही अर्थ है। जैसे 'मन्त्रं मे गोपाय' इत्यादि स्थलों में वेदत्रय के ग्रहण से ही चतुर्थ गृहीत है, वैसे ही "तमृचश्च" इस स्थल में भी तीन के ग्रहण से ही चतुर्थ का भी ग्रहण है। किसी समाजी ने कहा कि "वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य ने 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ कहीं 'ब्राह्मण' किया हो, तो दिखलायें।" परन्तु सायणाचार्य का अर्थ दिखला देने पर भी वे मानेंगे तो हैं नहीं। यदि ऐसा ही है, तो उन्होंने ब्राह्मण को वेद माना ही है, वही मान लेना चाहिए।

कुछ समाजी कहते हैं कि "ब्रह्मशब्द का अर्थ अथर्ववेद

होता है, यह सनातनियों को भी स्वीकार ही है।" किन्तु सनातनी 'ब्रह्मवेद' शब्द का 'अथर्ववेद' मानते हैं, न कि 'ब्रह्म' का।

कहा जाता है कि 'भागवत और श्रीधरी में ब्रह्मशब्द का अर्थ गायत्री किया है।' किन्तु समाजियों का भागवत और श्रीधरी के पीछे भटकना बेकार है। जैसे यहाँ 'ब्रह्म' का मन्त्रसामान्य अर्थ होते हुए भी गायत्री अर्थ हो सकता है, वैसे ही सनातनियों के यहाँ भी ब्रह्मशब्द का ब्राह्मणप्रधान वेद अर्थ होते हुए भी यहाँ ब्रह्मशब्द का गायत्री अर्थ हो ही सकता है।

कुछ समाजी कहते हैं कि 'कुल्लूक भट्ट का ब्रह्मशब्द का ब्राह्मण अर्थ असंगत है।' किन्तु उनका कुल्लूक भट्ट के सम्बन्ध में ऐसा कहना उपहासास्पद है। कुल्लूक भट्ट का अर्थ वेदसम्मत एवं मनुसम्मत है। मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण, नन्दन रामचन्द्र आदि टीकाकारों ने उन्हीं का अर्थ माना है, यह बात पीछे लिखी जा चुकी है। अन्य अर्थ में पुनरुक्तिदोष और परम्पराबाध भी होगा। परम्परा से ब्रह्मयज्ञ में ब्राह्मणों का पाठ भी प्रचलित है। 'अनापदि' विशेषण भी कुल्लूक भट्ट के पक्ष में है।

श्री मण्डन मिश्र ने जो "मन्त्रेतरो ब्राह्मणशब्दवाच्यः" कहा है, उसमें जैमिनि के "शेषे ब्राह्मणशब्दः' के भाव का ही प्रतिफलन है। श्री मण्डन मिश्र पूर्णरूप से शबरमुनि के अनुयायी हैं। वे ब्राह्मणों को अवेद नहीं कह सकते। उनके किसी शब्द से समाजियों को भ्रम हुआ, तो यह उनका ही दोष है।

Scanned by CamScanner

यह स्थाणु का दोष नहीं कि अन्धा उसे नहीं देख पाता। उन्होंने 'मन्त्र' और 'वेद' को कभी भी पर्यायवाची नहीं कहा है। फिर भी मण्डन मिश्र की बातों से समाजियों को संतोष होता हो, तो भी उनका कल्याण ही होगा। वे श्रद्धा से अध्ययन करें, तो निश्चय ही ब्राह्मण का वेदत्व समझ में आ जायगा।

समाजी कहते हैं कि 'यदि ब्राह्मण वेद होता, तो जिस प्रकार जैमिनि ने ऋक् आदि का लक्षण किया है, वैसे ही ब्राह्मण का भी लक्षण करते।' इसपर कहना है कि उन्होंने ब्राह्मण का लक्षण किया है, परन्तु आग्रह का जोर इतना है कि समाजी उसे भूल जाते हैं। 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' यह जैमिनि का सूत्र है या नहीं और यह ब्राह्मण का लक्षण है या नहीं? जब "शेषे यजुःशब्दः" (जिसे समाजी भी यजुः का लक्षण मानते हैं) यजु का लक्षण हो सकता है, तब 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' ब्राह्मण का लक्षण क्यों नहीं हो सकता?

कुछ समाजी श्रीमंडन मिश्र की 'ऋग्वेदचोदितान्युच्चैः' इस पंक्ति को अपने प्रयोजन से उद्धृत तो कर देते हैं, पर उसमें निहित आत्मनाश के बीज को नहीं देखते। क्या समाजियों ने कहीं ऋक् के मन्त्रों में चोदना देखी है? समाजी ने पीछे 'चोदना' को ब्राह्मण माना है और मन्त्र को उससे प्रबल कहा है, यह दिखलाया जा चुका है। फिर यहाँ उसने मन्त्रों से चोदना को कहाँ से निकाल लिया? वस्तुतः यहाँ ऋग्वेद का अर्थ मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय है। तभी उसमें चोदना मिलेगी। तभी उससे चोदित कर्मों का उच्चैस्त्व

धर्म से अनुष्ठान करना चाहिए, यह सिद्ध होगा। इस सूत्र के भाष्य को पढ़ें, तो स्पष्ट मालूम होगा कि "उच्चैर्ऋचा" इस उपसंहारस्थ ऋक् आदि शब्दों का उपक्रमस्थ ऋग्वेद आदि शब्दों के अनुसार लक्षणा से ऋग्वेद अर्थ लिया जाता है। ब्राह्मण को बिना वेद माने कर्म ऋग्वेद से चोदित सिद्ध नहीं होंगे। सुतरां ब्राह्मणों के उच्चैस्त्व, उपांशुत्व आदि धर्म माने ही गये हैं। इस तरह उक्त वचन, जिससे समाजी अपना अभिप्राय सिद्ध करना चाहते थे, उनका विघातक ही हो गया।

कृष्ण-यजुर्वेद के सम्बन्ध में किसी समाजी ने भागवत की आख्यायिका उठायी है और उससे दुरभिसंधिपूर्ण भाव निकालने की चेष्टा की है। किन्तु यह बात तो इस आख्यायिका से भी स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य ने अनादि-अविच्छिन्न आचार्य-परंपरा से जिस वेद का अध्ययन किया था, उसीका उद्गिरण किया और उसीको तित्तिर होकर ऋषियों ने ग्रहण किया। इस तरह इसके वेदत्व में तो सन्देह की बात ही नहीं रहती। रह गया मालिन्य, कृष्णत्वादि का कथन। वह तो शुक्ल की प्रशंसा का अर्थवाद है। "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुम्" यह प्रसिद्ध ही बात है। शुक्लयजुः के चालीसवें अध्याय में विद्या-अविद्या दोनों की निन्दा है—

"अन्धं तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥"

क्या इतने से शास्त्रविहित विद्या (उपासना) और अविद्या (कर्म)

Scanned by CamScanner

दोनों त्याज्य हो गयीं ? संभूति और असंभूति के लिए भी यही बात लागू है। कोई ऐसी मूर्खता करेगा, तो सम्पूर्ण वेद ही त्याज्य हो जायँगे।

जिस भागवत की आख्यायिका समाजी महाशय ने उठायी है, उसी आख्यायिका ने तैत्तिरीय शाखा को 'सुपेशला' कहा है और उन्हें 'यजुर्गण' भी बतलाया है—

"देवरातसुतः सोऽपि छर्दित्वा यजुषां गणम् ॥
यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाऽऽददुः।
तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन् सुपेशलाः ॥"

—(भाग० १२। ६। ६४-६५)।

'चरणव्यूहवृत्ति' में उद्धृत विष्णुपुराण के वचन से स्पष्ट है कि सभी वेद पहले मन्त्रब्राह्मण रूप से मिश्रित थे। बुद्धिह्रास देखकर अनुष्ठान-सौविध्य के लिए व्यासदेव ने दोनों का विभाजन किया। इसीलिए मिश्रितत्व कृष्णत्व और अमिश्रितत्व शुक्लत्व, यह व्यवस्था है—

"आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसम्मितः।
ततो दशगुणः कृत्स्नो यज्ञोऽयं सर्वकामधुक् ॥
अत्रैव मत्सुतो व्यासोऽष्टाविंशतिमेऽन्तरे।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः ॥"

शौनक-महर्षिप्रणीत चरणव्यूह-परिशिष्ट के प्रथमखण्ड में इसका अर्थ भी लिखा है। 'शतसाहस्रसंमित' का अर्थ है,

Scanned by CamScanner

अनन्तसंख्याक—"दशदश तच्छतं दशशतानि, तत्साहस्रं तत्सर्वम् 'अनन्ता वै वेदाः' इति श्रुतेः।" इसीसे विविध यज्ञ प्रवृत्त हुए।

पीछे 'अनन्ता वै वेदाः' और उसकी तैत्तिरीय ब्राह्मणोक्त आख्यायिका दिखलायी जा चुकी है। सब वेद अनन्त हैं। मनुष्यग्राह्य वेद में भी सामवेद की सहस्रशाखा, ऋग्वेद की २१, यजुः की १९ और अथर्व की ५० शाखाएँ थीं—यह भी कहा ही जा चुका है। 'मुक्तिकोपनिषद्' में भी यह बात स्पष्ट की गयी है—

"ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।
तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा॥
ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज॥
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे॥"

महाभाष्य का भी उद्धरण दिया ही जा चुका है, जिसमें उन्होंने कण्ठ-रव से कहा है कि वेद बहुत प्रकार के भेदों से भिन्न हैं।

समाजियों का कहना है कि 'व्यासजी के समय शाखाएँ बनीं।' पर क्या इन्हीं कथाओं के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि माध्यन्दिनी शाखा को, जिसे कि आप यजुर्वेद कहते हैं, याज्ञवल्क्य ने बनाया? यदि कहें कि 'याज्ञवल्क्य ने सूर्य से प्राप्त किया और यह शाखा सूर्य के पास पहले से थी', तो प्रश्न है कि क्या आप सूर्य को चेतन देवता मानते हैं?

Scanned by CamScanner

यदि नहीं, तो याज्ञवल्क्य ने सूर्य से उसे कैसे प्राप्त किया ? यदि यह सब गप है, तो कृष्णयजुर्वेद के सम्बन्ध में समाजी की कही कहानी भी गप है ।

सच बात यह है कि शाखाएँ अनादि हैं। भागवत आदि में कहीं नहीं लिखा कि शाखाएँ बनीं। वहाँ तो केवल विभाजन बतलाया गया है। जैसे मानवों की विभिन्न शाखाएँ मानव ही हैं, ब्राह्मण-जाति की विभिन्न शाखाएँ ब्राह्मण ही हैं, वैसे ही वेदों की विभिन्न शाखाएँ वेद ही हैं। विभाग विद्यमान का ही होता है। भागवत में स्पष्ट कहा है—"वेदो नारायणः साक्षात्। वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः।" जिसे आप ऋग्वेद कहते हैं, वह है शाकली शाखा। जिसे आप सामवेद कहते हैं, वह है कौथुमी शाखा। जिसे आप अथर्ववेद कहते हैं, वह है शौनकीय शाखा और जिसे आप यजुर्वेद कहते हैं, वह है माध्यन्दिनी शाखा। ये सभी अन्य शाखाओं की तरह शाखाएँ ही हैं। आप जिसे अथर्ववेद कहते हैं, वह महाभाष्यादि से विरुद्ध है। आप लोगों की मान्यता के अनुसार महाभाष्यकार ने चारों वेदों के आदिम मन्त्रों को उद्धृत किया है। ऋग्वेद का 'अग्निमीळे', यजु का 'इषे त्वा', साम का 'अग्न आयाहि' और अथर्व का 'शन्नो देवी'। इनमें अथर्व का यह पाठ पिप्पलाद-शाखा का है, जिसे आप वेद ही नहीं मानते।

किसी समाजी ने लिखा है कि "कृष्णयजुर्वेद को वमन-तुल्य कहा गया है, क्योंकि वेद में छन्दोबद्धता आवश्यक है

Scanned by CamScanner

और वह उसमें नहीं है। अतः कृष्णयजुर्वेद के बल पर उक्त परिभाषा को प्रामाणिकता नहीं दी जा सकती, क्योंकि उसका आधार ही भ्रष्ट है, गन्दा है।" यह कौन कहता है कि कृष्णयजुर्वेद के बल पर ही मन्त्र-ब्राह्मण को वेद कहा जाता है। वस्तुतः सम्प्रदायाविच्छेदसहित अस्मर्यमाणकर्तृकत्व के बल पर ही मन्त्र का वेदत्व है। उसीके बल पर ब्राह्मण का भी वेदत्व है। इसीका निर्देश कात्यायन, आपस्तम्ब आदि ने किया है।

समाजी ने गद्यरूप होने से भी कृष्णयजुर्वेद के वेदत्व पर आपत्ति उठायी है। किन्तु क्या शुक्लयजुर्वेद में गद्यरूपता नहीं है? 'शेषे यजुःशब्दः' से यह कहा ही गया है कि ऋक्, साम से अवशिष्ट मन्त्र ही यजुः हैं। पादव्यवस्था ऋक्, साम में ही मान्य है। फिर यजुः में तद्भिन्नता—गद्यरूपता हो, तो क्या हानि है? यदि गायत्री आदि छन्दों की बात कहें, तो वे छन्द कृष्णयजुर्वेद में भी हैं ही। ये छन्द तो तान्त्रिक मन्त्रों में भी चलते हैं, परन्तु क्या इतने से ही वे वेद हो जायँगे। अतः गद्यरूपता की बात उठाना अनभिज्ञता है। कृष्णयजुर्वेद को केवल वैदिकसंस्कारशून्य ही अवेद कहने का साहस कर सकते हैं।

समाजी जिन सायण और शबर की बातों का बार-बार उद्धरण देते हैं, जिन वार्तिककार कुमारिल की धाक दार्शनिक-जगत् में सर्वमान्य है, आज भी वे जिन मण्डन मिश्र की शरण लेते हैं, वे सभी कृष्णयजुर्वेद को सनातन वेद मानते हैं। शाबरभाष्य के अधिकांश उदाहरण कृष्णयजुर्वेद के ही हैं। सायण का तो उसपर भाष्य ही है। समाजी के यहाँ तो

Scanned by CamScanner

किसी प्रकार का वेद का कोई सम्प्रदाय ही नहीं है। किन्तु दक्षिण में, जहाँ वेद-सम्प्रदाय अविच्छिन्न रूप से प्रचलित है, कृष्णयजुर्वेद का अविच्छिन्न पारम्पर्य है। निन्दा, अर्थवाद तो सर्वत्र ही होते हैं। दिखाया ही जा चुका है कि वेद में अविद्या और विद्या की भी निन्दा है, किन्तु उसका समुच्चय-विधान में ही तात्पर्य है, निन्दा में नहीं। जो मूर्ख सूर्य पर थूकता है, उससे उसीका मुँह दूषित होता है, सूर्य का नहीं। "नास्तिको वेद-निन्दकः" यह मनु का उद्घोष है।

आज के समाजी मीमांसकों को 'मांसल-मति' और याज्ञिकों को 'श्रद्धाजड़' कहकर अपनी नास्तिकता और भी स्पष्ट कर देते हैं। कहते हैं कि 'इस प्रकार बिगाड़ा पवित्र वेद को—यज्ञ करनेवालों ने और इन कटीली कूटाभरी झाड़ियों से वेद को निकाला—ऋषि दयानन्द ने।' वेद की ११३१ संहिताएँ और ११३१ ही ब्राह्मण होते हैं। आर्यसमाज ने इनमें से ११३१ ब्राह्मणों और ११२७ संहिताओं को वेद के शरीर से काट-छाँटकर किनारे लगा दिया। बची चार शाखाओं को वेद मानकर भी वह वेद नहीं मानता, क्योंकि उनके परम्पराप्राप्त अर्थ की हत्या-कर उसके स्थान पर अपने मन से कल्पित अर्थ की प्रतिष्ठा करता है। इसके बाद भी ताल ठोक कर कहता है कि इनको "कटीली कूड़ाभरी झाड़ियों से निकाला दयानन्द ने', कैसी अद्भुत बात है! बेचारे वेद के अङ्ग-अङ्ग को काटकर लुंज-पुंज कर देना और बचे दो-चार अङ्गों के भी प्राणों का अपहरण कर लेना और इसपर भी चिल्लाना कि वेद के सच्चे पक्षपाती हम

Scanned by CamScanner

ही हैं', क्या यह कम आश्चर्य की बात है ? दुनिया के इतिहास में हत्याकाण्ड की यह अनोखी और पहली घटना है !

आर्यसमाज द्वारा मानी हुई वेद-पुस्तकों में भी हजारों बार यज्ञ, अध्वर, अध्वर्यु, होता, उद्गाता, यजमान आदि शब्द आते हैं। ब्राह्मण ही उनका ठीक-ठीक अर्थ प्रस्तुत करता है, क्योंकि सभी यज्ञों का विधान ब्राह्मणभाग में है। ब्राह्मणभाग को व्याख्यानरूप में भी मान्यता प्रदान करने पर समाजियों को इन शब्दों का अर्थ ब्राह्मणानुसारी ही मानना चाहिए या नहीं ? फिर वे यज्ञ एवं यज्ञ करनेवालों की निन्दा क्यों करते हैं ?

'जैमिनीय-न्यायमाला' (अध्याय ५, पाद १, अधिकरण ६) में मन्त्रपाठ का ब्राह्मणपाठ से बलीयस्त्व बतलाया गया है। इसमें हेतु दिया गया है—'मन्त्राणां स्मारकत्वतः।' प्रभुरूप विधि ने मन्त्र को जिस कर्म में विनियुक्त किया, उस कर्म और देवता का स्मरण कराना मन्त्र के लिए आवश्यक हो जाता है। अपने इस कार्य को भी मन्त्र न करे, तो वह व्यर्थ हो जायगा। प्रभु का कर्तव्य आदेश देना है। नियोज्य का कर्म उसकी आज्ञा के अनुसार उस कर्म को कर डालना है। प्रभु नियोज्य के उस कर्म में दखल नहीं देता। इसी तरह मन्त्र भी जब विधि के आदेश से स्मरण कराता है, तो विधि उसका बाध नहीं करती। वह तो विधान कर चरितार्थ बनी रहती है—यदि अनुष्ठान-स्मरण मात्र के लिए उत्पन्न मन्त्र को भी विधि बाध ले, तो मन्त्र निरवकाश हो जायँ—'ब्राह्मणन्तु अप्राप्तपदार्थविधिना चरितार्थम्।

Scanned by CamScanner

अतोऽनुष्ठानस्मरणायैवोत्पन्नान् मन्त्रान् बाधितुं नालम् ।" इन पंक्तियों से ब्राह्मण की प्रभुता अक्षुण्ण है ।

श्रुतियों में परस्पर विरोध होने पर तत्पर वचन से अतत्पर वचन का बाध होता है । जैसे "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-याजिनः सुकृतं भवति' इस श्रुति का "तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" इस श्रुति से बाध होता है । "अपाम सोमममृता अभूम" इस मन्त्र का भी "तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" इस ब्राह्मणवाक्य से बाध होता है । तब कहीं ब्राह्मण-क्रम से मन्त्र-क्रम को प्रबल मान लिया जाय, तो ब्राह्मण की वेदता और प्रभुता पर कोई आँच नहीं आती ।

किसी समाजी ने लिखा है कि "कात्यायन ने श्रौतसूत्र के परिभाषा-प्रकरणमें "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" न लिखकर प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में जो लिखा है, वही इस बात का द्योतक है कि यह सूत्र कात्यायन को इष्ट न था ।" किन्तु यह कहना असंगत है । किसी भी परिशिष्ट के सम्बन्ध में ऐसी ही बे-सिरपैर की बात उठायी जा सकती है । कहा जा सकता है कि यदि ग्रन्थकार को अभीष्ट होता, तो मूल ग्रन्थ में ही इसे क्यों नहीं लिखा—परिशिष्ट में ही क्यों लिखा ! आर्यसमाज को न तो मूल मानना है, न परिशिष्ट । किन्तु आस्तिक जन जैसे मूल मानते हैं, वैसे ही परिशिष्ट । अतः आस्तिक जन के हितकी दृष्टि से कात्यायन ने वैसा किया है ।

रह गयी संस्करण की बात । कात्यायन के अनेक परिशिष्ट

Scanned by CamScanner

हैं और वे सभी मान्य हैं। जिसमें वह सूत्र है, वह भी मान्य है। प्रक्षेप का बहाना बनाकर सत्य की हत्या करना अत्यन्त अनुचित है। इस साधन से तो कोई ऐसे आर्यसमाजी सज्जन को ही ईश्वर की सृष्टि में प्रक्षिप्त मनुष्य मान लेगा? भला इस धींगा-धींगी से कोई सत्य से दूर होगा या उसको ग्रहण करेगा?

एक समाजी ने इस सूत्र के प्रक्षेप में पण्डित विद्याधरजी की मान्यता को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया था। किन्तु जब सिद्ध कर दिया गया कि पण्डितजी की मान्यता से यह सूत्र प्रामाणिक है, प्रक्षिप्त नहीं, तब उसने कहा कि 'यह पारिभाषिक वस्तु है। परिभाषा-प्रकरणमें पढ़ी गयी है और केवल कृष्णयजुर्वेद के लिए इसकी सार्थकता है। क्योंकि कृष्णयजुर्वेदसम्बन्धी आपस्तम्ब आदि सूत्रों में ही मन्त्र-ब्राह्मण को वेद बतानेवाली परिभाषा मिलती है।' जब इन दोनों बातों के खण्डन में भी वचन उपस्थित किये गये—ऐसे वचन रखे गये, जो परिभाषा-प्रकरण में नहीं पढ़े हुए हैं। ऋग्वेदसम्बन्धी सूत्र भी प्रस्तुत किये गये, कात्यायनसूत्र तो प्रस्तुत था ही—तब फिर वह प्रक्षेप की बात पर आ गया और कहने लगा कि परिभाषा-प्रकरण से बाहर इस सूत्र का लिखना इसे प्रक्षिप्त बतलाता है। सचाई के मानने का कैसा सुन्दर नमूना है! परिभाषा-प्रकरण में होने पर बेचारा सूत्र पारिभाषिक करार कर दिया जाय और भिन्न-प्रकरण में दिखलाने पर प्रक्षिप्त!

वस्तुतः मन्त्र-ब्राह्मण को वेद बतलानेवाले वचन कृष्ण-यजुर्वेदसम्बन्धी सूत्रों से भिन्न ऋग्वेदादिसम्बन्धी सूत्रों में

मिल जानेपर तो उनके अनुसार मन्त्र-ब्राह्मणों का वेदत्व मान लेना चाहिए। आर्षग्रन्थों को प्रमाण मानकर उन्हींके वचनों को इस तरह ठुकराना क्या मनुष्यता का काम है? कात्यायन, आश्वलायन, पारस्कर, बौधायन, आपस्तंब, मनु, गोभिल जैमिनि, व्यास, शबर, कुमारिल, शंकर, मंडन, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क, गौतम, कणाद, वात्स्यायन, पाणिनि, पतञ्जलि आदि एकस्वर से मन्त्र-ब्राह्मण को वेद कह रहे हैं। कुछ समाजी यदि व्यामोह या स्वार्थवश उन सबको प्रक्षिप्त या अप्रमाण कहें, तो अन्य कोई कहेगा कि श्रीदयानन्दजी के ग्रन्थों में भी ब्राह्मणसम्बन्धी अनर्गल प्रलाप प्रक्षिप्त ही हैं। इसी तरह श्राद्ध आदि सनातनधर्म-विरोधी सारी मान्यताएँ प्रक्षिप्त हैं।

किसी एक टीकाकार के उल्लेख न करने से ऋग्वेद की परम्पराप्राप्त अनुक्रमणी को आधुनिक कहना निराधार है। यह सिर्फ न समझने का दुराग्रह है। समाजी ब्राह्मण के वेद न होने में आख्यायिकाओं तथा कालसम्बन्धसूचक ब्राह्मणवाक्यों की लम्बी सूची उपस्थित करते हैं। परन्तु सबका एक ही समाधान है कि 'सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' होने से मन्त्र-भाग की तरह शतपथ आदि ब्राह्मण भी वेद ही हैं। उनमें अर्थवाद आदि रूप से अनेक आख्यायिकाओं तथा व्यक्तियों का नामोल्लेख हानिकर नहीं है। मीमांसा के अनुसार इन सब बातों का समाधान हो चुका है। अपत्यप्रत्ययान्त शब्द केवल ब्राह्मण में ही नहीं मिलता, वह तो मन्त्रों में भी मिलता है।

Scanned by CamScanner

प्राह्लादि विरोचन, वैवस्वत मनु, वैन्य पृथी आदि का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है। स्थाली-पुलाक न्याय से ये दो-तीन उदाहरण पर्याप्त हैं।

मीमांसा के अनुसार वैदिक शब्दों का अर्थ अनित्य व्यक्ति न होकर जाति 'होता है। जाति नित्य होती है। इस तरह इन शब्दों का हिरण्य या हिरण्यगर्भ व्यक्ति अर्थ नहीं है। किन्तु तत्तत्कल्पीय हिरण्यों या हिरण्यगर्भों में रहनेवाली हिरण्यत्व या हिरण्यगर्भत्वरूप जाति ही हिरण्य या हिरण्यगर्भ शब्द का अर्थ मान्य है। इससे वेद में आये हुए किसी व्यक्ति के आधुनिक होने से वेद के आधुनिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्", "वेदशब्देभ्य एवादौ", "पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" (मनु० १ । २१) इत्यादि प्रमाणों से शब्दपूर्विका सृष्टि होती है। वैदिक शब्द घटनापूर्वक नहीं होते, अपितु घटनाएँ ही वैदिकशब्दपूर्वक होती हैं, यह सब पीछे कहा ही जा चुका है।

कई विशिष्ट नाम स्थान-विशेष के वाचक होते हैं। जो इन्द्र-पद पर आयेगा, वही इन्द्र होगा। जो वशिष्ठ पद पर आयेगा, वहीं वशिष्ठ होगा। जो आख्यायिकाएँ सुखावबोधार्थ होती हैं, उनमें आये नामों के आधार पर भी वेद में आधुनिकता का आरोप नहीं किया जा सकता।

'अधुना', 'पुरा,' 'समवर्तत' आदि शब्द भी वेद की आधुनिकता नहीं सिद्ध कर सकते। जो वाक्य किसीसे विरचित होते हैं; उनके तो उच्चारण के समकाल को वर्तमान एवं उससे

Scanned by CamScanner

पूर्व को भूत कहा जाता है। परन्तु मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेद का कोई प्रथम उच्चारण है ही नहीं। प्रथमोच्चरितत्व ही पौरुषेयत्व है। वही 'प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्व' तथा वही 'पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्षोच्चरितत्व' भी है। "तुल्यञ्च साम्प्रदायिकम्" सूत्र के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण अनादि सम्प्रदाय-परम्परा से स्वाध्यायाध्ययन-विधि से परिगृहीत हैं। कालिदासादि के वाक्यों के समान उनमें प्रथमोच्चरितत्व नहीं है। जब भी उनका उच्चारण हुआ है, पूर्वानुपूर्वीसव्यपेक्ष ही हुआ है। अतएव 'प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्व' इनमें नहीं है। अतः यदि मन्त्र या ब्राह्मण कभी प्रथमोच्चरित होते, तो उच्चारण से पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति का बोध होने से इनकी नवीनता सिद्ध होती। पर ईश्वर भी पूर्वकल्पीय वेदानुपूर्वी का ही उपदेश करता है। उसका भी कोई उच्चारण प्रथम नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रथमोच्चारण के दिन से पूर्व हिरण्यगर्भादि की उत्पत्ति हुई, यह बोध ऐसे वाक्यों से कभी नहीं होता।

वस्तुतस्तु लोक में भी तत्तत्कालों की विवक्षा से ही लकारों का प्रयोग होता है। लकारों के प्रयोग में तत्तत् कालों का वास्तविक होना आवश्यक नहीं। इस सम्बन्ध में पिछले प्रकरण में विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है।

कहा जा सकता है 'भूतार्थवाद के प्रसंग में तो अर्थवादों को भूत अर्थ मानना ही पड़ेगा।' परन्तु यह ठीक नहीं, भूतार्थवाद शब्द में 'भूत' शब्द भूतकाल का वाची नहीं है। अपितु डित्थ आदि शब्दों के समान गुणवाद और अनुवाद से

Scanned by CamScanner

भिन्न तृतीय ढंग के अर्थवादों की संज्ञा का ही बोधक है। यह बात "विरोधे गुणवादः स्यात्" इस वार्तिक में स्पष्ट है।

प्रातिशाख्य के "लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात्" इस वाक्य के अनुसार लौकिक वाक्यों का प्रयोग अर्थपूर्वक ही होता है। अर्थात् प्रयोक्ता लोग प्रतिपिपादयिषित अर्थ का उपलम्भ एवं अनुसन्धान करते हुए ही लौकिक वाक्यों का प्रयोग करते हैं। किन्तु नित्यवाक्यों का अर्थपूर्वक प्रयोग नहीं होता, क्योंकि वैदिकवाक्यार्थ सृष्टि, प्रलयादि अनित्य ही हैं। अतः वस्तु-सद्भावनैरपेक्ष्येण लोकवृत्तबोधक वेदवाक्यों से काल का बोध नहीं होता। 'छन्दसि लिट्' (३।२।१०५) से जो 'अहं द्यावा-पृथिवी आततान' इत्यादि स्थलों में भूतसामान्य में लिट् होता होता है, वहाँ भी उक्त कात्यायन-वचन के अनुरोध से प्रथमो-च्चारणापेक्षया पूर्वकालत्वरूप भूतत्व अर्थ ग्राह्य नहीं है। वहाँ भूत का अर्थ पूर्वकालमात्र है। पूर्वत्व भी भावि वस्त्वनन्तर कार्य की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। जैसे वायु कार्य की अपेक्षा आकाश पूर्व है। अग्निकार्य की अपेक्षा वायुकार्य पूर्व है। पाश्चात्य विद्वानों को गुरुपरंपरामात्र से प्राप्य इस दुरव-बोध अर्थ का पता न था। यह तत्त्व उन लोगों की बुद्धि से परे था। अतः उन्होंने भूतकाल आदि का जो लोकसाधारण अर्थ किया, वह क्षम्य हो सकता है। किन्तु भारतीय जन इन तत्त्वों को गुरुपरम्परा से जान सकते और सरलता से समझ सकते हैं। फिर भी जानने का प्रयास न कर पाश्चात्यों की हाँ-में-हाँ मिलाते हैं, तो बुरा करते हैं।

Scanned by CamScanner

"श्रुतिसामान्यमात्रम्" सूत्र का तात्पर्य तो वही है, जो शाबर-भाष्य में स्पष्ट है। श्रद्धा-विश्वास के साथ पढ़ने से उसका तात्पर्य समझ में आ सकता है। सूत्र में आलङ्कारिकत्व के चिह्न के कारण ऐसे अर्थ का आलम्बन नहीं किया गया है। किन्तु वेद की अपौरुषेयता एवं नित्यता के आधार पर ही नित्य अर्थ करने का प्रयत्न किया गया है। वैदिक शब्दों का अनित्य व्यक्ति अर्थ नहीं है। कहीं केवल सुखबोधार्थ काल्पनिक आख्यायिका होती है, कहीं नित्य जाति, कहीं नित्य स्थान या पद मान लिया जाता है, तो कहीं भौतिक या याज्ञिक प्रवाहरूप से नित्यत्वेन व्यवहृत पदार्थ माने जाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि ग्रन्थ का सब जगह विवरण कर ही दिया जाय। पहले उदाहृत यम-यमी, उर्वशी-पुरुरवा, शुनःशेप आदि के आख्यानों में आलङ्कारिक अर्थ का वर्णन नहीं है। फिर वहाँ समाजी आलङ्कारिक अर्थ कैसे कर सकते हैं? "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" के अनुसार या तो लोकप्रसिद्ध अर्थ लिया जाय या मन्त्रों का बतलाया हुआ अर्थ। यह मन-मानी करने की छूट नहीं है कि जहाँ चाहे आलङ्कारिक अर्थ कर लें, जहाँ चाहे शाब्दिक अर्थ।

ब्राह्मण के 'नात्र तिरोहितमिव' इस कथन से भी इसे व्याख्यान नहीं कहा जा सकता। यह बात कही जा चुकी है कि ब्राह्मण-विहित अर्थ का मन्त्र प्रकाशन करते हैं। ब्राह्मण पूर्वभावी हैं, अतः वे ही विधायक हैं। मन्त्र पश्चाद्भावी हैं, अतएव अनुवादक होते हैं। जिस तरह ब्राह्मण व्रीहि, यव आदि का विधानकर प्रोक्षण, अवहनन आदि से उनका संस्कार करते और इस तरह

Scanned by CamScanner

उन्हें यज्ञोपयोगी बनाते हैं, उसी तरह वे यज्ञों में मन्त्रों के पाठ का विधान कर उन्हें यज्ञोपयोगी बनाने के लिए उनका विवरणरूप संस्कार करते हैं। जैसे ब्राह्मण कर्मों और व्रीहि, यवादि के व्याख्यान नहीं हैं, वैसे ही मन्त्रों के भी व्याख्यान नहीं हैं। यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही नित्य हैं, तथापि जैसे अनुभव और स्मृति में पौर्वापर्य होता है, वैसे ही ब्राह्मण और मन्त्र में भी पौर्वापर्य मान्य है। व्रीहि आदि व्यक्तियाँ भले ही अनित्य हों, पर व्रीहित्वादि जातियाँ नित्य हैं। उन्हींको लेकर नित्य वेद में यज्ञादि-उपयोगी व्रीहि आदि का विधान होता है। इसी तरह मन्त्रोच्चारक व्यक्तियों के अनित्य होने पर भी प्रवाहरूप से प्रचलित मन्त्रों एवं उनके संस्कारों में नित्यता हो सकती है। अतः यहाँ न तो व्याख्यान-व्याख्येयभाव है और न व्याख्यानत्व-व्याख्येयत्व वेदत्वावेदत्व का प्रयोजक है। आर्यसमाजियों के शब्दों में जैसे कर्म व्याख्येय होने पर भी वेद नहीं हैं, उसी तरह मन्त्र व्याख्येय होने पर वेद न रहेंगे।

किसी समाजी ने लिखा कि 'शतपथ का विषय पौर्णमास से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ है।' फिर लिखा 'सामुदायिक स्वार्थसिद्धि के लिए जो कर्म करना है, वह यज्ञ है।' फिर शतपथ के अर्थवाद की कथा लिख डाली। परन्तु यह उनका दोष नहीं, उनके संस्कारों का दोष है। वे संस्कार इतने गहरे पड़े हैं कि उन्हें पूर्वापर के विरोध का भी ध्यान नहीं रहता। जब वे शतपथ को माध्यन्दिनी यजुःसंहिता का भाष्य मान रहे हैं, तब मूल से पृथक् भाष्य का क्या प्रतिपाद्य हो सकता है?

Scanned by CamScanner

ऐसे लोग जिस सामुदायिक स्वार्थ की सिद्धि को तथा श्रेष्ठतम कर्म को यज्ञ मानते हैं, उसीका क्या शतपथ के चौदहों काण्डों में प्रतिपादन है ? यदि ऐसा है, तो वह दो तीन पत्रों में ही लिखा जा सकता था। उसके लिए हजारों पृष्ठ शतपथ की क्या आवश्यकता थी ? फिर जब यही बात थी, तब तो किस काण्ड का कौन सामुदायिक स्वार्थसाधन प्रतिपाद्य है, उसीका निरूपण करना चाहिए था। फिर उसमें पहले काण्ड में पूर्णमास का, दूसरे में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रयण, दाक्षायण, वैश्वदेव, वरुणप्रघास, सर्वमेध, महाहवि, त्र्यम्बकेष्टि तथा शुनाशीरीय का, तृतीय-चतुर्थ में सोमयाग का, पंचम में वाजपेय तथा राजसूय का ६ठें से १०वें तक अग्निचयन का, ११वें में दर्शपूर्णमास का रहस्य, १२ वें में सौत्रामणि का, १३ वें अश्वमेध तथा १४ वें में ब्रह्मविद्यासम्बन्धी संवाद का उल्लेख क्यों किया गया ? क्या ये सभी यज्ञ ही सामुदायिक स्वार्थसिद्धि है ? यदि इन्हें सामुदायिक स्वार्थसिद्धि का रूपक मानें, तब भी साथ-साथ तत्तत् रूपकों के निष्कृष्ट अर्थ का मन्त्रों, ब्राह्मणों, श्रौतसूत्रों एवं मीमांसासूत्रों में निरूपण होना चाहिए था। यदि मन्त्रों और ब्राह्मणों में यज्ञ का प्रतिपादन है, तब तो 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' इस श्रुति का समाजियों द्वारा वर्णित अर्थ असंगत हो जायगा। फिर तो इसका यही अर्थ ठहरता है कि शतपथ में वर्णित सूत्रों द्वारा स्पष्टीकृत, याज्ञिकों द्वारा अनुष्ठित दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म हैं। यत्किञ्चित् श्रेष्ठकर्म यज्ञ नहीं हो सकते। यदि श्रेष्ठकर्म ही यज्ञ हो, तो उनका निर्णायक कौन होगा? यहाँ समाजी श्रेष्ठ परोपकारादि कर्मों को ही यज्ञ कहते हैं।

Scanned by CamScanner

यदि अच्छे कर्म ही यज्ञ हैं और उनका प्रतिपादन ही शतपथ का विषय है, वही मन्त्रों का भी विषय है, तो वेद में विशेषता ही क्या रही? सभी अपने-अपने नैतिक-धार्मिक ग्रन्थों द्वारा अपनी दृष्टि से अच्छे कर्मों का प्रतिपादन करते ही हैं। फिर तो उन साधारण ग्रन्थों और वेद में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। यदि तर्क के बल पर ही अपने-अपने अभिमत कर्मों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना है, तो सभी ऐसा ही कह सकते है। फिर शपथ के अतिरिक्त आर्यसमाज के पास कौन-सा प्रमाण बचा रहता है? वस्तुतः वेदार्थ में अपना दिमागी फितूर भिड़ाना व्यर्थ है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का अपना विषय है—यज्ञादि कर्मों का विधान। मन्त्रों के पाठ का उसीमें उपयोग होता है। इस तरह मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेद के दोनों भागों द्वारा वैदिक कर्म सम्पन्न होते हैं।

देवताओं एवं असुरोंके संघर्ष एवं धरती बाँटने की बात आदि अर्थवाद है। उनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। यज्ञों से समष्टि, व्यष्टि सभीका कल्याण होता है। किन्तु यज्ञ एवं उनकी श्रेष्ठतम कर्मता शास्त्रैकगम्य है। तभी अज्ञातज्ञापक होने से वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य होता है। जो अपनी बुद्धि से श्रेष्ठ कर्म का निर्णयकर उसे यज्ञ बतलाना चाहते हैं, उनके यहाँ शास्त्र का प्रयोजन नगण्य है।

समाजी ऐतरेय ब्राह्मण के 'वशिष्ठ, बृहस्पति, इन्द्र' आदि नामों के आधारपर ब्राह्मणभाग की अवेदता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु वे यह बात भूल जाते हैं कि यदि शतपथ

Scanned by CamScanner

यजुःसंहिता का व्याख्यान है, तब ऐतरेय ब्राह्मण भी शाकली-संहिता का व्याख्यान है और तब उसका अर्थ भी संहितार्थ ही होगा। अतएव शाकली-संहिता के वशिष्ठ, बृहस्पति, इन्द्र आदि का जो अर्थ होगा, वही ऐतरेय के वशिष्ठ आदि का भी होगा। फिर मन्त्र ही वेद क्यों और ब्राह्मण वेद क्यों नहीं? वस्तुतः यहाँ भी वशिष्ठ आदि प्राड्विवाक (जज) आदि की तरह पद के नाम हैं या विभिन्न कल्पों में होनेवाले वशिष्ठादि व्यक्तियों में रहनेवाली वशिष्ठत्वादि जाति के वाचक हैं, जैसा कि पीछे विस्तार से बताया जा चुका है।

आधुनिक समाजी ने यह तो मान लिया कि निरुक्त में 'निगम' शब्द का प्रयोग मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लिए हुआ है। परन्तु उसका कारण यह बतलाया कि 'उस समय ब्राह्मण के वेद होने का प्रचार हो चुका था।' अर्थात् निरुक्तकार ने भी उसी मिथ्याप्रचार के भ्रम में पड़कर ऐसा लिखा है। जो-जो प्रामाणिक ग्रन्थ ब्राह्मण को वेद कहेगा, उसे ही समाजी भ्रान्ति-मूलक कहेंगे। मीमांसक भ्रान्त हैं; याज्ञिक भ्रान्त हैं; जैमिनि, व्यास, पाणिनि, पतञ्जलि, कणाद, गौतम, वात्स्यायन, कात्यायन, आपस्तम्ब, बौधायन सभी भ्रान्त हैं। केवल मुट्ठीभर समाजियों की सनक सही है—इसका इलाज ही क्या है?

आधुनिक समाजी ने यह भी कहा है कि 'वेदसम्बन्धी होने से ब्राह्मण को 'निगम' कहा गया है।' किन्तु यदि कोई यही कहे कि ब्राह्मण-नियोज्य होने से ही मन्त्र को 'निगम' कहा गया है, तो सिवा शपथ के उसके पास क्या उत्तर है?

Scanned by CamScanner

आधुनिक समाजी ने "विजुपे छन्दसि, "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" आदि का समाधान करने का प्रयत्न किया है और फिर वही ढुलमुल पंथ पकड़ा है। जहाँ ब्राह्मण के वेदत्व की प्रामाणिकता होने लगी, वहीं उलटा-पलटा कहना आरम्भ कर दिया। "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" सूत्र पर हठ पकड़ रहे थे कि छन्दशब्द का ब्राह्मण अर्थ नहीं होता। किन्तु 'विजुपे छन्दसि' सूत्र का प्रसंग आते ही चट बदल गये और मान लिया कि यहाँ पाणिनि को छन्दशब्द से ब्राह्मण का ग्रहण अभीष्ट है। साथ ही लिखा दिया कि 'पाणिनि ने परिस्थितिवश छन्दशब्द में ब्राह्मण को भी ले लिया है।' यही है सत्य, जो सिर पर चढ़कर बोलता है। पाणिनि ने ही नहीं, सभी आस्तिकों ने छन्दशब्द से मन्त्र ब्राह्मण दोनों का ही ग्रहण माना है। किन्तु जिद के सामने सब प्रमाण व्यर्थ हैं।

पहले आधुनिक समाजियों ने 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इस सूत्र के 'शेष' शब्द का 'अङ्ग' अर्थकर ब्राह्मणभाग को मन्त्र का अङ्ग बनाना चाहा था। परन्तु अन्त में 'बाकी बचा' अर्थ तो मान लिया, किन्तु 'व्याख्यानरूप' इतना और ऊपर से जोड़ दिया। उन्होंने 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' का अर्थ किया है—'बाकी बचा व्याख्यानरूप ब्राह्मण।' अद्भुत अर्थ है! यही अर्थ कोई आपके सिर पर पटक दे, तो आपके सिद्धान्त की क्या दुर्गति होगी—इसका भी कुछ ध्यान किया या यों ही जो मन में आया, लिख मारा? मान लीजिये, आपकी तरह ही कोई 'शेषे यजुःशब्दः' का 'बाकी बचा व्याख्यानरूप यजुःसंहिता' अर्थ करे और आप पर हावी

Scanned by CamScanner

हो जाय कि 'ऋक्-साम से बाकी बचा हुआ जो व्याख्यान है, वही यजुः है, यह कोई वेद नहीं', तब आप क्या उत्तर देंगे? विवश होकर रास्ता बदलना पड़ेगा और कहना पड़ेगा कि मन्त्र का शेष मन्त्र ही होता है। अतः यजुः भी संहिता ही है। तब वेद का शेष वेद ही होता है, यह आपको मानना पड़ा या नहीं?

आधुनिक समाजी ने शबरस्वामी, वात्स्यायन, कौषातकी-सूत्रकार, कौशिक-सूत्रकार आदि सभी लोगों को अन्धानुकरण करनेवाले बतलाया और अकेले श्रीस्वामी दयानन्द को निर्भ्रान्त तत्त्ववेत्ता कहा है। हद हो गयी! सृष्टि से लेकर आजतक के सभी ऋषि-मुनि, आचार्य-विद्वान् इसीलिए मूर्ख बतलाये गये कि उन्होंने श्रीस्वामी दयानन्दजी के स्वर में स्वर नहीं मिलाया!

आधुनिक समाजियों ने शाबरभाष्य, महाभाष्यादि का प्रामाण्य स्वीकार किया था। किन्तु जब 'मन्त्राः ब्राह्मणं च वेदः' आदि सुस्पष्ट वचन प्रस्तुत किये गये, तो उन्होंने शाबरभाष्यको ठुकरा दिया। श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र भी प्रस्तुत किये गये, तो उसपर आपने लिखा कि 'कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रकारों ने 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' माना है, अन्य वेदों के सूत्रकारों ने नहीं।' पुनः जब अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र आदि का निर्देश किया गया—'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' यह अत्यन्त स्पष्ट वचन प्रस्तुत किया गया, तो आप फिर मुकर गये और कहने लगे कि 'इन सूत्रकारों ने अन्धानुकरण किया है।

Scanned by CamScanner

यदि आप सत्य के पुजारी होते, तो साफ कह देते कि 'हाँ वेद के सभी सूत्रकारों ने ब्राह्मण को वेद माना है। मैं भ्रम में था कि कृष्णयजुर्वेद से भिन्न सूत्रों में ऐसा वचन नहीं मिलता। किन्तु आपने ऐसा नहीं किया, उल्टे उन्हें ही भला-बुरा कहने के लिए उतारू हो गये, जिन्हें आपने प्रमाणरूप में मान लिया था। जब यही सत्यप्रियता है, तो सत्य की हत्या और क्या कही जायगी ? मनु, व्यास, जैमिनि, गौतम, कणाद, पतञ्जलि आदि सभी तत्त्ववेत्ताओं को भ्रान्त, और परंपराशून्य, मनमाना अर्थ करनेवाले तथा श्री स्वामी दयानन्द को अभ्रान्त कहना कहाँतक उचित है ?

सच बात तो यह है कि श्रीस्वामी दयानन्दजी सुधारक नास्तिकों के प्रभाव में आकर उनके अनुकूल ऐसा धर्म बनाने लगे थे, जो उन उच्छृंखलों के स्वेच्छाचार में बाधक न हो। कुरान, बाइबिल की तरह कोई आधार-ग्रन्थ चाहिए, इसलिए उन्होंने चार संख्या के भ्रम में चार पुस्तकों को चार वेद मान लिया तथा वेदों का दृष्टार्थ-वर्णन कर दिया—वायु-शुद्धि के लिए होम करना, कफ दूर करने के लिए आचमन करना, अभ्यास के लिए मन्त्रपाठ करना आदि बतलाया। फिर वेद की विभिन्न शाखाओं द्वारा अपने कपोल-कल्पित धर्माभासों का खण्डन होते देखकर उन्हें अप्रमाण कह दिया। धर्मशास्त्रों, रामायण, महाभारत तथा पुराणों में प्रक्षेप एवं अप्रामाण्य की बात ठहरायी। श्रीस्वामीजी ने तो अन्य सूत्रों को देखा तक न था। यही कारण है कि उन्होंने कह दिया कि कात्यायन से भिन्न अन्य ऋषियों ने ब्राह्मण को वेद नहीं माना है। उन्हें

Scanned by CamScanner

"शेषे ब्राह्मणशब्दः" "तुल्यञ्च साम्प्रदायिकम्", "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" इत्यादि जैमिनिसूत्र या तो मालूम न थे या उनका अर्थ ही विदित न था। उन्हें पाणिनि, पतञ्जलि, गौतम, कणाद, वात्स्यायन के तत्त्वों का भी यथार्थ ज्ञान न था। कौमारिल और शाङ्कर मत का भी उन्होंने ग्रन्थचुम्बनभर किया था। किसी से अध्ययनकर उनका रहस्य नहीं समझा। शास्त्रों के सनातन सिद्धान्त उनके अभिभावक सुधारकों को पसंद न थे। अतः वेद के शब्दों को तोड़-मरोड़कर 'पतिमेकादशं कृधि' और 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं यत्' से नियोग आदि सिद्ध किये गये।

किन्तु जब सनातनी विद्वानों ने आपस्तम्ब आदि के सूत्र को दिखलाकर श्रीस्वामीजी के "कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्" की मखौल उड़ायी, तब आधुनिक समाजियों ने उनके द्वारा माने गये कात्यायनसूत्र को भी प्रक्षिप्त कहना प्रारम्भ कर दिया। आपस्तंब आदि को कृष्णयजुर्वेदीय कहकर 'ऋग्वेदीय, अथर्ववेदीय सूत्रकारों ने ऐसा नहीं कहा' यह रट लगाने लगे। आप लोगों को मालूम न था कि अन्य सूत्रों में भी ब्राह्मण को वेद कहनेवाले सूत्र होंगे। जब ऋग्वेदीय एवं अथर्ववेदीय सूत्रों को भी उपस्थित किया गया, तो वहाँसे बहाना बनाकर भाग निकले और कहने लगे कि 'इन सूत्रों का असर हमारे सिद्धान्त पर नहीं पड़ सकता।' यदि ऋषि, मुनि आदि सभी आप्तों के कहने का असर आप पर न पड़े, तो यह सिवा नास्तिकता के और क्या है? यदि इन सूत्रों को न मानें, तो आपके शिखा-

सूत्र भी किस बल पर टिकेंगे ? श्रीस्वामी दयानन्दजी की 'संस्कारविधि' का क्या आधार होगा ?

किसी आधुनिक समाजी ने लिखा है कि 'शाबरभाष्य को प्रमाण मानने पर भी हमारे सिद्धान्त की हानि नहीं है।' इससे उसकी हठधर्मिता ही सामने आती है। यह कथन कितना असत्य है, यह स्वयं उसे ही सोचना चाहिए। जिसको प्रमाण माना और उसीने जब ब्राह्मणों के वेद होने का निर्णय दे दिया, तब उसके सिद्धान्त की हानि कैसे नहीं हुई ? इस तरह तो मन्त्र भी सीधे ब्राह्मण को वेद कहेगा, तब भी उसके सिद्धांत की हानि नहीं होगी।

नपुंसक-लिङ्गी 'ब्रह्मन्' शब्द सामान्यतया चारों वेदों का बोधक है। केवल अथर्ववेद के लिए तो 'ब्रह्मवेद' शब्द आता है। कारण दिखलाया जा चुका है कि अथर्ववेद 'ब्रह्मा का वेद' है। आपके मानने और न मानने से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। कोई 'घट' को 'घट' न माने, तो उससे क्या 'घट' 'घट' न रह जायगा ? आचार्य शङ्कर को भी आपने 'अन्धपरम्परा का अनुयायी' बतलाया है। कारण केवल यह कि वे ब्राह्मण को वेद मानते हैं। यह कैसा दुःसाहस है ? उनके लिए 'असमीक्ष्यकारी' शब्द के प्रयोग ने तो हद कर दी। लज्जा भी लजा गयी !

'सब्राह्मणाः सरहस्याः' इस वाक्य में जब इन लोगों के शब्दों में 'ब्राह्मणों का पृथक् उपादान वेदों को ब्राह्मणों से पृथक् बतला

Scanned by CamScanner

रहा है, तब इसी वाक्य में आया हुआ 'सोपनिषत्काः' शब्द भी उपनिषदों को मन्त्र-ब्राह्मण से भिन्न बतलायेगा, इस बात पर ध्यान दिलाने पर भी ये नहीं ध्यान देते। जैसे सुप्, तिङ् का परस्पर भेद होने पर भी सुबन्त, तिङन्त दोनों ही पद कहे जाते हैं, वैसे ही मन्त्रत्वेन, ब्राह्मणत्वेन भेद होने पर भी दोनों ही वेद कहे जाते हैं। यहाँ इन लोगों की भूल यही है कि 'मन्त्रत्वेन, ब्राह्मणत्वेन' इस कथन को छोड़कर 'वेदत्वेन, ब्राह्मत्वेन' भिन्नता समझने लगे हैं। मालूम होता है, यह भूल जान-बूझकर की गयी है, ताकि वेद के एकदेश को वेद कह दिया जाय। यह तो वैसी ही बात हुई, जैसे किसी अन्धे ने हाथी के कान का स्पर्शकर हाथी के कान को ही समग्र हाथी मान लिया था। आपने भी हजारों शाखाओं को छोड़कर चार शाखाओं की चार संहिताओं को ही समग्र वेद मानने की भूल की है। बार-बार बताया जा रहा है कि आप समग्र वेद को ठीक-ठीक समझें। किन्तु उस व्यक्ति को, जो केवल हाथी के कान को ही हाथी बताये, और अंगों को हाथी से बहिर्भूत होने का हठ पकड़े, क्या हजारों आँख वाले भी कभी समझा सकते हैं?

किसी आधुनिक समाजी ने लिखा है कि "मनुष्यत्वेन, पशुत्वेन भिन्न होने पर भी प्राणित्वेन मनुष्य एवं पशु को एक मानना शुरू कर दीजिये और मनुष्य को गाय मानकर भूसा खिला दें, तो बुरा न मानियेगा।" किन्तु इस बुद्धि की बलिहारी है! प्रत्येक सत्य बात का जब आप अपलाप करने पर तुल जायँगे, तो आपको कोई भी न समझा सकेगा। ब्राह्मण को वेद

Scanned by CamScanner

न मानते थे, अब पशुओं को प्राणी मानना भी छोड़ दिया। हद हो गयी ! आपने आचार्य शंकर के लिए लिखा है—"आचार्य शंकर यदि तात्कालिक परम्परा का अनुसरणकर उसी प्रवाह में बहे हैं, तो मैं तो क्या, रास्ते चलता भी उन्हें असमीक्ष्यकारी कह सकता है।" बतलाइये, रास्ते चलता एक अनाड़ी भी क्या आपको नहीं सिखा सकता कि 'पशु भी प्राणी है ?' उसे आपको भी 'असमीक्ष्यकारी' कहने का पूरा अधिकार है, क्योंकि वह सत्य बात आपको बतला रहा है। क्या समाजी इन्द्रियत्वेन सब इन्द्रियों का ग्रहण नहीं करता ? यदि करता है, तो आँख से शब्द ग्रहण और कान से रूपग्रहण क्यों नहीं करता ?

जैसे 'अधुना', 'एतर्हि', 'पुरा' इत्यादि शब्दों से ब्राह्मणभाग के अनित्य और कालपरिच्छिन्न होने की शंका होती है, वैसे ही 'अग्निः पूर्वेभिः' इत्यादि मन्त्र में आये पूर्वशब्द से भी शंका होती है कि 'सन्निहितकालस्थ ऋषि नूतन थे और दूर-कालस्थ ऋषि प्राचीन ऋषि थे। इस तरह प्राचीन ऋषियों की अपेक्षा उनका उल्लेख करनेवाले मन्त्र आधुनिक हुए।' इस शङ्का का समाधान समाजियों के यहाँ कुछ नहीं है। सनातनियों के यहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का समाधान एक-सा है।

मनु ने सामध्वनि को अशुचि कहा है, ऐसा पहले लिखा जा चुका है। उसका भी तात्पर्य साम की निन्दा में नहीं है। किन्तु उसका तात्पर्य इसीमें है कि सामगान के समय इतर वेद का अनध्याय मानकर उन्हें न पढ़ें।

Scanned by CamScanner

किसी समाजी ने 'शतपथ' को वेद के आसन से च्युत करने के लिए याज्ञवल्क्य को महाभारतकालिक बतलाकर कहा है कि 'अतः उनके बनाये ग्रन्थ वेद की तुलना में नहीं रखे जा सकते।' किन्तु उसने ध्यान नहीं दिया कि शतपथ के विरुद्ध दी जानेवाली युक्ति उसीके सिर पर चिपक जायगी। उसीकी युक्ति को कोई यदि शुक्लयजुःसंहिता पर लादना चाहे और कहे कि "याज्ञवल्क्य महाभारतकाल के हैं, अतः उनकी बनायी हुई शुक्लयजुःसंहिता वेद की तुलना में नहीं रखी जा सकती" तो वह क्या उत्तर देगा ?

जिस तरह ऋषि याज्ञवल्क्य ने सूर्य से शुक्लयजुःसंहिता प्राप्त की, उसी तरह 'शतपथ' भी पाया और उसका विशिष्ट प्रवचन किया था। अतः "आख्या प्रवचनात्" के अनुसार जैसे कठ, कौथुम आदि प्रवक्ताओं के नाम पर वेदशाखाएँ प्रसिद्ध हुई हैं, वैसे ही शतपथ भी याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त (प्रवचन किया हुआ) होने से उनके नाम से प्रसिद्ध है। जैसे शाकल्य आदि से प्रोक्त होने से शाकली शाखा प्रसिद्ध है, वैसे ही वर्तमान उपलब्ध शौनकीय अथर्व-संहिता शौनक के नाम से प्रसिद्ध है। (पिप्पलाद के नाम से भी एक और अथर्वसंहिता है) समाजी की दृष्टि से महाभाष्यकार ने चारों वेदों के प्रथम मन्त्र का प्रतीक दिया है। जिसका प्रतीक नहीं दिया है, वह वेद नहीं है। इस दृष्टि से वेदत्वेन समाजी का अभिमत अथर्ववेद उसीकी दृष्टि से वेद ही नहीं ठहरता।

फिर क्या यह भी कोई व्याप्ति है कि रामायणकाल का

व्यक्ति ही ऋषि हो सकता है और महाभारतकाल का व्यक्ति ऋषि नहीं हो सकता ? व्यक्ति के सम्बन्ध से तो वेदों की पौरुषेयता ही प्रसक्त हो जायगी, फिर वह चाहे पाँच हजार वर्ष का हो, चाहे पाँच लाख वर्ष का ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि वर्तमान अथर्वसंहिता शौनक के नाम से प्रसिद्ध है। इस तरह सम्पूर्ण अथर्व ही जब शौनक द्वारा प्रोक्त है और इस प्रोक्तत्व से उसकी वेदता अक्षुण्ण है, तब 'उक्तञ्च शौनकेन' कहने से बेचारे ब्राह्मण की ही वेदता क्यों आहत होगी ? 'आख्या प्रवचनात्' सूत्र का मनन करना चाहिए। ऋषि-शब्द का वेद अर्थ यथास्थान मान्य ही होता है। परन्तु जहाँ मन्त्रद्रष्टा को ऋषि कहा जाता है, वहाँ तो ऋषि और मन्त्र में भेद मानना ही पड़ेगा। फिर ऋषि वेद हैं, इस कथन मात्र से वेदद्रष्टा ऋषियों का अपलाप कैसे हो सकता है ? ऋक्-संहिता के दूसरे मण्डल के अनेक सूक्तों में ऋषि के रूप में शौनक के नाम आये हैं। ऋषि का मुख्य अर्थ क्या है, इसपर भी तो दृष्टि डालनी चाहिए। 'उक्त' और 'कृत' में अन्तर है, यह भेद न भूलना चाहिए।

किसी समाजी ने लिखा है कि "ओ३म् ईश्वरीय वाणी होने से नित्य है।' पर उसके लिए यह भी सिद्ध करना असम्भव है। कारण वर्णपौर्वापर्यविशिष्ट वाणी कभी नित्य नहीं हो सकती। नित्य वर्णों में पौर्वापर्य नहीं हो सकता। अनित्य वर्णव्यक्तियों का पौर्वापर्यरूप वाणी कोई हो, तो उसे अनित्य ही कहना पड़ेगा। वेद ज्ञानरूप है, यह भी पक्ष खण्डित हो चुका है। यदि वर्ण-

नित्यत्व मात्र से ईश्वर की वाणी नित्य है, तो हम लोगों की वाणी में भी वर्ण तो नित्य ही हैं। जनमेजय एवं विश्वामित्र नामों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि महाभारत के ऐतिहासिक जनमेजय का नाम आ जाने से ब्राह्मण की अनित्यता होगी, तो रामायण के ऐतिहासिक विश्वामित्र आदि के नाम आने से आप मन्त्रों की अनित्यता कैसे रोक सकेंगे ?

कुछ आधुनिक समाजी इन्द्रादि शब्द के जाति या उपाधि रूप अर्थ मानने को खींचातानी कहते हैं। परन्तु मीमांसक तो शब्द की शक्ति जाति में ही मानते हैं, यह दार्शनिक-जगत् में प्रसिद्ध बात है। व्यक्तियों के अनित्य होने पर भी जाति नित्य होती है। इसी आधारपर वैदिक नामों का अर्थ किया जाता है। "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" आदि स्थलों के विवेचन से जो परिचित होगा, वह कदापि ऐसी बात को खींचातानी न कहेगा।

वात्स्यायनभाष्य का अभिप्राय अक्षरों से स्पष्ट है, प्रमाणभूत ब्राह्मण द्वारा इतिहास-पुराणों का प्रामाण्य सिद्ध है। इतनी स्पष्ट बात से उलटा-सीधा अभिप्राय निकालना अनुचित है। ब्राह्मण-विरुद्ध इतिहास-पुराण अप्रमाण हैं, यह आशय यद्यपि वात्स्यायन के वाक्य का नहीं है, तथापि यह सिद्धान्त वैदिकों को मान्य है। श्रुति-विरुद्ध स्मृति गौणार्थक हो जाती है। तत्पर श्रुति से विरुद्ध अतत्पर श्रुति भी गौणार्थक हो जाती है, यह पीछे दिखलाया जा चुका है।

Scanned by CamScanner

किसी समाजी ने 'ऐतरेय' आदि की कथाओंका समाधान पूछा है। जो उर्वशी-पुरूरवा, शुनःशेप की कथाओं का समाधान है, वही ऐतरेय की कथाओं का भी है। विस्तृत समाधान पीछे किया ही जा चुका है। ऋग्वेद में ऐसी बहुत-सी आख्यायिकाएँ हैं। उनके उल्लेखसे लेख का कलेवर ही बढ़ेगा।

किसी समाजी ने यजुःसंहिता के मन्त्र के समानार्थक शतपथ का वाक्य उद्धृतकर ब्राह्मण को मन्त्र का व्याख्यान माना है। किन्तु समाजी इसपर भी टिक नहीं पाते। यहाँ मन्त्र और ब्राह्मण में यज्ञ का महत्त्व मिलता है। किन्तु अवसर मिलते ही आप यज्ञ के निन्दक बन जाते हैं और उसे ब्राह्मणों का विषय मानने लगते हैं। इन पूर्वापर की बातों का क्या तुक है? रही व्याख्यान-व्याख्येयभाव की बात! तो इस विषय में पीछे लिखा ही जा चुका है। शतपथ के वेद न होने में जो युक्तियाँ आप दे रहे हैं, वे सब पुरानी हैं—पिष्टपेषण है। इनका समाधान भी किया जा चुका है। ये ही बातें मन्त्र-संहिताओं पर भी लागू हो सकती हैं। पाश्चात्य कहते ही हैं कि मन्त्र भिन्न-भिन्न ऋषियों के गीत हैं।

किसी समाजी ने लिखा है कि "यह नाटक है। पूर्णमासादि अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ इस भाव को सदेह करनेवाले रूपक हैं।' इसके बाद आपने सूर्य का अर्थ वीर्य और चन्द्र का अर्थ सन्तान आदि किया है। इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि आपकी वैदिक उक्तियाँ क्या हैं?

यह सब कथन व्यास, जैमिनि, गौतम, कणाद, पाणिनि,

पतञ्जलि, कात्यायन, आपस्तंब, आश्वलायन, शबर, मण्डन आदि सबके विरुद्ध है। इनका नाम ले-लेकर समाजी केवल जनता को धोखे में डालते हैं। ऋषियों ने अक्रियार्थक वेद का अप्रामाण्य माना है। अतः आपका नाटकमय वेद सर्वथा अप्रमाण है। युद्ध आदि में जो यज्ञ आदि का प्रयोग किया गया, वह आरोपित है। तब रूपक का ही अन्य रूपक में आरोप सर्वथा असंगत है।

शाखाओं को वेदबाह्य मानना अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मारना है। उन्हीं शाखाओं के अन्तर्गत ही तो माध्यन्दिनी शाखा, कौथुमी शाखा, शाकली शाखा और शौनकी शाखाएँ हैं। इन्हें आप वेद मानते हैं, पर अब ये अवेद हो जायँगी। ऋक्, यजु, साम, अथर्व इन नामों से प्रसिद्ध कोई चार पुस्तकें नहीं हैं। इन नामों से चार पुस्तकों का प्रकाशन आर्यसमाजियों का दुष्प्रचार है। प्राचीन लिखित पुस्तकों में शाकली मन्त्र-संहिता आदि नाम ही मिलता है। मुक्तिकोपनिषद्, चरणव्यूह तथा पुराणों के अनुसार एक-एक वेद में अनेक ग्रन्थ हैं। उन्हींमें से कुछ शाखाएँ आज भी मिल रही हैं। उनमें से मोहवश समाजियों ने चार पुस्तकों को वेद कहकर दूसरों को छोड़ दिया।

कुछ आधुनिक आर्यसमाजी कहते हैं कि "सनातनधर्म वेद की शाखाओं को वेद मानता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने "तेन प्रोक्तम्" (अ० ४।३।१०१) के भाष्य में कहा है—"या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकमिति।" अर्थात् काठक, कालापक, पैप्पलादक

आदि प्रोक्त हैं, याने ऋषियों द्वारा प्रवचन किये हुए या ऋषिकृत हैं, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व की आनुपूर्वी को—"स्वरो नियत आम्नायेऽस्य वामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता" (अ० ५।२।५९) यहाँ 'अस्य वाम' (ऋग्वेद १।१।१६४)-सूक्त के आरम्भ का शब्द है। सो उस मन्त्र की आनुपूर्वी तथा स्वर को महाभाष्यकार पतञ्जलि नित्य मानते हैं। उसी प्रकार सनातनधर्म के मत से वेद माने जानेवाली शाखाएँ मैत्रायणी, काठक, पैप्पलादक आदि भी प्रोक्त, अनित्य सिद्ध होती हैं, न कि ईश्वरोक्त।" किन्तु गम्भीरता से यदि समीक्षण किया जाय, तो "तेन प्रोक्तम्" सूत्र के महाभाष्य से काठक आदि शाखाओं का वेदत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। आर्यसमाजी लोगों को उपर्युक्त भ्रम इसलिए हो गया है कि उन्होंने दोषदृष्टि से महाभाष्यकार की इनी-गिनी दो-तीन पंक्तियों को ही देखा और उनका अर्थ आगे-पीछे बिना देखे मनमाना समझ लिया।

"तेन प्रोक्तम्" (४।३।१०१) सूत्र पर महाभाष्यकार ने शंका उठाते हुए लिखा है—"प्रोक्तग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? तत्रादर्शनात्। ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते, तत्रादर्शनात्। न च तत्र प्रत्ययो दृश्यते। ग्रन्थे च दर्शनात्। यत्र च दृश्यते ग्रन्थः सभवति। 'तत्र कृते ग्रन्थे' इत्येव सिद्धम्। छन्दोऽर्थं तर्हीदं वक्तव्यम्। न हि च्छन्दांसि क्रियन्ते। नित्यानि च्छन्दांसीति।" अर्थात् महाभाष्यकार ने शंका उठायी कि 'तेन प्रोक्तम्' इस सूक्त में 'प्रोक्त' ग्रहण अनर्थक है, क्योंकि 'प्रोक्त' शब्द की

Scanned by CamScanner

निष्पत्ति 'प्र'पूर्वक 'वच' धातु से होती है। उसके दो अर्थ हो सकते हैं, प्रथम, अध्यापनरूप प्रकाशन और दूसरा ग्रन्थकरण। प्रथम अर्थ में तो प्रत्यय देखा नहीं जाता। यदि प्रथम अर्थ में प्रत्यय देखा जाता, तो ग्राम-ग्राम में काठक, कालापक आदि नाम से प्रसिद्ध शाखाओं का अध्यापनरूप प्रकाशन (प्रवचन) सुशर्मा आदि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा भी होता है। ऐसी स्थिति में 'सुशर्मणा प्रोक्तं काठकं सौशर्मणम्' ऐसा भी प्रयोग होता, किन्तु होता नहीं। इसके अतिरिक्त दूसरे 'ग्रन्थकरण' अर्थ में प्रत्यय देखा जाता है। 'तेन कृते ग्रंथे' इस अतिरिक्त सूत्र से ही सिद्ध है। यदि कहा जाय कि छन्द (वेद) नित्य होते हैं। उनका किसी व्यक्ति के द्वारा 'करण' सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में छन्दविषयक 'काठक' आदि समाख्याओं को 'ग्रन्थकरण' रूप में प्रत्यय करके उपपन्न करना असम्भव है। अतः उनको उपपन्न करने के लिए 'तेन प्रोक्तम्' सूत्र से अध्यापन-रूप प्रकाशन (प्रोक्त) अर्थ में प्रत्यय-विधान आवश्यक है?

यह युक्तिसङ्गत नहीं, क्योंकि—"छन्दोऽर्थमिति चेत् तुल्यम्" छन्दोऽर्थमिति चेत्तुल्यमेतद् भवति, ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते तत्राऽदर्शनात्। न च तत्र प्रत्ययो दृश्यते। 'ग्रंथे च दर्शनात्'। यत्र च दृश्यते ग्रन्थः स भवति, तत्र कृते ग्रन्थ इत्येव सिद्धम्।" अर्थात् छन्द में पूर्वोक्त ढङ्ग की तुल्यता ही है। यदि छन्द-विषयक काठक कालापक आदि समाख्याएँ प्रोक्त अर्थ में हीं प्रत्यय करने से उपपन्न हैं, तो प्रतिग्राम भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भी प्रोक्त होने पर काठक, कालापक आदि नाम से ही क्यों

Scanned by CamScanner

प्रसिद्ध हैं? प्रतिग्राम जिन-जिन व्यक्तियों द्वारा प्रोक्त हैं, उनके नाम से भी प्रसिद्ध क्यों नहीं, हैं? इसलिए छन्द में भी 'ग्रंथकरण' अर्थ में ही प्रत्यय देखा जाता है और वह 'तेन कृते ग्रन्थे' से ही प्रसिद्ध हैं। 'तेन प्रोक्तम्' सूत्र से प्रोक्त अर्थ में प्रत्यय करना निरर्थक ही है।

अब पहले इतने ही अंश पर निष्पक्ष होकर दृष्टिपात किया जाय, तो महाभाष्यकार ने काठक, कालापक आदि समाख्यात शाखाओं को स्पष्टरूप से छन्द (वेद) मान लिया है। क्योंकि "छन्दोऽर्थमिति चेत् तुल्यमेतद् भवति" ऐसा कहकर उन काठक, कालापक आदि को ही निदर्शनरूप में वे प्रस्तुत करते हैं। किन्तु उन्हें महाभाष्य को प्रमाण माननेवाले आर्यसमाजी बन्धु ही आग्रहग्रहिल होकर छन्द मानना नहीं चाहते।

इसके आगे काठक, कालापक आदि शाखाओं को छन्द (वेद) मानते हुए महाभाष्यकार शंका उठाकर उत्तर देते हैं—

"ननु चोक्तम्—"न हि च्छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि च्छन्दांसीति? यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाश्चैतद्भवति—काठकम्, कालापकम्, मौदकम् पैप्पलादकमिति।" अर्थात् पहले कहा जा चुका है कि छन्द किये नहीं जा सकते, छन्द तो नित्य होते हैं? छन्द के नित्य होने से छन्दरूप में मान्य काठक, कालापक आदि शाखाएँ भी नित्य हैं। ऐसी स्थिति में उनका कलाप आदि द्वारा 'करण' कैसे सम्भव है? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि शब्द-अर्थ उभयवृत्ति छन्दस्त्व (वेदत्व) होने से "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" आदि प्रमाणों के

Scanned by CamScanner

आधार पर समस्त वेद के मुख्यतया तात्पर्यविषय ईश्वररूप नित्य अर्थ की नित्यता को दृष्टि में रखकर छन्द में (छन्दस्त्वेन अभिप्रेत काठक, कालापक आदि समस्त शाखाओं में) नित्यत्व व्यवहार होता है। इन काठक, कालापक आदि छन्दों में जो वर्णों की आनुपूर्वी है, वह तो अनित्य ही है। इसलिए प्रतिव्यक्ति उच्चारणभेद से भिन्न-भिन्न अनित्य आनुपूर्वी के कर्ता काठकादि हो ही सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'तेन कृते ग्रन्थे' से प्रत्यय करके भी 'काठकम्', 'कालापकम्' आदि समाख्याओं को उपपन्न किया जा सकता है। 'तेन प्रोक्तम्' से प्रत्यय करना निरर्थक ही है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि महाभाष्यकार ने काठक, कालापक आदि चार समाख्याओं को उदाहरणरूप में रखा है। ऐसी स्थिति में सभी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य कहते हुए महाभाष्यकार ने ऋग्, यजुः, साम, अथर्व की उन शाकली, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी को भी अनित्य माना है, जिन्हें समाजी लोग भी 'वेद' मानते हैं।

अब यहाँ विशेष रूप से आर्यसमाजी लोगों की शंका पर विचार करना है। यद्यपि उन लोगों ने अपनी शंका जिन शब्दों में उठायी है, वे शब्द परस्पर इतने असङ्गत ढङ्ग से प्रस्तुत किये गये हैं कि उनके आधार पर समाजी लोगों की शंका ही स्पष्ट नहीं हो पाती। "स्वरो नियत आम्नायेऽस्य वामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता" इस महाभाष्य की पंक्ति को उद्धृत करते हुए वे केवल ऋग्वेद के 'अस्य वाम' शब्द से प्रारब्ध सूक्त की आनुपूर्वी

Scanned by CamScanner

तथा स्वर को नियत बता रहे हैं। पता नहीं, इतना मात्र कह देने से समाजियों का कौन-सा सिद्धान्त स्थिर हो गया और सनातनियों का कौन-सा सिद्धान्त खण्डित हो गया? ध्यान रहे कि महाभाष्यकार 'अस्य वाम'सूक्त के स्वर को नियत बतला रहे हैं, नित्य नहीं। नियत और नित्य ये दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। यदि कोई इन दोनों को समानार्थक मानता है, तो इतने से ही उसकी विद्वत्ता का परिचय अच्छी प्रकार मिल जाता है। समझा जा सकता है कि नित्य और नियत को समानार्थक मानने-वाला वह व्यक्ति वेदस्वरूप के निर्णय में कहाँतक समर्थ हो सकता है।

यह तो सुतरां स्पष्ट है कि नियतत्व अनित्यत्वसमानाधिकरण भी होता है। इसीलिए 'धूमनियतो वह्निः' आदि व्यवहार होता है और जिसके अनुसार अनित्यत्व के अधिकरण वह्नि में नियतत्व उपलब्ध है। महाभाष्यकार ने भी नियत का उदाहरण देते हुए 'देशः खल्वप्याम्नाये नियतः—"श्मशाने नाध्येयम्' आदि कहकर अनित्यत्व के अधिकरण श्मशानरूप देश में अनियतत्व माना है। पर नित्यत्व और अनित्यत्व कभी समानाधिकरण नहीं हो सकते। क्योंकि दोनों परस्पर भेदसमानाधिकरण हैं। ऐसी स्थिति में आर्य-समाजी लोगों द्वारा उद्धृत उक्त महाभाष्य अस्य 'वाम'सूक्त के स्वर को और आम्नाय अर्थात् समस्त वेद की वर्णानुपूर्वी को भी नियत सिद्ध कर रहा है। इससे महाभाष्यकार की यह मान्यता कैसे सिद्ध हो गयी कि 'अस्य वाम'मन्त्र की आनुपूर्वी तथा स्वर नित्य हैं?' यहाँ तो महाभाष्यकार की पंक्तियाँ ११३१ शाखाओं

से उपबृंहित मन्त्र-ब्राह्मणात्मक समस्त वेदराशि को नियतवर्णानुपूर्वीविशिष्ट सिद्धकर वेदस्वरूपविषयक सनातनियों के सार्वभौम सिद्धान्त को ही स्थिर कर रही हैं। ठीक इसके विरुद्ध जो समाजियों का सिद्धान्त है, उसका खण्डन कर रही है।

आगे समाजी बन्धुओं की शब्दावली यह है कि "इस प्रकार सनातन धर्म के मत से वेद माने (?) जानेवाली शाखाएँ मैत्रायणी, काठक, पैप्पलादक आदि प्रोक्त अनित्य सिद्ध होती हैं, न कि ईश्वरोक्त।" इस शब्दावली पर दृष्टिनिक्षेप किया जाय, तो स्वयं समाजियों के शब्दों से ही उनका मन्तव्य टकराता है, क्योंकि वे केवल मैत्रायणी, काठक, कालापक आदि शाखाओं में अनित्यत्व और ईश्वरोक्तत्व का अभाव बताकर उन्हें अवेद सिद्ध करना चाहते हैं और ठीक इसके विपरीत चार संहिताओं को नित्यत्व, ईश्वरोक्तत्व समझकर उन्हें वेद सिद्ध करना चाहते हैं। पर क्या यह सम्भव है कि ईश्वरोक्त होनेमात्र से चार संहिताएँ नित्य हो जायँगी। श्रीस्वामी दयानन्द के मतानुसार वे चार संहिताएँ ईश्वर-रचित हैं। अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर ने उन चार संहिताओं को अपनी सर्वज्ञता के बल पर बनाया। ऐसी स्थिति में जिसका विरचन होगा, जो कृति का विषय होगा, क्या वह नित्य हो सकता है? यही कारण है कि वेदों को ईश्वर-रचित माननेवाले नैयायिक आनुपूर्वी को ही कौन कहे, शब्दों को भी अनित्य मानते हैं। उनके मत में वेद अनित्य ही हैं। केवल आप्त ईश्वर-रचित होने से प्रमाण हैं। अब स्वयं विचार करना चाहिए कि आर्यसमाज के सिद्धान्तानुसार चार संहिताएँ भी ईश्वर-

Scanned by CamScanner

रचित होने से अनित्य ही हैं। यदि अनित्यत्व ही काठक, कालापादि शाखाओं को अवेद सिद्ध करता है, तो वे चार संहिताएँ भी अनित्य होने से अवेद सिद्ध हो गयीं।

जो कुछ भी हो, यह सब तो समाजी विद्वत्तापूर्वक कैसा विचार कर सकते हैं, इसका नमूना है। पर हमें तो जिस किसी प्रकार उन लोगों की भ्रान्ति दूर करनामात्र अभीष्ट है। इसलिए जिस किसी तरह उनके शब्दों से उनका अभिप्राय समझकर उत्तर दे रहे हैं।

प्रकृत प्रसङ्ग के अनुसार आर्य-समाजी बन्धुओं की शब्दावली से उनकी यही भ्रान्ति प्रतीत हो रही है कि "महाभाष्यकार काठक, कालापक आदि शाखाओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य मानते हैं। अतः वे शाखाएँ अनित्य होने से वेदरूप में मान्य नहीं हो सकतीं।" पर गम्भीरता से विचार करने पर यह भ्रान्ति स्वयं ख-पुष्पवत् अलीक हो जाती है। वेदों की ही क्या, लोक और वेद उभयसाधारण वर्णानुपूर्वियों के सम्बन्ध में यह निष्कृष्ट सिद्धान्त है कि वे अनित्य ही होती हैं। क्योंकि जिन्हें वर्णों का नित्यत्व अभिप्रेत है, उन्हें भी पद, वाक्य आदि में अनित्यत्व मानना ही पड़ेगा। यह सुतरां सिद्ध है कि आनुपूर्वीभेदविशिष्ट वर्ण ही पद होते हैं और आनुपूर्वीभेदविशिष्ट पद ही वाक्य। नित्य और विभु वर्णों में कालतः, देशतः पौर्वापर्य असम्भव होने से उनमें आनुपूर्वी नहीं बन सकती। अतएव वर्णव्यक्ति अर्थात् कण्ठ-ताल्वाद्यभिघातजन्य ध्वनियों में होनेवाली वर्णाभिव्यक्ति का ही धर्म है, क्योंकि ध्वनि की अनित्यता

से वर्णाभिव्यक्ति में अनित्यता होती है। अतएव कालतः पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वी उनमें बन जाती है तथा उसीसे वर्णों में पदत्व, वाक्यत्व आदि की उपपत्ति होती है। इस तरह जब वर्णव्यक्ति अनित्य है, तो अनित्य वर्णव्यक्तिगत आनुपूर्वी के आधार पर बननेवाला पदत्व नित्य कैसे हो सकता है? इसी तरह पदों के अनित्य होने पर वाक्य आदि की अनित्यता स्वतः सिद्ध है।

इसलिए नृत्तानुकरण के समान ही पद, वाक्य आदि का अनुकरण है। जैसे नर्तक से शिक्षा प्राप्त करनेवाली नर्तकी नर्तक के गात्र-विक्षेप आदि के समान ही गात्र-विक्षेप आदि का अनुकरण करती है, वैसे ही वेदों का अध्यापयिता वर्ण, पद, वाक्यों आदि की जैसी आनुपूर्वी निर्मित करता है, ठीक वैसी ही आनुपूर्वी का अनुकरण शिष्य करता है, न कि उसी आनुपूर्वी का उच्चारण करता है। कारण, अध्यापयिता की वर्णाभिव्यक्ति से भिन्न शिष्य की वर्णाभिव्यक्ति है। यही कारण है कि लौकिक या वैदिक पद और वाक्यों को वर्णनित्यत्ववादी भी पौरुषेय मानते हैं और वर्णानित्यत्ववादी भी। केवल 'वेदवाक्यों में 'पुरुष का स्वातन्त्र्य है या अस्वातन्त्र्य' इसीमें वर्णनित्यत्ववादी और वर्णानित्यवादियों की विप्रतिपत्ति है, जैसा कि श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—

"यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।"

अर्थात् प्रयत्नपूर्वक वैदिक-वाक्यों में पुरुष-स्वातन्त्र्य का प्रतिषेध अपेक्षित है, न कि पुरुषकृतत्व का। सृष्टि-प्रलय न

Scanned by CamScanner

माननेवाले पूर्वमीमांसक वेदाध्ययन के प्रति गुरु-शिष्य की परम्परा को अविच्छिन्न एवं अनादि मानते हैं। उत्तर-मीमांसक श्रुति, स्मृति एवं इतिहाससिद्ध सृष्टि-प्रलय मानते हुए काल, आकाश आदि के समान सृष्टि एवं प्रलय के मध्य उत्पत्ति एवं विनाश से सर्वथा रहित, अतएव व्यावहारिक नित्यत्व से युक्त वेदों की उत्पत्ति का कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा को मानते हैं, पर वेदों के विषय में उनका स्वातन्त्र नहीं मानते। अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा पूर्व-पूर्व सर्गीय आनुपूर्वीसापेक्ष आनुपूर्वी का ही विरचन करते हैं, स्वतन्त्र आनुपूर्वी का नहीं।

अब इस आप्त सिद्धान्त को अच्छी प्रकार समझ लेने पर "या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या" आदि महाभाष्य की पंक्तियों को लगाया जाय, तो किसी भी प्रकार की भ्रान्ति को अवकाश ही नहीं मिलता। वर्णाभिव्यक्तिगत आनुपूर्वीरूप धर्म का अनित्य होना निर्विवाद सिद्ध है। इस ढङ्ग की आनुपूर्वी नृत्तानुकरणवत् गुरु-शिष्य आदि उच्चारयिता लोगों के भेद से भिन्न है तथा पूर्वानुपूर्वी के समान प्रतिउच्चारयिता द्वारा कृत है, तो इस ढङ्ग का कठकृतत्व या कलापादिकृतत्व तत्-तत् शाखाओं में आ भी जाय, तब भी लेशमात्र भी क्षति नहीं है। पूर्वमीमांसकों या उत्तरमीमांसकों की दृष्टि से 'प्रमाणान्तरेणार्थ-मुपलभ्य विरचितत्व', 'पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्षोच्चारितत्व या 'प्रथमोच्चारितत्व' ही पौरुषेयत्व है, 'तद्भिन्नत्व' ही अपौरुषेयत्व है। उस ढङ्ग के अपौरुषेयत्व का अपगम अनित्य वैदिक वर्णानुपूर्वी का कर्ता

Scanned by CamScanner

कठ आदि को मान लेने से भी कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि अपने गुरु द्वारा उच्चारित वर्णानुपूर्वी के समान ही आनुपूर्वी का उच्चारण कठ आदि ने किया। वह आनुपूर्वी कठ एवं कठ के गुरु में परस्पर भेद होने से भले ही भिन्न हो और कठ द्वारा कृत हो, पर प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्व से विरहित होती हुई गुरुमुखोच्चारित आनुपूर्वी के समान है। अतः उसमें पूर्वानुपूर्वीसापेक्षोच्चारितत्व आया और कठ द्वारा गुरु के उच्चारण के अनन्तर आनुपूर्वी उच्चरित हुई, अतः उसमें प्रथमोच्चरितत्व नहीं है। इसलिए वेदों का अपौरुषेत्व सुस्थिर ही रहता है।

अब यह कहा जा सकता है कि 'इस ढङ्ग का कृतत्व तो आनुपूर्वी के उच्चारयिता प्रतिव्यक्ति में है। फिर काठक, कालापक-आदि समाख्याएँ ही क्यों प्रसिद्ध हुईं ?' इसका उत्तर यही है कि जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त आदि कई पुत्रों की माता किसी एक पुत्र देवदत्त या यज्ञदत्त के नाम से 'देवदत्त की माता' या 'यज्ञदत्त की माता' इस तरह पुकारी जाती है, वैसे ही तत्-तत् उच्चायिताओं द्वारा उक्त ढङ्ग से शाखाएँ कृत होती हुईं भी किसी एक उच्चारयिता कठ या कलाप आदि के नाम से ही प्रसिद्ध हो गयीं। प्रवचनपक्ष में भी उपर्युक्त ढङ्ग की शङ्का उठने पर यही उत्तर दिया जाता है।

यहाँ विशेष ज्ञातव्य यही है कि उपर्युक्त ढङ्ग से वेदों की वर्णानुपूर्वी तत्-तत् उच्चारयिता लोगों से कृत अवश्य है, पर साथ ही उसके नियत होने से वेदों की आनुपूर्वी अनादिकाल

Scanned by CamScanner

से प्रवाहाविच्छेदन एकरूप में ही चली आ रही है। उसमें किसी भी प्रकार का व्युत्क्रम कदापि नहीं होता। इसे महाभाष्यकार ने ही "वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता अस्य वामशब्दस्य" ऐसा कहकर अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। यहाँ यह भ्रम कदापि नहीं होना चाहिए कि 'महाभाष्यकार ने केवल 'अस्य वाम' में ही वर्णानुपूर्वी को नियत माना है'; क्योंकि यह तो निदर्शनमात्र है। इसीलिए देश, काल आदि का नियतत्व दिखाते हुए "श्मशाने नाध्येयम्, चतुष्पथे नाध्येयम्, नामावास्यायामध्येयम्, न चतुर्दश्याम्" आदि सामान्यतः आम्नायविषयक ही उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। यदि केवल 'अस्य वाम' के विषय में ही देश-काल का नियतत्व अभिप्रेत होता, तो "अस्य वामशब्दो श्मशाने नाध्येयः" आदि ढङ्ग के विशेष उदाहरण ही महाभाष्यकार द्वारा प्रस्तुत किये गये होते।

कुछ लोग 'शतपथ' के "तदु हेकेऽन्वाहुः—होता यो विश्ववेदस इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति। तदु तथा न ब्रूयात्। मानुषं ह ते यज्ञं कुर्वन्ति, व्यूद्धं वै यज्ञस्य यन्मानुषम्....." (१।४।१।३५) इस अंश को उद्धृतकर इसका भाव यह लगाते हैं कि 'किसी शाखावाले 'होता यो विश्ववेदसः इति' ऐसा पाठ पढ़ते हैं, तो ऐसा पढ़ना ठीक नहीं। यह मनुष्यकृत पाठ है। यज्ञ में मानुष-पाठ पढ़ना यज्ञ की हीनता है। इससे इतना पता लगता है कि शाखाओं का पाठ मानुष है और ग्राह्य नहीं। "होतारं विश्ववेदसम्" यही पाठ पढ़ना चाहिए। पर यह सब भाव केवल दोषदृष्टि से लगाया जाता है। शतपथ में 'होता यो विश्ववेदसः'

Scanned by CamScanner

को मानुष कहा गया है। पर यह मानुषवाक्य किसी शाखा का है, इसलिए निन्दित है, ऐसी बात नहीं। यदि उक्त वाक्य किसी शाखा का है, तो उसे उद्धृत करना चाहिए। केवल कल्पना से क्या होता है? शतपथ में मानुष कहकर जिस 'होता यो विश्ववेदसः' वाक्य को निषिद्ध कहा गया है, वह किसी शाखा का है ही नहीं। इसीलिए शतपथ के सायणानुसारी आप्त टीकाकार आचार्य हरिस्वामी ने "होता यो विश्ववेदसः" को मनुष्य-बुद्धि-प्रभव पाठ का विपरिणाम माना है। अर्थात् यहाँ शतपथ का तात्पर्य यही है कि "मन्त्रों में स्वाभिलषित प्रार्थना आदि के प्रकाशन के लिए भी वैदिक शब्दों का परिवर्तन कदापि नहीं करना चाहिए।

"उपायवस्थेत्युहैक आहुरुप हि द्वितीयोऽयतीति। तदु तथा न ब्रूयात्" इस शतपथ ब्राह्मण को उद्धृतकर कुछ लोग यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि "शतपथ में तैत्तिरीय-संहिता के पाठ का खण्डन किया गया है। अतः तैत्तिरीय-संहिता मान्य नहीं हो सकती।" पर ऐसी बात नहीं है। यह मीमांसाशिष्ट सिद्धान्त है कि "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुम्" अर्थात् निन्दा में पर्यवसित वाक्यों का तात्पर्य निन्द्य की निन्दा में नहीं होता, अपितु विधेय की स्तुति में ही होता है। प्रकृत में शतपथ में निषेधविधया तैत्तिरीय-संहिता के पाठ की निन्दा का तात्पर्य केवल इतना ही है कि अपनी शाखा में अनुष्ठेयार्थ-स्मारकत्वेन विहित जो मन्त्र है, उसे छोड़कर शाखान्तर के मन्त्र का उपयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि यथासम्भव अपनी शाखा में पठितमन्त्र के द्वारा ही अनुष्ठेयार्थ का स्मरण

प्रशस्त है। निष्कृष्ट तथ्य यही है कि उपर्युक्त ढङ्ग के वचन जहाँ कहीं भी हैं, उनका परम तात्पर्य स्वपक्षनिष्ठादार्ढ्य-मात्र में ही है।

न्यायदर्शन में महर्षि गौतम ने "उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, समयाध्युषिते जुहोति" इन वाक्यों से विहित होम का "श्यावो-'ऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, श्यामशबलौ वाऽस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति" आदि वाक्यों से सुस्पष्ट व्याघात देखकर 'अभ्युपेत्य काल-भेदे दोषवचनात्" (२।१।५८) सूत्र से जो उत्तर दिया गया है, उसका भी तात्पर्य स्वपरिगृहीत अन्यतम पक्ष में निष्ठादार्ढ्य है, क्योंकि उनका उत्तर इसी तथ्य में पर्यवसित है कि अग्न्याधान-काल में 'उदिते हवनायाधानं करिष्ये' इस सङ्कल्प द्वारा उदित में अग्निहोत्र करने की प्रतिज्ञा कर लेने के अनन्तर यदि कदाचित् अनुदित में अग्निहोत्र कर लेता है, तो अपने द्वारा प्रतिज्ञात कालनियम का परित्याग करने से वह पुरुष अपराधी है। अतः उसके द्वारा दी गयी आहुति को शबल खाता है। ऐसा ही अनुदित या समयाध्युषित पक्ष में भी है। अर्थात् स्वपरिगृहीत अन्यतम पक्ष में दृढ़ निष्ठा रखनी चाहिए। केवल निन्दा में उसी निषेध-वाक्य का तात्पर्य होता है, जो रागतः प्राप्त का निषेधक हो। शास्त्रतः प्राप्त पक्ष का निषेध तो शास्त्रीय पक्षान्तर में निष्ठा के लिए ही होता है।

इस ढङ्ग के स्वपक्षनिष्ठादार्ढ्य की दृष्टि से तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी उदाहरण मिलते हैं। उन उदाहरणों में माध्यन्दिन-

Scanned by CamScanner

शाखीय शतपथ में कही गयी प्रक्रिया का खण्डनकर तैत्तिरीय-शाखीय प्रक्रिया का मण्डन किया गया है—"तन्येके वृथैवापास्यन्ति, तत्तथा न कार्यम्। आरब्धस्य यज्ञियस्य कर्मणः स विदोहः। यद्येनानि पशवोऽभितिष्ठेयुः। न तत्पशुभ्यः कम्। अद्भिर्मार्जयित्वोत्करे न्यस्येत्।" (तै० ब्रा० ३।३।२।२) इस वचन द्वारा माध्यन्दिनशाखीय उस प्रक्रिया का निराकरण किया गया है, जिसके अनुसार स्रुक्-सम्मर्जन के साधन वेद (कुशमुष्टि) का परित्याग जिस किसी स्थान में प्राप्त है। वहाँ यह सिद्ध किया गया है कि उस 'वेद' का परित्याग कम से कम सामान्य नियम के अनुसार उत्कर में तो होना ही चाहिए।

शतपथ में तैत्तिरीय-संहिता के पाठ के खण्डन का तात्पर्य तैत्तिरीय-संहिता की अमान्यता में ही है, इसे सिद्ध करने के लिए "शाखान्तर-अधिकरण" की बात उठाना सर्वथा असङ्गत है। क्योंकि यह तभी सङ्गत होता, जब कि शतपथ जैमिनि-दर्शन के बाद का होता। पर यह अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि जैमिनि-दर्शन "वाक्यार्थ-विचार" कहा जाता है। इसमें ९०७ अधिकरणों द्वारा शतपथ आदि तत्-तत् शाखाओं के ब्राह्मणभाग में पठित विधिवाक्यों पर ही विचार किया गया है। जैमिनि के सूत्रों में अधिकतर 'श्रुति' शब्द द्वारा ब्राह्मण-भाग के विधिवाक्यों का ही निर्देश किया गया है। ऐसी स्थिति में यह स्वतः सिद्ध है कि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों के सुसङ्गत अर्थ-विचार के लिए प्रवृत्त जैमिनि-दर्शन अनादि, अपौरुषेय शतपथ के अनन्तर का ही है।

Scanned by CamScanner

"वामदेवस्यैतत्" आदि वाक्य को उद्धृतकर उसमें मन्त्र के प्रतीक के साथ मन्त्रद्रष्टा ऋषि का नाम आ जाने से शाखाओं को अवेद सिद्ध करना व्यर्थ प्रयासमात्र ही है। क्योंकि अपौरुषेय वाक्यसमूह ही वेद है। अपौरुषेयता का मूल 'सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्व है। वह मन्त्र, ब्राह्मण, दोनों में ही समानरूप से है। अतः दोनों ही वेद माने जाते हैं। यदि मन्त्र के प्रतीक के साथ उसके द्रष्टा ऋषि की चर्चा होने से कोई अवेद सिद्ध हो, तब तो मन्त्रद्रष्टा ऋषि की बात दूर रही, अथर्वसंहिता (का० ८ सू० १३।२) के "तस्या विरोचन प्राह्लादिर्वत्स आसीत्", "तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्", तां पृथी वैन्योऽधोक्" आदि स्थलों में प्राह्लादि विरोचन, वैवस्वत मनु, वैन्य पृथी आदि का नाम आता है, तो क्या इतनेमात्र से अथर्वसंहिता को भी अवेद मान लिया जाय ?

'गोपथ-ब्राह्मण' तथा महाभाष्य में 'शन्नो देवीः' मन्त्र का उद्धरण अथर्ववेद के प्रारम्भिक मन्त्र के रूप में किया गया है और वह मन्त्र अथर्व की पैप्पलाद शाखा का प्रारम्भिक मन्त्र है, न कि शौनकी शाखा का, जिसे आर्यसमाजी वेद मानते हैं। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि गोपथ-ब्राह्मण तथा महाभाष्य पैप्पलाद शाखा के वेद होने में प्रमाण हैं। अब इस अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण को अन्यथासिद्ध करने का प्रयास करते हुए "यात्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या", "स्वरो नियम आम्नाये" इन दो उद्धरणों के आधार पर महाभाष्यकार को पैप्पलाद शाखा वेदरूप में मान्य नहीं है, ऐसा व्यर्थ का कुलाबा भिड़ाकर

Scanned by CamScanner

इतना मात्र उत्तराभास देना सर्वथा मिथ्या है कि 'महाभाष्यकार को आरम्भ में वैदिक शब्दों का उदाहरणमात्र देना अभिप्रेत है। वहाँ वेदों का आरम्भिक प्रतीक दरसाना मुख्य नहीं', आदि। क्योंकि "या त्वसौ वर्णानुपूर्वीः साऽनित्या" "स्वरो नियत आम्नाये" आदि महाभाष्य के उद्धरणों का निष्कृष्ट तात्पर्य पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। उससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि महाभाष्यकार को पैप्पलाद शाखा वेदरूप में मान्य नहीं है। प्रत्युत यही सिद्ध होता है कि उक्त उद्धरण के पूर्वापरभाव को देखते हुए "छन्दोऽर्थमिति चेत् तुल्यमेतद् भवति" आदि उद्धरणों के अनुसार महाभाष्यकार को पैप्पलाद शाखा अवश्य वेदरूप में मान्य है। ऐसी स्थिति में "महाभाष्यकार को आरम्भ में वैदिक शब्दों का उदाहरणमात्र देना अभिप्रेत है। वहाँ वेदों का आरम्भिक प्रतीक दरसाना मुख्य नहीं" यह उत्तराभास क्या महत्त्व रखता है? क्या वैदिक शब्द और वेदों के आरम्भिक प्रतीक में अन्धकार-प्रकाश जैसा विरोध है? क्या वेदों का आरम्भिक प्रतीक वैदिक शब्द नहीं कहे जा सकते?

यह अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि महाभाष्य के प्रकृत प्रसङ्ग में लौकिक शब्द 'गौः, अश्वः, हस्ती' आदि का उदाहरण प्रस्तुत करने के अनन्तर वैदिक शब्दों का ही उदाहरण प्रस्तुत करना अपेक्षित था। पर वेद में आनुपूर्वी का नियम होने से एक शब्दमात्र का उदाहरण असम्भव था। अतः "शन्नो देवीरभिष्टये" "इषे त्वोर्ज्जे त्वा" आदि वैदिक शब्दों को नहीं, वैदिक-वाक्यों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है।

Scanned by CamScanner

"उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावः" इस न्याय के अनुसार "इषे त्वोर्जेत्वा" आदि तीन वैदिक-वाक्य यदि ऋग्, यजुः, साम के प्रारम्भिक मन्त्र के ही हैं', तो "शन्नो देवीरभिष्टये" यह वाक्य अथर्ववेद के प्रारम्भिक मन्त्र का क्यों न माना जाय? महाभाष्यकार को पैप्पलाद शाखा वेदरूप में मान्य नहीं है, अतः 'शन्नो देवीरभिष्टये' यह वैदिक-वाक्य अथर्ववेद के प्रारम्भिक मन्त्र का नहीं है, यह तो कहा नहीं जा सकता। क्योंकि पीछे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सिद्ध किया जा चुका है कि महाभाष्यकार को पैप्पलाद शाखा वेदरूप में मान्य है।

गोपथ-ब्राह्मण के सम्बन्ध में आर्यसमाजी लोग जो उत्तराभास देते हैं, वह तो अत्यन्त हास्यास्पद है। वे कहते हैं कि "गोपथ-ब्राह्मण में "शन्नो देवी" से अथर्ववेद का आरम्भ उसके प्पलाद शाखा का ब्राह्मण होने या किसी अवान्तर शाखा का पाठ होने से है, ऐसा ही मानना पड़ेगा।" इस उत्तराभास का अर्थ तो यही है कि चूंकि गोपथ-ब्राह्मण पैप्पलाद शाखा का है, अतः उसने अवेद पैप्पलाद शाखा को वेद बनाकर उसकी तरफदारी की है? अपने अपसिद्धान्त को सिद्ध करने का दुराग्रहवश सम्प्रदायाविच्छेद विशिष्ट अस्मर्यमाणकर्तृकत्व होने से सर्वथा अपौरुषेय गोपथ-ब्राह्मण को पक्ष-पक्षपात के कलङ्क से कलङ्कित करना क्या किसी तत्त्व जिज्ञासु को शोभा देता है? यहाँ पूछा जा सकता है कि अथर्ववेद के कितने ब्राह्मण हैं? यदि गोपथ-ब्राह्मण केवल पैप्पलाद शाखा का है, तो समाजियों के वेदरूप में मान्य अथर्ववेदीय शौनकी शाखा का कौन-सा ब्राह्मण है?

Scanned by CamScanner

उपर्युक्त उत्तर के प्रसङ्ग में जो यह कहा गया है कि "या किसी अवान्तर शाखा का आरम्भिक पाठ होने से है" उसका क्या तात्पर्य है? 'शन्नो देवी' जिस अवान्तर शाखा का प्रारम्भिक पाठ है, वह शाखा अथर्ववेद की ही तो होगी, क्योंकि गोपथ-ब्राह्मण में अथर्ववेद का ही नामतः निर्देशकर 'शन्नो देवी' को उसका प्रारम्भिक पाठ बतलाया गया है। इस कारण वह अवान्तर शाखा अथर्ववेदरूप में ही मान्य होगी। फिर भी उसे अथर्ववेदरूप में मान्य शौनकी शाखा ही तो कहा नहीं जा सकता? क्योंकि शौनकी शाखा के आरम्भ में "शन्नो देवी" पठित नहीं है। तब क्या चार मन्त्रसंहिताओं के अतिरिक्त पाँचवी किसी और पुस्तक को भी अब वेदरूप में मान्यता दी जा रही है? यदि ऐसा ही है, तब तो जिज्ञासु होना किसी रूप में अवश्य सफल है।

श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने "शाखा वेदव्याख्यान है" इस पक्ष का खण्डन करते हुए जो लिखा है, वह सर्वथा प्रामाणिक एवं युक्तियुक्त ही है। "तदुहैकेऽन्वाहुः, होता यो विश्ववेदस इति" आदि शतपथ को उद्धृतकर यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि "शाखाएँ जितनी हैं, वे सब मनुष्यप्रोक्त वा मनुष्य-सम्बन्ध से युक्त हैं और कोई ऋक्पाठ ऐसा है, जिसमें मनुष्य का कोई सम्बन्ध नहीं, वही मनुष्यसम्बन्ध से रहित मूल वेद है।" क्योंकि पीछे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस शतपथ में मनुष्यबुद्धिप्रभवतया जिस "होता यो विश्ववेदसः" वाक्य का निषेध किया गया है, वह किसी शाखा का है ही

Scanned by CamScanner

नहीं। उसके निषेध का तात्पर्य यही है कि "मन्त्रों में स्वाभिलषित प्रार्थना आदि के प्रकाशन के लिए भी वैदिक शब्दों में परिवर्तन आदि कदापि नहीं करना चाहिए।"

जिस भाष्य को उद्धृतकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि "होता यो विश्ववेदसः" यह शाखान्तर का पाठ मानुष है, उस भाष्य में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है, जो 'होता यो विश्ववेदसः' इस पाठ को शाखान्तर का सिद्ध करता हो।

श्रीहरिस्वामी ने जो "तच्छाखानामपि" कहकर वेदों की शाखा ऐसा कहा है, उतने मात्र से अपौरुषेय वेद से अतिरिक्त शाखा का अस्तित्व सिद्ध करना भ्रान्ति ही है। "राहोः शिरः" के समान ऐसा प्रयोग सम्भव है। साथ ही समुदाय के एकदेश में समुदाय-सम्बन्धिता का व्यवहार होता ही है। जैसे 'पटस्य तन्तवः' है, वैसे ही 'वेदों की शाखा' यह व्यवहार हो, तो भी इतने मात्र से वेदों से पृथक् शाखा का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसी प्रसङ्ग से "ऐसी संहिता भी है, जिसका 'शाखा' शब्द से व्यवहार होता है" यह सिद्ध करते हुए कहा जाता है कि "शाखाशब्द के व्यवहार में दो कारण हैं—एक तो पाठभेदादि करके जो अपूर्व प्रवचन किया जाता है, वह शाखा का रूप-धारण कर लेता है। जैसे—तैत्तिरीय-संहिता, आदि। दूसरा शाखाशब्द का व्यवहार, मूलग्रन्थों में बिना किसी परिवर्तन या परिवर्धन के उसके पदपाठ कर देनेमात्र से ही पदकार

Scanned by CamScanner

का नाम उस संहिता के साथ संयुक्त हो जाता है, आदि।" किन्तु यह भी कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि शाखाशब्द से व्यवहार होने में पाठभेदादि करके अपूर्व प्रवचन को कारण मानना सर्वथा अप्रामाणिक है। शाखाशब्द वेदैकदेशमात्र में प्रयुक्त होता है। इतना अवश्य है कि जिस शब्दराशिमय वेद का केवल पद ही नहीं, अपितु अष्टविकृतिरूप में प्रवचनातिशय जिस पुरुष द्वारा हो जाता है, उस शब्दराशिमय वेद की उस पुरुषविशेष के नाम से प्रसिद्धि हो जाती है। जैसे—काठक, शाकल, शौनक आदि। ऐसी स्थिति में यह कभी भी नहीं सिद्ध किया जा सकता कि मूल वेद से अतिरिक्त कोई शाखा है।

कुछ लोग 'सर्वशाखाप्रत्ययैक-कर्मताधिकरण' के "कृतकं चाभिधानम्" (२।४।१२) इस जैमिनीय सूत्र द्वारा काठक आदि शाखाओं को मनुष्यकृत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। पर वह केवल भ्रममात्र है। वस्तुस्थिति यह है कि इस अधिकरण का विषय सभी शाखाएँ अर्थात् अन्य शाखाओं के अतिरिक्त समाजियों को वेदरूप में अभिप्रेत शाकली, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी ये चार शाखाएँ भी हैं। 'अध्वर-मीमांसा-कुतूहलवृत्ति'-कार 'जैमिनिसूत्रवृत्ति' (सुबोधिनी)-कार और "जैमिनीय-न्यायमाला-विस्तरकार' में स्पष्ट ही शाकल, माध्यन्दिन, कौथुम-शाखा का भी नामतः निर्देश किया है। इस अधिकरण में 'प्रति-शाखा भिन्न कर्म है या एक ही ?' ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष में नामविशेष, रूपविशेष, धर्मविशेष, पुनरुक्ति आदि कारणों से

प्रतिशाखा कर्म की भिन्नता सिद्धकर उत्तर पक्ष में प्रतिशाखा कर्म की एकता सिद्ध की गयी है और कर्म के भिन्न होने में जितने भी कारण हैं, उनका निरास किया गया है। इसी प्रसङ्ग में काठक, कालापक, शाकल, कौथुम, माध्यन्दिन आदि नामभेद से कर्मभेद की प्रसक्ति का वारण "कृतकं चाभिधानम्" इस सूत्र से करते हुए महर्षि जैमिनि ने इतना ही कहा है कि 'काठकम्' आदि तत्-तत् ग्रन्थों की प्रवचननिमित्तक समाख्याएँ हैं, अतएव वे अनित्य हैं। अतः इनके आधार पर कर्म भिन्न नहीं हो सकते।

इससे समाख्या का अनित्यत्व सिद्ध हुआ, पर इन समाख्याओं से समाख्यात, शब्दराशिमय शाखाओं का अनित्यत्व या मनुष्यकृतत्व कदापि नहीं सिद्ध होता। ऐसी स्थिति में जब शब्दराशिमय शाखाएँ नित्य और अनादि हैं और उनसे प्रतिपाद्य कर्म भी अनादि हैं, तो शाखाओं में अनित्यत्व, मनुष्यकृतत्व का दोष लगाना सर्वथा मिथ्या है। अन्यथा इस अधिकरण द्वारा सभी शाखाओं के कर्मों का एकता-प्रतिपादन ही व्यर्थ होगा। क्योंकि यदि तत्-तत् अनित्य समाख्याओं से समाख्यात शाखाएँ भी अनित्य एवं मनुष्यकृत हैं। अतएव उनमें विहित कर्म भी मनुष्यबुद्धिप्रभव होने से अप्रामाणिक ही हैं। अतः अपौरुषेय वेदप्रतिपाद्य कर्मकलापविषयक विचार में प्रवृत्त जैमिनि अपने अधिकरण द्वारा पौरुषेय, मनुष्य-सुलभ दोषदूषित ग्रन्थ में प्रतिपाद्य, अतएव अनुष्ठेय कर्मकलाप की ऐक्यता का विचार क्यों करते ?

Scanned by CamScanner

इस तरह समाख्या के प्रवचन-निमित्तक होने से अनित्य होने पर भी शाखा की नित्यता एवं कर्म की अनादिता अक्षुण्ण रहने से जब कठ, कलाप आदि शाखाएँ सदा हैं, उनमें प्रतिपाद्य कर्म अनादि हैं, तब उन शाखाओं की समाख्या भी सदा ही रहेगी। भले ही वह प्रवचन-निमित्तक होने से अनित्य हो, पर प्रवचन का प्रवाह एकरूप में अविच्छिन्न-परम्परया चलते रहने से प्रवचन-निमित्तक समाख्या में प्रवाहानादित्व स्वतः सिद्ध है। साथ ही कठत्व, कलापत्व आदि जातियों के नित्य होने से या कठ, कलाप आदि प्रवचनकर्तृत्वरूप पद पर अधिष्ठित पुरुषविशेष का नाम होने से समाख्याओं का नित्यत्व भी अक्षुण्ण है।

इस ढङ्ग के सुलझे हुए दृष्टिकोण के अनुसार किसी भी प्रकार का असमञ्जस उपस्थित नहीं होता। प्रवाहानादित्व की मखौल उड़ाने में अपनी बुद्धि लगाना सर्वथा अज्ञता ही है। क्योंकि प्रवाहानादित्य का तात्पर्य यह है कि तत्-तत् अधिकारविशेष में अधिकृत लोग और सृष्टि, स्थित एवं लय में असाधारण उपयोगी प्राकृतिक स्थिति का प्रवाहानादित्व होता है। समान घटनाओं का प्रवाहानादित्व तो कदाचित् सम्भव है।

यदि आग्रहग्रहिल होकर कोई यह आपत्ति उठाये कि 'समाख्याएँ अनित्य हैं। अतः उन समाख्याओं से समाख्यात ग्रन्थ भी अनित्य एवं मनुष्यकृत हैं', तो यही आपत्ति समाजियों द्वारा वेदरूप में अभिप्रेत शाकल, माध्यन्दिनी, कौथुक, शौनक आदि समाख्याओं से समाख्यात शाखाओं के विषय में भी उठेगी।

Scanned by CamScanner

उसका क्या समाधान होगा ? इसलिए आग्रह छोड़कर उपर्युक्त तथ्य समझना चाहिए।

आर्यसमाजी लोग कहते हैं कि "पौर्वापर्य के विचार से यह अवश्य प्रतिभासित होता है कि शबरकाल में यज्ञप्रक्रिया का इतना बोलबाला था कि उन्होंने 'वेद', जिसका अर्थ ही ज्ञान होता है, को सर्वथा ज्ञानपरक न मानकर एकात्मक यज्ञकर्म-परक अर्थात् यज्ञ का अङ्ग बतला दिया, जिसके कारण श्री-स्वामी दयानन्द को वेद को विद्याओं की पुस्तक लिखना पड़ा।" परन्तु यह सब कहना निराधार है। वेद विद्याओं की पुस्तक इसलिए है कि उनसे विद्याएँ अर्थात् विविध ज्ञान उत्पन्न होते हैं। वेद भी प्रमाण हैं। प्रमाण प्रमा का जनक होता है। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने भी पुराणादि वेदान्तशास्त्रों को 'विद्या-स्थान' कहा है। यज्ञ-विद्या भी विद्या ही है। अतः यज्ञपरक होने से वेदों से विद्यापुस्तकत्व का अपनोदन नहीं हो सकता। आर्य-समाजी भी श्रेष्ठतम कर्म को यज्ञ मानते ही हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक आर्यसमाजियों ने यज्ञ को 'शतपथ' का प्रतिपाद्य माना है। शतपथ को मन्त्रसंहिता का व्याख्यान पहले से ही मान रखा है। फिर तो वेद का यज्ञपरक होना वस्तुस्थिति ही है। शबरकाल की ही बात क्यों ? सदा से सभी आस्तिकों को ही नहीं, स्वयं भगवान् कृष्ण को भी यही मान्य है। वेद ज्ञानरूप हैं, यह कहना तो नितान्त भ्रम है।

वस्तुतः आर्यसमाजी लोग शास्त्राध्ययन में प्रयत्न न करके ऊटपटांग कुचोद्य करने में लगे रहते हैं। इसीलिए

Scanned by CamScanner

शास्त्र की सीधी-सी बात भी उन लोगों की समझ में नहीं आती।

आधुनिक आर्यसमाजी लिखा करते हैं कि 'यज्ञकार्य करने के लिए शबरस्वामी ब्राह्मणभाग की वेदसंज्ञा करते हैं।' किन्तु यदि यज्ञ वैदिक नहीं था, तो उसके लिए झूठी संज्ञा उन्होंने क्यों स्वीकार की? क्या मन्त्रों के बल पर वैदिक कार्य नहीं हो सकते थे? यदि उन्होंने 'ब्राह्मण' के वेद न होने पर भी उसकी झूठी वेदसंज्ञा स्वीकार की, तो क्या वे आप्त कहे जा सकते हैं? यह तो समाजियों की ही विशेषता हो सकती है कि जिसे स्वयं प्रमाण मानते हैं, उसीको झूठा भी कहते हैं। इसीलिए तो कई समाजियों ने श्रीस्वामी दयानन्द के विषय में भी कहा है कि 'स्वामीजी ने भाँग पीकर अमुक-अमुक अंश लिख दिया था।' यही कारण है कि 'सत्यार्थ-प्रकाश' में अनेक बार उलट-फेर किया गया। पुराने संस्करणों और आज के संस्करणों में आकाश-पाताल का अन्तर आ गया है।

आर्यसमाजी कहते हैं कि 'महर्षि वाल्मीकि के द्वारा सीता के लिए वेद-श्रुति की उपमा देना वेद की दुर्दशा का कारण है।' पर ऐसा नहीं, बल्कि वेद की दुर्दशा का कारण समाजियों की दुर्बुद्धि ही है।

आधुनिक आर्यसमाजी लोग कहते हैं कि "विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' इस पारस्करगृह्यसूत्र का हमारे सिद्धान्त पर असर नहीं पड़ता।" पर जब इस सूत्र से विधि अर्थात् ब्राह्मण की

Scanned by CamScanner

वेदसंज्ञा बतलायी जा रही है, तो 'ब्राह्मण' को वेद न मानने के सिद्धान्त पर इस सूत्र का असर क्यों न पड़ेगा? यदि इस ढङ्ग के सूत्र ही उन लोगों को मान्य नहीं हैं, तो सिर पर शिखा और कन्धे पर जनेऊ किस बल पर टिकेंगे? किस बल पर विवाह होंगे? अन्त्येष्टि कैसे होगी? किस बल पर आर्यसमाजियों के यहाँ नामकरण आदि होंगे? क्या ये सब वेदनाम से अभिमत उनकी चार पुस्तकमात्र में ही विहित हैं? "संस्कार-विधि" में किन ग्रंथों के आधार पर यह सब लिखा है, यह अच्छी प्रकार देख लेना चाहिए।

इस तरह समाजियों द्वारा ब्राह्मणभाग के वेदत्व के विषय में जो भी नित्य-नये आक्षेप किये जाते हैं, उन सबका उपर्युक्त विवेचन से भलीभाँति समाधान हो सकता है। व्यर्थ में निबन्ध का कलेवर बढ़ाना ठीक नहीं। अन्त में अभियुक्तों के शब्दों में यही कहकर यह ग्रन्थ पूर्ण किया जाता है—

"मन्त्रब्राह्मणयोश्चैव वेदत्वं यदकृत्रिमम्।
तदेव व्यञ्जितं सुज्ञैर्दुर्मतेरवधीरणात्॥"

Scanned by CamScanner

परिशिष्ट

थीबो साहब का शास्त्रार्थ-निर्णय

आर्यसमाज के संस्थापक श्रीस्वामी दयानन्दजी और उस समय के काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् नागरिक राजा श्रीशिवप्रसादजी 'सितारे हिन्द' के बीच 'ब्राह्मणभाग के वेदत्व' पर लेखबद्ध शास्त्रार्थ हुआ था। इस शास्त्रार्थ के निर्णायक गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, काशी के तत्कालीन प्रिंसिपल, संस्कृत के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मिस्टर जी० थीबो साहब थे। उनके निर्णय का मूल अंग्रेजीरूप हिन्दी अनुवाद के साथ यहाँ दिया जा रहा है—

The question at issue between Raja Shivaprasad and Dayanand Sarasvati is the authoritativeness of the several parts of what is commonly comprised under the name 'Veda'. Dayanand Sarswati rejects the Brahmanas and Upanishadas (with one exception) and acknowledges the authority of the Samhitas only. As this procedure is not in agreement with the religious belief of the Hindus of the Present day as well as of past ages of which we have records, Dayanand Saraswati is bound to

Scanned by CamScanner

Produce convincing proofs for the validity of the distinction he makes. He mentions that the Samhitas are ईश्वरोक्त while. The Brahmans and Upanishadas are merely जीवोक्त. But how does he prove this assertion ? (for as it stands it cannot be called anything but a mere assertion). The assertion of the Samhitas being स्वतः प्रमाण while the Brahmanas and and Upanishadas are merely परतः प्रमाण can likewise not be admitted before it is supported by arguments stronger than those which Dayanand. Saraswati has brought forward up to the present. Raja Shivaprasad is right to ask "why should not both be स्वतः प्रमाण if one is so ?" or again "why should not both be परतः प्रमाण if one is so ?" and this reasoning could certainly not be employed by any one for proving that other non-vedic books as well are to be considered equal to the Veda ; for the Veda alone (including Brahamanas and Upanishadas) enjoys the privilege of having-since immemorial times been acknowledged by Hindus as sacred and revealed books.

With regard to the passage quoted by Daya-

Scanned by CamScanner

nand Saraswati from the Satapatha Brahmana (Brihadaranyak Upanishad) it must be admitted that the objection of Raja Sivaprasad is well-fou-ded; if one part of the passage is authoritative, the other part is so likewise. The assertion whether the whole passage is a वाक्य or a वाक्यसमूह is wholly irrelevant to the point at issue.

Dayanaud Saraswati has certeinly no right to declare the passege from Katyayana - according to which the veda consists of Mantra and Brahman an interpolation. Acting in this way any body might declare any passage contrary to this preconceived opinions an interpolation.

Dayanand Saraswati rejects the authority of the Brahmanas. How then does he prepare to deal with Brahmana portions of the Taittiriya Samhita, which in character no wise differ from other Brah-manas, like the Satapatha, Panchavimsa, etc. And on the other hand does he reject all the mantras contained in the Taittiriya Brahmana ?

—G. THIBAUT

Scanned by CamScanner

राजा शिवप्रसाद और श्रीदयानन्द सरस्वती के बीच विचारणीय विषय हैं, कुछ ऐसे भागों को प्रामाणिकता, जो सामान्यतया 'वेद' संज्ञान्तर्गत समझे जाते हैं।

श्रीदयानन्द सरस्वती ब्राह्मणों एवं (एक अपवाद छोड़कर) उपनिषदों को अस्वीकृत करते हैं और केवल संहिताओं का ही प्रामाण्य मानते हैं। अतः यह पद्धति वर्तमान काल के तथा जहाँतक के प्रमाण हमें प्राप्त हैं, वहाँतक अतीतकाल के भी हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास से असंगत है। अतः श्रीदयानन्द सरस्वती इस स्वकृत भेद की यथार्थता सिद्ध करने के लिए संतोषजनक प्रमाण उपस्थित करने को बाधित हैं। उनका कहना है कि संहिताएँ 'ईश्वरोक्त' हैं, जब कि ब्राह्मण और उपनिषदें केवल 'जीवोक्त' हैं। किन्तु वे अपनी यह उक्ति सिद्ध कैसे करते हैं, क्योंकि स्थिति देखते हुए उसे केवल 'उक्ति' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा सकता। वैसे ही 'संहिताएँ स्वतः प्रमाण हैं और ब्राह्मण तथा उपनिषदें परतः प्रमाण' यह उक्ति (फतवा) भी तबतक स्वीकार नहीं की जा सकती, जबतक कि श्रीदयानन्द सरस्वती की अबतक की युक्तियों से प्रबलतर युक्तियों का आधार नहीं लिया जाता।

राजा शिवप्रसाद बिल्कुल ठीक पूछते हैं कि "यदि एक 'स्वतः प्रमाण' हैं, तो दोनों क्यों नहीं?" या "फिर यदि एक परतः प्रमाण हैं, तो दोनों ही क्यों नहीं?" अवश्य ही अन्य वेदेतर ग्रन्थों को वेद के समान मनवाने के लिए यह तर्क कोई नहीं दे सकता, क्योंकि अकेले वेदों को ही (ब्राह्मणों एवं उपनि-

Scanned by CamScanner

षदों सहित) अनादि काल से हिन्दुओं द्वारा पवित्र एवं अपौरुषेय ग्रन्थ के रूप में सम्मानित होने का गौरव मिला हुआ है।

श्रीदयानन्द सरस्वती द्वारा शतपथ ब्राह्मण (बृहदारण्यकोपनिषद्) से उद्धृत अवतरण के सम्बन्ध में यह मानना ही होगा कि राजा शिवप्रसाद की आपत्ति दृढमूल है। यदि अवतरण का एक अंश प्रमाण है, तो दूसरा भी प्रमाण है ही। पूरे अवतरण के एकवाक्य या वाक्यसमूह होने की उक्ति प्रकृत प्रसङ्ग से पूर्णतया असम्बद्ध है।

मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद बतानेवाला कात्यायन-वचन प्रक्षेप घोषित करने का श्रीदयानन्द सरस्वती को निश्चय ही कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार चलकर तो कोई भी व्यक्ति अपनी पूर्वकल्पित मति के विरुद्ध पड़नेवाले किसी भी वचन को प्रक्षिप्त घोषित कर सकता है।

श्रीदयानन्द सरस्वती ब्राह्मणों के प्रामाण्य को अस्वीकृत करते हैं। तब फिर वे तैत्तिरीय-संहिता के ब्राह्मणभाग को मान लेने के लिए कैसे तैयार हो जाते हैं, जिसका स्वरूप शतपथ, पञ्चविंश आदि इतर ब्राह्मणों से कथमपि भिन्न नहीं है? दूसरी ओर तैत्तिरीय ब्राह्मण में आये हुए सारे मन्त्रों को भी क्या वे अस्वीकृत करते हैं?

—(ह०) जी० थीबो।

Scanned by CamScanner

Scanned by CamScanner

वेद का स्वरूप और प्रामाण्य के प्रथम भाग का

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
(पात० १)	समाध	समाज	५०	तैज	तैजस
(,,)	राय	रख	५४	कि	×
१३	में	की	६०	डक्त	युक्त
२२	तिल	तिक्त	६१	अस्मरण	स्मरण
२३	विकाश	विकास	७१	अनवोदित	अनपोदित
२८	विदन्ति	विन्दन्त	७२	,,	,,
२९	दो	हो	७८	वेष	दोष
३३	वदाका अपा-रुषेयता	वेदोंकी अपौरुषेयता	७९	भ्रमात्मज	भ्रमात्मक
			,,	पूर्वज्ञानजा	पूर्वज्ञान का
३९	एकऽपि	एकोऽपि	८०	ज्ञान न तो	ज्ञान तो
४१	पर्याप्तः	सुपर्याप्तः	९०	पर	तो भी
,,	पर्यवेदने	पदवेदने	,,	है यद्यपि	है कि यद्यपि
,,	उन्होंने	वहाँ	९५	ग्रमाण	प्रमाण
४३	आस्तिन्कता	आस्तिकता	१०७	सम्बन्धि	सम्बन्धी
४४	भगवद्वीप	भगवद्रूप	१०९	न गुण होने	गुण न होने
,,	भ्रम	श्रम	११३	कथश्चित्	कथञ्चित्
४७	कर स्वीकार	स्वीकार	,,	धर्मात्वादि	धर्मत्वादि
	लिया	कर लिया	१२३	ध्रुवाः	ध्रुवा
४८	एकभा भवन	एकत्रीभवन	१२४	नित्यता	नित्यया

Scanned by CamScanner

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
१२५	भ्रमौ	भ्रम
१३३	वेदासृजत्	वेदानसृजत्
१३४	प्रजाति	प्रजापति
१४२	अन्तरार्थ	अक्षरार्थ
,,	तैरौत्तिरीयक	तैत्तिरीयक
,,	शाख	शाखा
१४३	समख्या	समाख्या
१४६	प्रभावात्	प्रभवात्
१४९	अस्मर	स्मरण
,,	पुरुषोच्चारियनो	पुरुषोच्चरित
१५६	उत्पत्त	उत्पत्ति
१५९	वाचा विरूप-नित्यता	वाचा विरूप-नित्यया
१६०	अनीन्द्रिय	अतीन्द्रिय
१६२	दुषष	दूषण
१६७	मस्य	मभ्य
१६८	अनुपादो-पत्तेश्च	अनुवादो-पपत्तेश्च
१७८	अथर्वभेद वेद	अथर्व वेद
१८१	रोदित्	रोदीत्
१८३	उपादन	उपादान
२९७	निककता	निष्कलता

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
२०३	विद्या	विद्यया
२०५	उरू	उरु
२११	लिङांश	लिङंश
,,	दै	है
२१२	लिङ्गादि	लिङादि
२१४	प्रमाणानन्तर	प्रमाणान्तर
२२२	इष्टसाध्यनाता-रूप	इष्टसाधनता-रूप
,,	सम्बन्धन	सम्बन्ध
२३२	आक्षा	आज्ञा
२३२	ही सिद्ध	सिद्ध ही
२३५	पिघला	पिछला
२४०	वाक्य भी	वाक्य का भी
२४२	भीष्ट	धीष्ट
२५३	रात्रि	रात्री
२५४	वाय	वायव्यम्
२५६	प्रसंशा	प्रशंसा
,,	नालभेत	मालभेत
,,	स्थिति दोनों	स्थिति में दोनों
२५८	देना	देता
२६०	दितत्प्रशंसितुम्	दितरत्प्रशंसितुम्

Scanned by CamScanner

पृष्ठ	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६२	लिङ्गादि	लिङादि	२६९	प्रायणीश्चरु	प्रायणीयश्चरु
,,	थद्चा	यद् ऋचा	२७०	स्येश्वर	स्येश्वर
२६५	वेसस्	वेतस	२७१	प्रायेनैव	प्रायेणैव
,,	ररजत	रजत	२७२	तदनन्त ही	तदनन्तर ही
२६८	योगसद्ध	योगसिद्ध	२७३	प्रवृणमाणे	प्रवृयमाणे

Scanned by CamScanner

Scanned by CamScanner

वेद का स्वरूप और प्रामाण्य के द्वितीय भाग का

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
१	ऊरू	उरु
२	माच्छेत्	मार्च्छेत्
,,	ऊरू	उरु
३	,,	,,
४	,,	,,
११	,,	,,
,,	,,	,,
१३	वह	नहीं चाहिए।
१३		तो के आगे 'वह'।
१४	जर्भही	जर्भरी
,,	तुर्फरीत्	तुर्फरीतू
,,	अभ्यकसात्	अभ्यकसात्
१५	ब्राह्मणो न	ब्राह्मणेन
२२	नष्ट ही	नष्ट हो
	जाती है।	जाती है।
२३	ये ा माख्यात	येषामाख्यात
२४	रारासा	राधसा
२६	यजुमन्त्र	यजुर्मन्त्र
३२	नौ	नव

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
,,	महादिवाकीर्त्थम्	महादिवाकीर्त्यम्
३५	ऊरू	उरु
३७	बीहान्	व्रीहीन्
४०	पर ब्रह्म	परब्रह्म
४२	जरायव जरं	जरायवजरं
४३	सनेम्यभ्वं	सनेम्यश्वं
४३	अस्माकम् =	अस्माकम्,
	पुराणम्।	सनेमि =
		पुराणम्
४४	अशक्ति	अशक्ति
,,	सादितादि	सादिता आदि
४५	वातिकार	वातिककार
,,	प्रार्थयता	प्रार्थयिता
४६	ऊरू	उरु
४८	(छन्दो) बद्ध	(छन्दोबद्ध)
४८	(२।१।३३)	(२।१।३३ जै०)
,,	जै० मन्त्र	मन्त्र
,,	इस	उक्त
४९	× इन्दवो वामुशान्ति हि	

Scanned by CamScanner

पृ०	अशुद्ध	शुद्ध
,,	ददिति	दददिति
५०	नाय	नात्
५३	हवीषि	हवींषि
५३	(२७)	(मनु० ४,१००)
६१	मुक्ति	भुक्तिको
७६	पुराणश्च	पुराणस्य
,,	अप्रामाण्य को	अप्रामाण्य की ।
८२	लक्षण कहता	लक्षण कहना
८५	नहीं जा	नहीं जाता ।
८९	एकविंशतिका	एकविंशतिधा
९०	पदवाक्य	पदवाच्य
१००	विचारणीर्य	विचारणीय
१०२	ऋत्रिभिर्वेद	ऋषिभिर्वेद
१०५	आध्यन्दिन	माध्यन्दिन
१०६	और र अनुदात्त	और अनुदात्त
१०७	प्रतिज्ञापरिशिष्ट	प्रतिज्ञा-परिशिष्ट
,,	मूधन्य	मूर्धन्य
,,	कीन ही	की नहीं
१०८	कुताकिकों	कुतार्किको
११२	उसक	उसके
१२३	ब्राह्मणान्येन	ब्राह्मणान्येव

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
१२८	अग	अंग
१२८	सिद्धम् ।	सिद्धम्" ।
,,	वेदनामधेयम्	वेदनामधेयम्
१३३	प्रभवत्वात्	प्रभवात्
१३५	काण्वसंहिता	काण्वसंहिता में
१३८	इत्यादि	इत्यादि,
१३८	वैल्व,	वैल्वः
१४१	˘	•
१४९	^	६
१५६	राजापण्डित	राजपण्डित
१६३	देख ही	दिखा ही
१६३	जतिधिकारः,	जाताधिकारः
१६३	यजुर्वेदन	यजुर्वेदेन
१६३	सामवेदन	सामवेदेन
१६३	वेदैऽशू	वेदैरशू
१६५	अग्रे	अग्ने
१७०	मन्त्रभाग	मन्त्रमात्र
१७०	याहाँ	यहाँ
१७२	(२।२८४)	(३।२८४)
१७५	पुरुषों की	पुरुषों को
१७८	ऊरू प्रथस्व	उरु प्रथस्व
१८४	सिम्	सिद्धम्
१८७	अखयातों	आख्यातों

Scanned by CamScanner

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
१८९	'यजेत्'	"यजेत"
१९६	सन्निदृष्टकाण	सन्निकृष्टकाल
,,	दर्शनाञ्च	दर्शनाच
,,	सन्निदृष्टकाण	सन्निकृष्टकाल
१९७	वृस	वृत
१९९	सत्रों	सूत्रों
२०२	कारण	वारण
२०४	सर्वं तथं	सर्वं तदर्थं
,,	उद्भिद्ज	उद्भिद्
२०६	श्रत	श्रुत
२०५	क्रौर्प	क्रौर्य
२०७	युर्क्त	युक्त
,,	पदाभिधेद	पदाभिधेय
२०८	ऐन्द्रया	ऐन्द्रया
२११	(३।४।२२)	(३।४।२८)
,,	(३।४।२८)	(३।४।३४)
२१३	पाशान	पाशान्
२१८	त्विजै	त्विग्भि
२१८	ष्णाषित्व	ष्णिषत्व
२२६	लक्षाध्यायी	लक्ष्याध्यायी
,,	,,	,,
२२९	कारणों····	कारणों से

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
२३१	और चना जिसकी रहोती है	और रचना जिसकी होती है
२३२	उनमें	उनके
,,	रही गयी	रह गयी
,,	हुआ किन्तु	हुआ नहीं, किन्तु है
२३५	पारस्पर्ययुक्त	पारम्पर्ययुक्त
२३६	दम्भ लाभ	दम्भ-लोभ
२३७	कर्ता का दान भी मान से	कर्त्ता को दान और उसका मान से
२३९	सिद्धाँत	सिद्धान्त
२४०	पदेश	उपदेश
,,	ब्राह्मा में	ब्रह्मा ने
,,	अपने सन्तान	अपनी सन्तान
,,	सर्वबान्धओं	सर्वबान्धवों
,,	यावञ्जीव	यावज्जीव
२४१	वैसे ही····यज्ञादि	वैसे ही 'परलोक आत्मशान्ति के लिए यज्ञादि
२४५	मात्र	मन्त्र
,,	आख्यादिका	आख्यायिका
,,	,,	,,

Scanned by CamScanner

पृ०	अशुद्ध	शुद्ध
२४५	आख्यादिका	आख्यायिका
२४६	,,	,,
२४७	वेदाक्त	वेदोक्त
२४८	इसमें अतिरिक्त	इसके अतिरिक्त
२५६	व्यक्तियो···	व्यक्तियों में
,,	शाकल्यत्वादियों	शाकल्यत्वादि
	जाति	जातियों
२५८	पुरूरखा	पुरूरवा
,,	नहीं होती।	नहीं होतीं।
	लोक में	परलोक में
२५९	आख्यादिकाएँ	आख्यायिकाएँ
२६०	'तो भूतार्थवाद'···	(यह अंश विचारणीय है।)
२६३	'लट'	'लट्'
२७०	"वर्तमाने लत्"	"वर्तमाने लट्"
२७२	प्रलयों	प्रलय
,,	प्रातिशाखा	प्रातिशाख्य
२७३	छन्दशब्द	छन्दःशब्द
२८४	विरोधदव्यक्त	विरोधाद-व्यक्तः शेषः
२८६	पशुमालयेत	पशुमालभेत

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
२९४	द्वार	द्वारा
२९६	'सामि' का का	'सामि' का
,,	निर्वाय	निर्वाप
३०५	'श्रयते'	श्रूयते
३०५	स्यादथस्य	स्यादर्थस्य
३१५	न होने	न होने से
,,	भागस्य	भागस्थ
३१६	सूत्रों से अतिरिक्त	सूत्रों के अतिरिक्त
,,	करना जडता	कहना जडता
३१९	कल्पना····पड़ेगी	कल्पना करनी पड़ेगी
,,	यजेत्	यजेत
३२०	पूर्वाक्त	पूर्वोक्त
३२१	व्रीही	व्रीहि
३३६	उपन्यासा करना	उपन्यास करना
३४६	संवाद की	संवाद भी
३४८	रूपकों···	रूपकों का
३४९	अन्धविश्वासस्पद	अन्धविश्वासास्पद
३५०	अर्थों को बोधिका	अर्थों की बोधिका
,,	समाजियों····विचार से	समाजियों के विचार से

Scanned by CamScanner

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
३५१	त्रिपाद्धर्व उदैत्पुरुषः	त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः
३५६	किया हो	किया है
,,	जीर्णि	जीर्णम्
,,	शपान	शयान
,,	त्रिभिरायुभि	त्रिभिरायुर्भि
३६८	ब्रामणोऽग्नीनादधीतः	ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत
,,	न मुपदीक्ष्य	तमुपदीक्ष्य
३७३	लक्षण	लक्षणा
३७७	आख्यायिका	आख्यायिका को

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
३८४	बातोक	बातों के
३८७	को	का
३८८	वस्त्वनन्तर	वस्त्वन्तर
४००	एतहि	एतहि
४०६	पोप्त	प्रोक्त
४१०	अनियतत्व	नियतत्व
४१३	निमित	निर्मित
४१४	स्वातन्त्र	स्वातन्त्र्य
४१५	उच्चायिताओं	उच्चारयिताओं
४१६	प्रवाहातिच्छेदेन	प्रवाहाविच्छेदेन

Scanned by CamScanner

पु०
२४

Scanned by CamScanner

Scanned by CamScanner

स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा लिखित ग्रंथ

१—भगवत्तत्त्व ४॥)

२—हिन्दू कोड बिल : प्रमाण की कसौटी पर १॥)

३—संघर्ष और शान्ति १॥)

४—जाति, राष्ट्र और संस्कृति ॥)

५—गम्भीर विचार की आवश्यकता ॥)

६—अन्य राजनीतिक दल और रामराज्य-परिषद् ।)

७—वेद-प्रामाण्य-मीमांसा (संस्कृत) १)

८—मार्क्सवाद और रामराज्य ४)

९—शांकर-भाष्य पर आक्षेप और उनका समाधान (अप्राप्य)

१०—वर्णाश्रममर्यादा और संकीर्तन (अप्राप्य)

११—वेद का स्वरूप और प्रामाण्य (प्रथम भाग) ३)

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

आर्यभूषण प्रेस, ब्रह्माघाट, वाराणसी में मुद्रित

Scanned by CamScanner